मध्ययुगीन

भक्ति-साहित्य के सन्दर्भ में नाम-साधना

का

तात्त्विक विवेचन

(सम्वत् १४०० से १७०० वि० तक)

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिये प्रस्तुत)

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक

साहित्य वाचस्पति डा० राम कुमार वर्मा (पद्म भूषण)

प्रस्तुतकर्त्री

मालती तिवारी

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

१९७३

卐

कल्याणानां निधानं कलि मल मथनं पावनं पावनानां
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य ।
विश्रामस्थानमेकं कविवर वचसां जीवनं सज्जनानां
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये राम नाम ॥

प्राक्कथन

सृष्टि के उद्भव, स्थिति तथा संहार के कारण-रूप परमसत्ता जिसका अस्तित्व चराचर विश्व के अणु-अणु में व्याप्त है, जिसके रोम-रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड समाहित हैं तथा जो अनन्त, शाश्वत, अचिन्त्य एवम् अनिर्वचनीय है, का गुणानुवाद करने की सहज अभिलाषा मानव-मन में रही है। जिस प्रभु का नाम-माहात्म्य शुक-सनकादि तथा शेष-शारदा द्वारा भी वर्णनातीत है उसकी महिमा का गायन मानव की सीमित शक्ति के सर्वथा परे है। नाम-महिमा की इसी अनिर्वचनीयता का बोध कर तुलसी ने कहा है कि राम न सकहिं नाम गुन गाईं। तथापि उस परम रहस्यमय नामी की असीम महिमा की परिधि को स्पर्श करने की आकांक्षा साधकों में सृष्टि के आदि से ही मात्र इसी 'एक भरोसो एक बल एक आस विस्वास' पर रही है कि 'उलटा नाम' जपने से भी नाम-सोपान के सहारे उस परिधि का उद्घाटन करने में सम्भवत: किंचित् साहाय्य मिल सके। विभिन्न साधकों के इन साधना पुष्पों को एक प्रबन्ध-माला में गूंथने की बलवती इच्छा मेरे मन में प्रारम्भ से ही रही है और यही मूलकारण रहा है 'नाम-साधना का तात्त्विक विवेचन' के मेरे विषय-चयन करने का। अपनी सीमाओं का पूर्ण ज्ञान होने पर भी इस साहसिक यात्रा का निश्चय मैंने इसी विश्वास पर किया था कि 'राम-नाम की ओट' बड़ी है और 'भाउ कुभाउ अनख आलसहूँ' यत्न करने पर भी 'नाम' का अवलम्बन लेकर गन्तव्य तक पहुंच सकूंगी।

आधुनिक मनोविज्ञान तथा प्राचीन साधना पद्धति के साथ, एक बौद्धिक स्तर पर नाम-साधनाकी व्याख्या प्रस्तुत करने का यत्न किया गया है। साधना में अनुभूति-तत्व वर्तमान रहता है। प्रत्यक्ष अनुभव न होने या स्वल्प होने पर भी अनुभवी व्यक्तियों के द्वारा व्यक्त तत्त्वचिंतन तथा उसके स्वरूप का आकलन कठिन नहीं है, यह मानकर ही इस कार्य में मेरी प्रवृत्ति हुई है। मैं आरम्भ से ही इसकी कठिनाइयों, दुरूहताओं तथा अपनी सीमाओं के प्रति सजग रही हूं तथापि मन में एक दृढ़ विश्वास रहा है कि जिन जिज्ञासाओं को लेकर मैंने इस विषय को लिया और अध्ययन में प्रवृत्त हुई उनका समाधान निजी ढंगसे सोचने में मुझे सही दिशा प्राप्त हो सकेगी और मुझे संतोष है कि

मैंने इस मार्ग के अन्वेषण में वास्तविक दृष्टि प्राप्त की है ।

यद्यपि भक्ति-सिद्धान्त के तात्त्विक विवेचन में सूत्रों का संयोजन करते समय विवि संस्थानों एवं आचार्यों से सम्पर्क स्थापित करने में अनेक प्रकार की बाधायें उपस्थित हुई और अपने शोध का गन्तव्य प्राप्त करने में मुझे अनेक कठिनाइयां उठानी पड़ीं और तथापि सम्भवत: यह संत कवियों की नाम विषयक स्फूर्ति ही थी जिसने मुझे निरन्तर बल दिया और मैं शोध क्षेत्र में अग्रसरित होती रही । मैं नहीं जानती कि सफलता शब्द का प्रयोग करना मेरे लिये कितना उचित है तथापि मन में एक प्रकार का परितोष अवश्य है कि मैं इस कार्य में निरंतर आती हुई बाधाओं को पार करके अन्तत: श्रद्धेय गुरुवर डा० रामकुमार वर्मा के कुशल निर्देशन में उनके द्वारा निरन्तर उत्साहवर्धन प्राप्त करते हुए और उनकी कृपा का विशेष अनुभव करते हुए अपने शोध-प्रबंध को प्रस्तुत करने की स्थिति प्राप्त कर सकी हूं ।

इसकी जो रूपरेखा उनके सत्परामर्श से निश्चित हुई थी प्राय: उसी का अनुसरण कुछ सामान्य एवं आवश्यक परिवर्तनों के साथ अंत तक मैंने किया । ऐसे परिवर्तन भी निर्देशक के साथ तत्त्वचिन्तन करते हुए सम्मिलित किये गये । जो दृष्टिकोण शोधकार्य करने से पूर्व निश्चित किया गया था उसका अध्ययन काल में विशदीकरण हुआ है और अनेक स्थलों पर पूर्व धारणाओं को नवीन अध्ययन सामग्री एवं नये तथ्यों के प्रकाश में आने के कारण परिवर्तित भी करना पड़ा है जो शोध-कार्य में स्वाभाविक ही कहा जायगा । मेरी दृष्टि में जो समस्यायें प्रधान थीं वे अन्ततक महत्त्वपूर्ण बनीं रहीं किन्तु उनका समाधान बहुत अंशों में मुझे प्राप्त हुआ है ।

भारतीय मध्यकालीन-आध्यात्मिक परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । आत्मा-परमात्मा के चिन्तन, उसकी जिज्ञासा सहज रूप से साधकों के मन में उत्पन्न होती रही है । वेदों के समय से निरन्तर उस अनादि शक्ति के नाम-रूप-लीला-धाम के प्रति चिन्तन अबाध गति से चलता रहा है । इतना अवश्य है कि कभी उसका नाम प्रमुख रहा, कभी रूप । तथा कभी उसकी लीला का आनंद साधक को आनन्दित करता रहा । इस प्रकार कभी चिन्तन की एक भावधारा को प्रमुखता मिली, कभी दूसरी धारा को ।

मध्ययुगीन भक्तिसाहित्य अनेक प्रकार की विचारधाराओं के सम्पर्क तथा संघर्ष से ऊपर उठकर अपना स्वरूप-निर्माण कर सका है । उस समय भारतीय दर्शन के अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे । उनमें शंकर का अद्वैत, रामानुज का विशिष्टाद्वैत, निम्बार्क का

द्वैताद्वैत और वल्लभ का शुद्धाद्वैत विशेष उल्लेखनीय है। आध्यात्मिक क्षेत्र में चिंतन तथा भक्ति का विशेष महत्व रहा है। आचार्यों की इस परम्परा में रामानंद का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने ही भक्ति को सहज रूप देकर राम की साधना का प्रचार किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में वैदिक नाम-भक्ति की व्याख्या की गई है। वेदों में कर्मकाण्ड की प्रधानता के कारण इस चिंतन का विषय कुछ दब-सा गया है। उनमें भी नाना-नामों द्वारा उस 'एक' परमसत्ता की स्तुति की गई है। वेद-वर्णित प्रभु के अनेक नामों में प्रकारान्तर से कतिपय नामों को प्रमुखता प्राप्त हुई। आगे चलकर उनके स्थान पर किस प्रकार अन्य नामों की प्रतिष्ठा हुई, इसका स्पष्टीकरण वैदिक नाम-भक्ति के अन्तर्गत किया गया है। वेदों की परमसत्ता का विभु-रूप उपनिषदों, आरण्यकों तथा पुराणों के दृष्टिकोण से नाम-रूप लीला-धाम में केन्द्रित हो जाता है। जैन तथा बौद्ध धर्मों में भी नाम-साधना के स्वरूप को देखने का प्रयास किया गया है।

दूसरे अध्याय में नाम-साधना के दार्शनिक पक्ष का विवेचन है। साकार-निराकार अथवा सगुण-निर्गुण ब्रह्म के विवेचन का शास्त्रीय तथा व्यावहारिक पक्ष उद्घाटित करने का प्रयत्न किया गया है। इसकी शास्त्रीय परीक्षा में भक्ति-ग्रन्थों में आये ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूपों का विवेचन है तथा व्यावहारिक पक्ष में शास्त्रों से उद्भूत ब्रह्म के सगुण-निर्गुण रूप की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इसी अध्याय में नाम-साधना की प्रक्रिया तथा उसके स्वरूपगत महत्त्व पर भी प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय में भक्ति और नाम का विवेचन शास्त्रों में उसके स्वरूप आदि की सम्यक व्याख्या के आधार पर किया गया है। इसमें हिन्दी-साहित्य का भक्तिकाल किन विषम परिस्थितियों में प्रारम्भ हुआ, इसका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है तथा इस भक्ति-आंदोलन का तत्कालीन भक्त एवं संत कवियों पर क्या प्रभाव पड़ा तथा उनकी साधना का स्वरूप क्या बना, इसकी समीक्षा की गयी है।

अगले तीन अध्याय क्रमश: संत तथा भक्त कवियों की नाम-भक्ति के परिचायक हैं। इसमें प्रभु के नाम-रूप-लीला-धाम तथा गुणादि के तत्सम्बन्धी साधकों के दृष्टिकोण की सम्यक् समालोचना प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि नाम-

साधना में इन संतों का दृष्टिकोण एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण से भिन्न प्रकार का रहा है तथापि परम सत्ता के प्रति नाम के आश्रय से जो आस्था उत्पन्न हो सकती है उसमें विशेष अन्तर नहीं है। चाहे निराकार हो या साकार, नाम ही एक ऐसा माध्यम है जो साधक का सम्बन्ध साध्य से जोड़ने के लिये आवश्यक और महत्वपूर्ण है। वाच्य और वाचक में तभी संबंध स्थापित हो सकता है जब साधना में समर्पण की भावना वर्तमान हो और समर्पण का प्रतीक नाम का ही आधार है। नाम का महत्त्व सर्व प्रथम दक्षिण के भक्त कवियों द्वारा प्रतिपादित हुआ किन्तु उसका उत्कर्ष उत्तर भारत के संत,- कबीर, तुलसी, सूर और मीरा के द्वारा ही निष्पन्न हुआ।

अध्ययन काल में मुझे बहुत से ग्रन्थों के अध्ययन का जो सुअवसर प्राप्त हुआ वह जिस महत् परितोष की अनुभूति देता है वह उपाधि के लिए किये गये औपचारिक कार्य से अधिक महत्त्वपूर्ण है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है और मेरे मन में भारतीय भक्ति साहित्य एवं तत्संबंधी साधना पक्ष को लेकर और अधिक शोध करने की प्रवृत्ति हुई है जिसे अनुकूल अवसर पाकर यदि मैं चरितार्थ कर सकी तो अपने को सौभाग्यशालिनी मानूंगी।

इस शोध कार्य के संदर्भ में मुझे अनेक विद्वानों के सत्परामर्श प्राप्त हुए हैं, जिनसे मेरे चिन्तन को अधिक बल मिला है। ऐसे विद्वानों में डा० बल्देवप्रसाद मिश्र तथा डा० हरवंशलाल शर्मा का नाम मैं अत्यंत श्रद्धा के साथ स्मरण कर रही हूं। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अनेक संदर्भों का स्पष्टीकरण करते हुए विषय के प्रतिपादन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। तथा डा० अम्बाशंकर नागर ने विषय से सम्बद्ध अनेक जिज्ञासाओं का समाधान किया है। अत: इन साहित्य मनीषियों के प्रति मैं हार्दिक आभार प्रकट करती हूं। शोध-प्रबन्ध को पूरा करने में मैंने जिन ग्रन्थों से सहायता ली है उनके कवियों तथा लेखकों के प्रति श्रद्धावनत हूं।

सामग्री संकलन में मुझे जिन विश्वविद्यालयों, शोधसंस्थानों तथा पुस्तकालयों, विशेष रूप से हिन्दी साहित्य सम्मेलन संग्रहालय से सहायता एवं सुविधा मिली है उनके अधिकारियों को मैं सादर धन्यवाद देती हूं। जिन स्वजनों ने अपना अमूल्य समय देकर मुझे कृतकार्य किया है उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना कर्तव्य समझती हूं।

मुझे विश्वास है कि भक्ति-साहित्य के सुधी अन्वेषक एवं चिन्तक इस शोध-प्रबंध को उपादेय पायेंगे। यदि ऐसा हो सका तो मैं अपने श्रम को पूर्णतया सार्थक मानूंगी।

-मालती तिवारी

अनुक्रम

चतुर्थ अध्याय पृष्ठसंख्या १४४-१८८

निर्गुण-भक्ति-काव्य में नाम-साधना का विवेचन

पंचम अध्याय पृष्ठसंख्या १८८-२८४

सगुण कृष्ण-काव्य में नाम-साधना का स्वरूप

1

प्रथम अध्याय

नाम और उसकी परम्परा

वैदिक-नाम-भक्ति

वेदों में ईश्वर सम्बन्धी अनेक प्रकार की चर्चाएं मिलती हैं और उसके नाम से सम्बन्धित कई प्रकार के प्रश्न समक्ष आते हैं। यदि नाम सम्बन्धी किसी भी प्रकार की चर्चा वेदों में मिलती है तो यह नितान्त स्वाभाविक है क्योंकि रूप के साथ अन्योन्याश्रित रूप से जुड़े रहने के कारण नाम की महत्ता स्वत: सिद्ध हो जाती है। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद में कहा गया है -

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति[१]

अर्थात् वह सत्य पदार्थ एक है, विद्वान् उसे अनेक नामों से पुकारते हैं। यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो वेद में उसे अनेकानेश नामों द्वारा सम्बोधित किया गया है। उदाहरण के लिये विष्णु, इन्द्र, वायु, रुद्र, वरुण, आदित्य, अग्नि एवं उषा आदि नाम आते हैं किन्तु वे नाम उस रूप में प्रयुक्त नहीं हुए हैं जिस रूप में संत एवं भक्त कवियों ने भगवन्नाम को ग्रहण किया है। भगवन्नाम-स्मरण से तात्पर्य है भगवान् के उन नामों का जप, ध्यान, अभ्यास अथवा पूजा, या स्मरण जिनसे भगवान् की भगवत्ता प्रकट होती है। अपि यद्यपि संसार के समस्त चर-अचर पदार्थों में ब्रह्म की स्थिति स्वीकार की गई है तथापि हम समस्त को भगवान का नाम नहीं मान लेते। वे सर्वशब्द वाच्य हैं, निर्वचन के द्वारा शब्द भगवान का बोध कराते हैं। नामस्मरण में भगवान् के उन नामों का विशेष महत्व है, जिनसे भगवान् के स्वरूप(रूप) गुण, वैभाव आदि का परिचय मिलता है। विष्णुसहस्रनाम का उपदेश देते समय भीष्म ने कहा था -

'यानि नामानि गौणानि विख्यातानि महात्मन:।

ऋषिभि: परिगीतानि तानि वक्ष्यामि भूतये ।।

आशय यह है कि भगवान् आत्माओं के आत्मा हैं, उनके जो नाम प्रसिद्ध हैं, जिनसे उनके गुणों का परिचय मिलता है तथा जिन नामों का गायन ऋषियों ने किया है उन नामों का कल्याण के लिये उपदेश दिया जा रहा है।[२]

---

१. ऋग्वेद १।१६४।४६

२. कल्याण- भगवन्नाम और प्रार्थना अंक, पृ० ४४

इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि वैदिक नामों की स्थिति इस नाम-साधना से कुछ भिन्न नहीं थी । डा० सम्पूर्णानन्द ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुये लिखा है -"वैदिक वाङ्मय में भगवान्-नाम जैसा पद हो या न हो, परन्तु भगवान् की चर्चा तो है ही, यद्यपि ईश्वर शब्द का भी व्यवहार कम ही हुआ है और वह भी स्पष्टतया रुद्र के लिए । वेद ईश्वर का नि:श्वसन माना गया है । समूचे वेद में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से उसकी ही चर्चा है । उसकी अनेकरूपता और सर्व व्यापकता पदे-पदे इंगित की गई है । पुरुष-सूक्त में स्पष्ट कहा गया है - पुरुष एवेदं सर्वम् ।"[१]

ऐसा माना जाता है कि आत्मा या ओम् की शक्ति 'वाक्' कहलाती है जिसके द्वारा वह अपने को व्यक्त करता है, तथापि उपनिषदों की मान्यता के अनुसार वह अव्यक्त है, शक्ति स्वरूप है तथा निराकार है । किन्तु समय-समय पर वह एक शक्ति से अनेक शक्ति के रूप में और निराकार तथा अव्यक्त से अनेक रूप धारण करता है । किन्तु अव्यक्त रूप में वह केवल एक शक्ति, एक नाम तथा एक रूप में सीमित हो जाता है जिसे 'ओम्' की संज्ञा दी जाती है ।" वेद को प्राय: वाक् अथवा ओम् का पर्यायवाची माना जाता है । वेद के द्वारा ब्रह्म जब व्यक्त होता है तो पहले 'छान्दस्य' पुरुष होता है, फिर ऋङ्मय, यजुर्मय और साममय रूप में विवृत हो जाता है ।"[२] इस प्रकार एक अक्षर ओउम् या स्वर से जो उद्गीथ प्रारम्भ होता है वही हमारे स्थूल चक्षु-श्रोत्रादि की शक्तियों या प्राणों के रूप में दिखाई पड़ता है , जो पहले एक था वही अनेक होकर कर्म करता है, जो पहले अव्यक्त था वही व्यक्त होकर स्थूल इन्द्रियों का विषय बन जाता है ।"[३] इन्द्रियों का विषय बनने के बाद उस ब्रह्म के अनेक नाम दिये गये - विभिन्न विश्वासों एवं मान्यताओं से:कभी येनाम

---

१. ऋग्वेद १०।९०।२ अथर्ववेद १९।६।४ (कल्याण-भगवन्नाम और प्रार्थना अंक,पृ० ३०)

२. वैदिक दर्शन- डा० फतह सिंह, पृ० ५९

३. वैदिक दर्शन, ,, , पृ० ३७-३८

शक्ति सूचक थे, कभी ब्रह्म के रूप-सम्बोधक थे तथा कभी उसके कार्यों के अनुरूप उसे विभिन्न नामों से सम्बोधित करने के लिए प्रयुक्त हुए । यही एक अद्वैत परब्रह्म वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, हृदय आदि रूप में नानात्व ग्रहण कर प्रकाशित होता है[1]।

पुरुष-सूक्त के प्रथम मन्त्र की उक्ति है -- परमात्मा अनंतसिरों, अनंत चक्षुओं, अनंत चरणों वाले हैं । वे ब्रह्माण्ड लोक-गोलोक के चारों ओर व्याप्त होकर ब्रह्माण्ड के बाहर भी व्याप्त होकर अवस्थित हैं । यह सारा ब्रह्माण्ड उनकी महिमा है । वे तो स्वयं अपनी महिमा से भी बड़े हैं, यह तीसरे मन्त्र में कहा गया है ।[2] परमात्मा एक है, परन्तु क्रान्तिदर्शी विद्वान् उनकी अनेक प्रकार से कल्पना करते हैं, वही कल्पना इन्द्र, अग्नि और विश्वकर्मा रूप में है । आगे चलकर यही मान्यता राम तथा कृष्ण आदि को मिलती है । वैदिक मन्त्र, संहिताओं में अनेकानेक देवी-देवताओं के गुण-कर्मानुसार नाम और नामों की महिमा है । किन्तु ऐसा विश्वास रहा है कि इन सभी देवनामों से एक ही शक्ति का आवाहन होता है । (तस्मात् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते) वस्तुत: एक ही देव की ये सब विभूतियां हैं । इसी के विविध नाम रखे गये । अत: स्तुति भी अनेक नामों से की गई । वस्तुत: जैसे एक ही भगवान् के विष्णु, शिव,राम,नारायण, हरि,गोविन्द, कृष्ण आदि अनेक नाम तथा रूप हैं ठीक इसी प्रकार भगवान् के ही विविध नाम-रूप वेदों में भी मिलते हैं । ऋग्वेद के २२ मंत्रों में बार-बार कहा गया है -- महद्देवानाम सुरत्वमेकम् । अर्थात् वेदों की शक्ति एक ही है । फलत: वैदिक संहिताओं में देवों के जितने नाम हैं वे सब मूलत: भगवान् के ही नाम और माहात्म्य हैं तथा देवों की जितनी स्तुतियां, उपासनाएं और प्रार्थनायें हैं सब भगवान् की है । ये सभी नाम और प्रार्थनायें संसार से परे जाने के लिए प्रधान अवलम्ब ,आश्रय और आधार हैं ।[3]

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि परमात्मा एक है किन्तु साधकों एवं दार्शनिकों ने अपनी आस्था एवं सुविधानुसार उसके विविध नामकरण कर

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् ४।१,२।७

२. कल्याण,भगवन्नाम तथा प्रार्थना, अंक, पृ० २४

३. वही, पृ० ६६

दिये । यह शुद्ध रूप में कल्पना पर आधारित था । साधकों की यह मान्यता लौकिक संस्कृत-साहित्य में राम-कृष्ण आदि के रूपों में और वैदिक वाङ्मय में इन्द्र, अग्नि और विश्वकर्मा आदि के रूपों में है । अलौकिकता की दृष्टि से इन ब्रह्मवाची नामों में कोई अन्तर अथवा भेद नहीं हैं । कर्म और गुण के अनुसार भगवान् के अनेकानेक नामों की परिकल्पना की गई है । विष्णु सहस्रनाम, तथा गोपालसमग्र नाम ' में भगवान के नामों का गुणगान और उसके महत्त्व पर यथासाध्य प्रकाश डालने की चेष्टा मिलती है । यही स्थिति वैदिक मन्त्र संहिताओं में भी मिलती है । पात्रों की भाँति ही ब्रह्म के नामों में विभिन्नता है । अगणित देवों के गुण तथा उनके कर्मानुसार नामों की महिमा वर्णित है । उदाहरणस्वरूप पुराणों में यह स्वीकार कर लिया गया है कि भगवान के असंख्य अवतार हैं किन्तु मुख्यतया दस अवतार चुन लिए गए हैं । इसी प्रकार वेदों में भी असंख्य देवी-देवताओं का उल्लेख मिलता है किन्तु प्रमुख रूप से यज्ञादि - सम्पादन के लिए कुछ नामों को महत्त्व मिला है । ऋग्वेद में कहा गया है कि प्रत्येक यज्ञकर्म में मिलकर कामनाओं को पूर्ण करने वाले परमेश्वर की स्तुति करो । बार-बार इसी के गुण गाओ, उसी के नाम का जप करो । प्रभु के अतिरिक्त अन्य किसी की स्तुति मत करो, क्योंकि अन्य की स्तुति विनाशकारी है ।'[१]

अथर्ववेद में नाम की आराधना करने की ओर स्पष्ट संकेत मिलता है । 'अभी पौ नहीं फूटी , अभी सूर्य नहीं उभरा । (भक्त) नाम द्वारा नाम का बार-बार आराधन कर रहा है —ज्यों ही (वह) मूल (कारण) प्रथमतः बढ़ा, (त्यों ही) वह उस विस्तार पर जा पहुँचा जिससे और कोई बड़ा विस्तार न (था, और न) है (ही) ।[२] यही नाम-साधना जो कि प्रथमतः अमूर्त के प्रति सम्पन्न होती है

---

१. ऋग्वेद ८।१।१

२. नाम नाम्ना जोहवीति,
पुरा सूर्यात् पुरो (रा उ)षसः ।
यद् अजः प्रथमं संबभूव ,
स ह तत् स्वराज्यम् इयाय
यस्मान् नाऽन्यत् परम् अस्ति भूतम् ।

— अथर्ववेद, १०।७।३१

कालान्तर में जीवों की अपेक्षा से अनेक नामों का रूप एक ब्रह्म को प्रदान करती है। किन्तु जहां उसके मूल का प्रश्न उठता है वहां केवल ॐ शब्द ही ब्रह्मवाची है। तदनन्तर प्रणव की स्थिति स्वीकार की गई। डा० मुंशीराम शर्मा ने प्रणव का अर्थ करते हुए लिखा है -" कि प्रणव की महिमा अग्राह्य तथ्य में विद्यमान है, पर हम जीव उस अनामी के अपनी अपेक्षा से नाम रखते हैं, और क्योंकि हम अनेक हैं, वृत्तियां अनेक हैं, अत: प्रभु के नाम भी अनेक हो जाते हैं। जो अगन्तव्य है वह इन्हीं नामों द्वारा गन्तव्य बन जाता है।"[१]

विभिन्न उपनिषदों तथा वेदों आदि में इस तथ्य की स्थिति स्वीकार की गयी है कि नाम-साधना के द्वारा ही साधक का उद्धार होता है। वह संयमित तथा इन्द्रियों को वश में करने की शक्ति अर्जित कर लेता है। किन्तु यह साधना साधारण रूप से अथवा ऊपरी सतह से नहीं की जा सकती। इसमें मन की आन्तरिक अनुभूति और हृदय की निष्ठापूर्ण भक्ति का समावेश होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि नाम के लेने की प्रक्रिया में हार्दिक अनुभूति कार्य करती है तो निश्चय ही वेदों की यह उक्ति चरितार्थ होती है -

"आ घा गमद् यदि श्रवत् सहस्रिणीभिरूतिभिर्वाजेभिरुप नो हवम्।"[२]

ब्रह्म एक है किन्तु उसके विविध नामों से उसकी अनेकरूपता का बोध होने लगता है किन्तु उससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि गुणों के कारण अनेक नामकरण एक ही ब्रह्म को अनेक बना देते हैं। वरन् इन अनेक नामों की एकता अक्षुण्ण बनी रहती है।" इस प्रकार एक ही परम तत्व मधुर होने के कारण "मधु", प्रकाशमय होने के कारण" प्रकाश", चेतन होने के कारण "प्राण", प्रपंच का उपबृंहण करने के कारण ब्रह्म, सर्वव्यापक होने के कारण "विष्णु", योगिरम्य होने के कारण "राम" और सर्वजनाकर्षक होने के कारण" कृष्ण" नाम से अभिहित हुआ।"[३] तुलसी के शब्दों

---

१. नाम साधना अंक (कल्याण), पृ० १०६- वैदिक भक्ति भावना - डा० मुंशीराम शर्मा
२. ऋग्वेद, १।३।८
३. प्राचीन वाङ्मय में नाम और प्रार्थना- डा० कृष्णदत्त भारद्वाज(कल्याण- नाम साधनांक), पृ० १२३।
(विष्णु- वेवेष्टि इति विष्णु: (विश्व व्याप्तौ।) (क्रमश: जारी)

में ' हरि अनन्त हरि कथा अनंता ' उक्ति चरितार्थ होती है ।

वेदों में नाम-मन्त्र ही पुरुषार्थ का प्रमुख लक्षण माना गया है । अनेकों मन्त्र इस भाव को पुष्ट करते हैं । ऋग्वेद में ' सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि '[1] कह कर यह घोषित किया है कि साधक सदैव परमात्मा के यश को सूचित करने वाले नाम का कीर्तन करता है । इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य जीवन-मरण के चक्र को स्वीकार करके चलता है , इसलिये वह अमर देवता परमात्मा के नाम का बारम्बार कीर्तन करता है ।[2] वही अमरदेवता उसका रक्षक है तथा पालक भी । उसके नाम, गुण, कर्म सभी सुन्दर हैं अतएव साधक निरन्तर उसी का ध्यान स्मरण करता है । उसी के नाम का कीर्तन करता है ।

यजुर्वेद में नाम के महत्त्वपर प्रकाश डाला गया है । वेदों ने ब्रह्म के विविध-नामों में मुख्य रूप से ओंकार तथा प्रणव को स्वीकार किया है । किन्तु जहां कहीं भी किसी शक्ति के रूप में उसका स्मरण किया है वहां भी उसके नाम को उतना ही महत्त्व प्रदान किया है । साक्षात् परमेश्वर का ही, उसके नाम, गुण तथा यश आदि का वर्णन करते हुए स्तवन किया गया है । यद्यपि इसके मन्त्रों का प्रयोग नाना प्रकार के यज्ञों से सम्बन्धित है तथापि अनेकों मन्त्र ऐसे हैं जिनसे कीर्तन के महत्त्व पर स्पष्ट रूप से प्रकाश पड़ता है ।

' न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः । '[3] में यह सूचित किया गया

पिछले पृष्ठ का अवशेष –

(राम (१) रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि ।

इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ।। रामपूर्वतापनी०१।६

(२) रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः

(कृष्ण) – कर्षति जीवान् आत्मानं प्रति इति कृष्णः ।

---

१. ऋग्वेद– ७।२२।५

२. मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे । ऋग्वेद –८।११।५

३. कल्याण—नाम साधनांक, पृ० ११५

है कि जिसका महानयश प्रसिद्ध है, अथवा जिनका मधुसूदन, त्रिविक्रम और गिरिधर आदि नाम उनके महान् यश को सूचित करने वाले हैं, उनकी कहीं समानता नहीं है।" इसलिए साधकों को अपेक्षित है कि वे उस अविनाशी ब्रह्म का प्रवचन, कीर्तन अथवा उपदेश करें। वेदों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि विविध शक्ति सूचक जितने देवी देवता के नामों का उनमें उल्लेख मिलता है उन सबका अस्तित्व एक ब्रह्म तक ही सीमित है। प्रकारान्तर से यह परमेश्वर के ही नाम हैं। 'ऊँ क्रतो स्मर' में स्पष्ट उपदेश है कि --" हे कर्म करने वाला जीव! तू उस रक्षक (परमेश्वर) का नामस्मरण कर।"

उपनिषद् -

यो‌गसूत्र में "तस्य वाचक : प्रणव:" के द्वारा ओंकार को परमात्मा का वाचक कहा गया है तथा उसकी उपासना पर बल दिया गया है। प्रकारान्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि ओंकार की उपासना ब्रह्म के नाम की उपासना ही है। उसी का जप-कीर्तन तथा चिन्तन आदि है। इसी ओंकार का आश्रय ग्रहण कर साधक परमात्मा की प्राप्ति कर लेता है। कुछ प्रमुख उपनिषद् हैं जिनमें ओंकार शब्द की विशद् व्याख्या मिलती है। उदाहरण के लिये माण्डूक्योपनिषद् को लिया जा सकता है। इसमें ऊँ को ही ब्रह्म का प्रतीक माना गया है, तथा इस सम्पूर्ण सृष्टि का विस्तार और विकास ऊँ में ही सन्निहित है। यह अविनाशी है, देश काल की बाधाओं से निर्बाध परब्रह्म है। यह ओंकार ही अपर है अतएव इसी नाम का जप तथा कीर्तन करके साधक इच्छित वस्तु की उपलब्धि करता है। यही श्रेष्ठ अवलम्बन है। कठोपनिषद् में इसी भावना को व्यंजित करते हुए स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला गया है।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छतितस्य तत्॥[१]

तैत्तिरीय में भी ओंकार के भजन-चिंतन से परमात्मा की प्राप्ति बताई गई है। "ऊँ ही ब्रह्म है। यह सम्पूर्ण जगत भी ऊँ से भिन्न नहीं है। जो ब्राह्मण ब्रह्म प्राप्ति की भावना से प्रणव का उच्चारण अर्थात् कीर्तन या जप करता है वह ब्रह्म को

---

१. कठो० १।२।१६

ही प्राप्त होता है ।[1]

ईशावास्योपनिषद् में भक्ति के प्रमुख चार तत्त्वों की विवेचना की गई है । यद्यपि उसमें ब्रह्म को अविनाशी स्वीकार किया गया है किन्तु[2] एक श्लोक में विस्तार पूर्वक नाम-रूप-लीला तथा धाम की महिमा विवेचित है । उन्होंने अविनाशी ब्रह्म की उपासना से दूसरा ही फल बताया है । उपासना का यथार्थ स्वरूप है — परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् को सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ और अविनाशी मानकर श्रद्धा भक्ति के साथ निरंतर उसके दिव्य नाम-रूप-लीला-धाम तथा प्राकृत दिव्य गुणों का श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण करते रहना ।

कठोपनिषद् में 'नाम' पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है । यहाँ परब्रह्म पुरुषोत्तम को परमप्राप्य बतलाकर उसके वाचक ओंकार को उसका प्रतीक रूप से स्वरूप बताते हैं।नाम रहित होने पर भी परमात्मा अनेक नामों से पुकारे जाते हैं। उनके सब नामों से 'ओम्' को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है । वह किसी भी अभीष्ट रूप को प्राप्त कर सकता है । नाम और नामी की अभेद स्थिति स्वीकार की गयी है । अतएव इससे परे और कोई अवलम्बन नहीं है । परमात्मा के नाम की शरण में जाना ही उसकी प्राप्ति का सर्वोत्तम एवं अमोघ साधन है । संसार की अनित्यता को ध्यान में रख कर साधक के लिए यही अपेक्षित है कि वह भगवान के नाम, रूप तथा लीला और उसकी अलौकिक शक्ति और अहैतुकी दया पर दृढ़ विश्वास रखे । समस्त इन्द्रियों का सम्बन्ध भगवान् से जोड़ दे, इसी में जीवन की कृतार्थता है ।

योग की क्रियाओं पर भी इसी क्रम में प्रकाश डाला गया है । निरंतर दृढ़तापूर्वक योग का अभ्यास साधक के लिये अपेक्षित है । इन्द्रिय-मन को योगाभ्यास

---

१. ओमिति ब्रह्म । ओमितीदं सर्वम् । . . . . ओमिति ब्रह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति ब्रह्मैवोपाप्नोति । वल्ली १, अनु० ८ ।

२. अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।।१३ ।। ईशावास्योपनिषद् ।

द्वारा निरंतर उसकी प्राप्ति के लिए चरम उत्कण्ठा के साथ प्रयत्नशील रहना चाहिए । अंत में परमात्मा का यह तात्त्विक दिव्य स्वरूप साधक के विशुद्ध हृदय में स्वतः प्रकट हो जाता है । उसका साक्षात्कार हो जाता है ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में नाम जप के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा गया है कि जिस प्रकार काष्ठ आदि में स्थित अग्नि का स्वरूप दिखलाई नहीं पड़ता किन्तु उसमें अग्नि विद्यमान रहती है, उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा हृदय-रूप अपने स्थान में छिपे रह कर प्रत्यक्ष नहीं होते, परन्तु ॐ के जप द्वारा साधना करने पर शरीर में ही इसका साक्षात्कार किया जा सकता है । चौदहवें श्लोक में लिखा है कि जिस प्रकार अग्नि को प्रकट करने के लिए दो अरणियों का मंथन किया जाताहै उसी प्रकार अपने शरीर में परमात्मा को प्राप्त करने के लिए शरीर को तो नीचे की अरणि बनाना चाहिए और ओंकार को ऊपर की अरणि । अर्थात् शरीर को नीचे की अरणि की भाँति समभाव से निश्चल स्थित करके ऊपर की अरणि की भाँति ओंकार का वाणी द्वारा जप और मन से उसके अर्थस्वरूप परमात्मा का निरंतर चिंतन करना चाहिए । इस प्रकार इस ध्यान रूप मंथन के अभ्यास से साधक को काष्ठ में छिपी हुई अग्नि की भाँति अपने हृदय में छिपे हुए परमदेव परमेश्वर को देख लेना चाहिए ।[१] मन विशुद्ध होकर ध्यानावस्थित हो जाता है । ओंकार का जप और उसके वाच्य परब्रह्म परमात्मा का ध्यान करके समस्त भयानक प्रवाहों को भक्त पार कर लेता है । जन्म मृत्यु के बंधन से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।साधक अमर पद को प्राप्त कर लेता है ।

नाम की ब्रह्मरूप में उपासना आदिकालीन ग्रन्थों से ही प्राप्त होने लगती है । छान्दोग्योपनिषद् में सप्तम अध्याय में इसकी विवेचना प्रस्तुतकी गयी है । इसमें सम्पूर्ण ज्ञान को 'नाम' ही स्वीकार किया गया है । नारद के द्वारा उपदेश प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त करने पर सनत्कुमार का उत्तर इसी बात की पुष्टि करता

---

१. स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ।। १४। पृ० ३४७ श्वेताश्वतरोपनिषद्

है। उन्होंने सम्पूर्ण विधा को नाम स्वीकार किया है और अंत में नाम की उपासना करने का उपदेश दिया है। क्योंकि वही ब्रह्म है, नाम की गति का विस्तार असीमित है। वह ध्यान के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

अधिकांक उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप, गुण तथा उसके नाम की सर्वत्र चर्चा मिलती है। किन्तु कुछ उपनिषद प्रमुख रूप से इस विषय का प्रतिपादन करते हैं। श्रीरामपूर्वतापनीयोपनिषद् में तो राम-नाम के विविध अर्थों, भगवान् के साकार तत्त्व की व्याख्या, तथा मन्त्र और मन्त्र के माहात्म्य का सविस्तार वर्णन मिलता है। ओम् अथवा सच्चिदानन्द मय विष्णु ही जब दशरथ के घर में जन्म लेता है तो उसका नाम राम होता है। अर्थात् उस अनंत, नित्यानंद स्वरूप, चिन्मय, अद्वितीय ब्रह्म में योगीजन रमण करते हैं इसलिये वह परब्रह्म परमात्मा ही 'राम' पद के द्वारा प्रतिपादित होता है।[1] यद्यपि ब्रह्म चिन्मय, अद्वितीय, अवयवरहित है तथापि अपने भक्तों के अभीष्ट कार्य सिद्धि के लिए वह चिन्मय शरीर को धारण करता है — नाम तथा रूप को ग्रहण करता है। इस प्रकार निराकार ब्रह्म भी साकार बन जाता है। राम का जप समस्त अभीष्ट फलों का प्रदाता है। इसी उपनिषद् में राम शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि उसमें सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि अर्थात् तेज शीतलता और दाहकत्व के गुण विद्यमान हैं।

इसी प्रकार गोपालतापनीयोपनिषद में कृष्ण के विविध नामों तथा उनके महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। गोपाल को परब्रह्म की संज्ञा दी गई है। वहीं— ओं, तत्, सत् —ये तीन नाम धारण करते हैं तथा वे ही 'भूर्भुवः स्वः' इन तीन लोकों के रूप में प्रकट होते हैं।[2] ब्रह्म को प्राप्त करने के उपकरणों में योग, अभ्यास, जप तथा नाद, लय आदि को विशेष रूप से स्वीकार किया गया है और यथास्थान इनके महत्त्व पर भी प्रकाश डाला गया है। श्री रामोपनिषद् में स्वयं राम ने कहा है, कि जो मेरे सहस्रनाम का जप, जो मेरे विश्वरूप का परिचायक है, करें, अथवा जो मेरे एक सौ आठ नामों का जप अथवा देवर्षि नारद द्वारा कहे उक्त श्रीरामस्तवराज का पाठ या रामरक्षा आदि इन स्तोत्रों से नित्य मेरी स्तुति करते हैं वे भी मेरे ही समान हो जाते हैं।[3]

---

१. कल्याण, उपनिषद् अंक, पृ० ५३१

२. वही, पृ० ५६५

३. वही, पृ० ६६४

समस्त श्रुतियों का गोपनीय रहस्य भी यही है कि भगवान् आदि पुरुष नारायण के नामोच्चारण से मनुष्य कलि के दोषों का नाश कर डालता है । इन नामों के उच्चारण के फलस्वरूप षोडश कलाओं से आवृत जीव के आवरण नष्ट हो जाते हैं तत्पश्चात् जैसे मेघ के विलीन होने से आकाश स्वच्छ हो जाता है तथा सूर्य की किरणें प्रकाशित हो उठती हैं उसी प्रकार परब्रह्म का स्वरूप प्रकाशित हो जाता है ।[१] किन्तु इसके साथ ही उसके कुछ नियम भी स्वीकार किये गए हैं । अर्थात् मंत्र का निरंतर जप करना आवश्यक होता है । परिणामस्वरूप जीव शीघ्र ही मुक्ति लाभ कर सकता है ।

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के नियंता परमेश्वर तत्त्व की वेद और उपनिषदों में सम्यक् मीमांसा की गई है । उसके स्वरूप को विभिन्न नामों द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा की गई है । ब्रह्म, आत्मा, विष्णु, रुद्र, शिव सर्वज्ञ, इन्द्र, नारायण, नृसिंह, गोपाल, कृष्ण, गोविन्द, परमात्मा, परमेश्वर, पुरुषोत्तम, वासुदेव, राम, यम, काल, ईश्वर, प्राण, आकाश, ओम्, सत्, चित्, आनन्द और अक्षर आदि अनेकों नामों से उसे जानने अथवा उसे प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया है । भगवान के सभी नाम कल्याणप्रद एवं समान फल को प्रदान करने वाले हैं । तथापि नामों की प्रकृति, प्रत्ययात्मक विशेषता कुछ न कुछ अवश्य ही अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है । शब्द शक्ति को स्वीकार करके यदि हम इस विषय पर विचार करें तो बात स्पष्ट हो जाती है । जिन नामों में जैसा प्रत्यय या जिस प्रकृति का जैसा योग होगा उन नामों में वैसी ही शक्तिविशेष का विकास होता है । यही कारण है कि वेद, उपनिषद्, पुराण से मध्ययुग तक ब्रह्म के नामों की सूची निरंतर वृद्धि ही पाती गई। कीर्तन, पूजन, ध्यान, भजन आदि में भी विभिन्न युगों में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है । यही क्रम ब्रह्म के नाम तथा रूप के साथ भी निरन्तर बना रहा । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म के स्वरूप अथवा उसकी स्थिति के महत्त्व के साथ ही नामों के महत्त्व को भी निरंतर स्वीकार किया गया । उपासना के क्षेत्र में नामों का महत्त्व और भी बढ़ गया ।

---

१. कल्याण—उपनिषद् अंक, पृ० ६६७

ईश्वर सम्बन्धी भारतीय विचार, विश्वास, एवं भावना को भली भाँति समझने के लिए उसके अत्यंत प्राचीन रूप पर दृष्टिपात करना आवश्यक है । इन सभी समस्याओं का समाधान वेदों द्वारा हो जाता है ।" लौकिक वस्तुओं के साक्षात्कार के लिए जिस प्रकार नेत्र की उपयोगिता है, उसी प्रकार अलौकिक तत्वों के रहस्य जानने के लिए वेद की प्रकृष्ट उपयोगिता है ।"[१] अपने प्राचीन रूप में ऋग्वेद महत्वपूर्ण है । उसमें बहुदेववाद की कल्पना मिलती है । किन्तु कालान्तर में इन समस्त शक्तियों के संचालनकर्ता की खोज की गई । अनेकानेक मान्यताओं के मध्य से गुजरते हुए अन्त में यह कल्पना एक 'पुरुष' या प्रजापति पर आकर रुक गई । इसी के परिणामस्वरूप एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद आदि शब्दों का प्रयोग भी होने लगा । एक ऐसी महनीय शक्ति स्वीकार की गई जो ऐश्वर्य सम्पन्न थी । वह 'ईश्वर' नाम से अभिहित की गई । वेदों की स्तुति का विस्तार संकुचित होकर एक सत्ता में समाहित हो गया । यह सर्वव्यापी ,सर्वात्मक सत्ता अलक्ष्य थी । अतएव उसका बोध होना अत्यंत ही कठिन था। अपनी, जिज्ञासा, आस्था एवं विश्वास के अनुकूल वह प्रत्येक साधक को भिन्न-भिन्न नामों तथा आकारों में परिलक्षित होने लगी । वेदों में पूजा पद्धति मन्त्रों तथा प्रार्थनाओं तक ही सीमित थी । उस समय मूर्तिपूजा और मंदिरों का एक प्रकार से अभाव सा ही था । विविध प्रकार के याज्ञ-यज्ञों का भी प्रचलन था जिनमें मन्त्रों के उच्चारण होते थे । आध्यात्मिक एवं प्राकृतिक शक्तियों का साक्षात् दर्शन हो जाने के कारण किसी प्रतीकात्मक मूर्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती थी ।

उपनिषदों में यह परमतत्व कुछ भिन्न रूप में मिलता है । यहाँ ब्रह्म के दो रूप प्राप्त होते हैं -सगुण, साकार, सविशेष दूसरा निर्गुण, निराकार, निर्विशेष । श्रेष्ठता दूसरे प्रकार को अधिक दी गई । ब्रह्म सत्य है, वह ज्ञान तथा अनन्त रूप है ।[२] नेति-नेति ही परब्रह्म का यथार्थ परिचय है । वह देश काल तथा निमित्त रूपी उपाधियों से विरहित होने के कारण निरुपाधि कहलाता है ।

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ४१६

२. सत्यं ज्ञानमनंतम्ब्रह्म, तै०उ० २।१

उपनिषदों में ओंकार की उपासना का प्राय: वही महत्त्व है जो भक्तिकालीन कवियों में राम-नाम की उपासना का है । श्वेताश्वेतर उपनिषद् में कहा गया है कि ओंकार स्वयं परमतत्त्व का अक्षरमय विग्रह है जिसका निरंतर ध्यान करने से निगूढ़ देव का भी दर्शन किया जा सकता है ।

जैन धर्म--

योगमत तथा जैनमत में मूलत: कोई अन्तर नहीं मिलता । विविध प्रकार की यौगिक क्रियाओं द्वारा राग का नाश ही इनका ध्येय है । साधना के संदर्भ में यह कठोरता जैन- साधना में भी इसी सीमा तक उपलब्ध होती है । किन्तु जहाँ पूजा तथा साधनागत विशिष्ट पद्धतियों का प्रश्न आता है वहाँ जैन साधक भी बौद्ध शाक्त, शैव, व वैष्णव की भाँति उनका निर्वाह करते हैं । जैनियों के तीर्थंकर और वैष्णवों के ईश्वर में नाम मात्र का ही अन्तर रह जाता है । लक्ष्य प्राय: सभी साधनाओं का एक ही होता है । अन्तर केवल अपनी आस्था एवं विश्वास के कारण केवल आराध्य के नाम और रूप में आ जाता है । जिस प्रकार वैष्णव साधकों में, पूजा, तन्त्र, मन्त्र, रूप तथा नाम माहात्म्य आदि का प्रचलन है उसी प्रकार जैनियों में तीर्थंकरों के मन्त्रादि का रूप मिलता है । अर्थात् किंचित् परिवर्तन के साथ अपनी आस्था, निष्ठा एवं विश्वास के अनुरूप जैनियों में पूजा, उपासना तथा मन्त्र साधना आदि सभी कुछ प्राप्त होती है । इनकी साधना पद्धतियों में कर्म एवं भक्ति दोनों को समान महत्त्व प्रदान किया गया है ।

आराध्य के नाम, रूप, गुण आदि की महत्ता का अभिव्यक्तीकरण विविध सम्प्रदायों द्वारा समय-समय पर परिवर्तित होता रहा है । साधक जिस सम्प्रदाय का होता था उसने उसी के अनुरूप अपने आराध्य को देखने की चेष्टा की । यह स्वीकार करते हुए भी कि 'अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा ' तुलसी सगुण रूप को ही अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं । यह भक्त की भगवान् के रूप पर आसक्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकती है । " नाम-भेद, गुण-भेद नहीं पैदा कर सकता । इसीलिये किसी भी सम्प्रदाय का साधक परमात्मा के नाम विशेष पर हठ नहीं करता । उसका तो विश्वास रहता है कि परमात्मा को किसी नाम से ही क्यों न पुकारा जाय, उसका तात्पर्य एक अखण्ड अविनाशी, अज ब्रह्म से होगा । जैन साधकों ने भी नाम भेद की संकीर्णता को स्वीकार नहीं किया है । उन्होंने तो मुक्त कंठ से घोषणा की है कि जो निर्विकल्प परमात्मा

है, वही शिव है, ब्रह्मा, विष्णु है । उसे किसी भी नाम से क्यों न पुकारा जाय, है वह एक, अद्वितीय । उसे जिन कहो या निरंजन, बुद्ध कहो या शिव, उसके स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता ।"[१]

यद्यपि जैन दर्शन अनेकान्तवाद पर विश्वास करता है तथापि उसपर उपनिषद् एवं भगवद्गीता के परब्रह्मवाद का प्रभाव भी स्पष्टत: लक्षित होता है । जैन साधकों ने परमात्मा का स्वरूप बताते हुए कहा है कि वह वेद, शास्त्र, इन्द्रिय आदि से नहीं जाना जा सकता । वह केवल अनादि सत्ता अथवा शक्ति स्वरूप है जो केवल शुद्ध एवं निर्मल ध्यान का विषय है । शैव, साधकों की भाँति ही समाधि की दशा को अनुपम आनन्द प्रदायिनी कहा है । ध्यान की अवस्था का सुख अनंत है । भक्ति काल के परवर्ती साधकों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है तथा साधना की चरम परिणति ध्यान को ही माना है ।

जैन धर्म अनीश्वरवादी है । यही कारण है कि वह यत्र-तत्र ईश्वर के अस्तित्व के प्रति विरोध प्रकट करता है । " ईश्वर का दर्शन प्रत्यक्ष नहीं होता और अनुमान से भी उसकी सिद्धि नहीं होती । सृष्टिकर्ता की आवश्यकता तभी हो सकती है जब जगत को सृष्टि माना जाय । जगत को सृष्टि मानने का कोई कारण नहीं है । फिर यदि ईश्वर निराकार है, अंगहीन है तो उसने इस जगत की सृष्टि कैसे कर डाली ?... यदि वह सर्वशक्तिमान है तो उसे संसार के सभी पदार्थों का कारण होना चाहिए.. ईश्वर के एक होने की बात भी सिद्ध नहीं हो सकती, ... क्योंकि संसार में देखने में आता है कि गृह इत्यादि का निर्माण एक स्थपति मात्र नहीं करता, वरन् अनेक व्यक्तियों के सहयोग से यह कार्य सम्पन्न होता है, इसी प्रकार ईश्वर भी अनेक ही हो सकते हैं ।[२]

इन तथ्यों को स्वीकार करने के बाद भी जैन साधकों का उस दिव्य के प्रति

---

१. अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य में जैन रहस्यवाद – डा० वासुदेव सिंह, पृ० १६७

२. साहित्यकोष – सम्पादक, डा० धीरेन्द्रवर्मा, पृ० २७ , हिन्दी प्रथम संस्करण,

एक प्रकार का रागात्मक सम्बन्ध भी है जो कि अनेक मार्गों से प्रस्फुटित हुआ है। हिन्दी के जैन भक्त कवियों अथवा साधकों ने चेतन को पति और सुमति को पत्नी बनाया है। इसी चेतन के वियोग में सुमति की मिलने की आकांक्षा अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर भक्ति का रूप धारण कर लेती है। भक्ति और कर्म का वह समन्वित रूप है। "इसमें जैन भक्त न तो भक्ति के नितान्त परावलम्बन से आलसी बन पाता है और न कर्म की शुष्कता से बेचैन होता है।[१] जैन भक्तों ने अपने आराध्य की महत्ता प्रकट करने के लिए उसे सर्वत्र ही अन्य देवों से बड़ा बताया है। इसी संदर्भ में कहीं कहीं उसने उपालम्भ का भी सहारा लिया है —

तुम प्रभु कहियत दीन दयाल।
आपन जाय मुकति में बैठे हम जु रुलत जग जाल।
तुमरो नाम जपें हम नीके, मन वच तीनों काल।"[२] (. . .)

उपलिखित पंक्तियों में साधक की अपने इष्टदेव में अनन्यता की भावना का दर्शन होता है। इन जैन साधकों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इन्होंने निर्गुण अथवा सगुण किसी भी प्रकार के वाद-विवाद में पड़ने की चेष्टा नहीं की। क्योंकि निर्गुण का खण्डन सगुण की भक्ति नहीं है। वरन् अपनी दृष्टि से सगुण की स्थापना उसकी भक्ति हो सकती है। जैन कवियों ने ब्रह्म की विशेषता को प्रमुख रूप से स्वीकार किया है उसके नाम विशेष के प्रति किसी भी प्रकार का व्यामोह जैन साधकों में नहीं मिलता। उनके लिए वे सभी इष्टदेव हैं जिनमें आराध्य की महत्ता अथवा उसके गुण वर्तमान हों। साधक पूर्णरूप से उसी को समर्पित हो जाता है क्योंकि उसको विश्वास है कि वह केवल शरणागत ही नहीं वरन् तारक भी है[३]।

वैष्णव भक्तों की भांति जैन साधकों में भी नाम-भक्ति तथा कीर्तन का महत्व मिलता है किन्तु इनकी प्रणाली सर्वथा भिन्न है। नाम-जप की महिमा को स्वीकार करते हुए उसके प्रति वैराग्य की भावना को उत्तरोत्तर बढ़ावादिया है। "वैसे

---

१. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि — डा० प्रेमसागर जैन, प्रथम सं०, पृ० ८

२. वही, पृ० ८.

३. अब हम नेमि जी की शरन।
और ठौर न मन लागत है, छांडि प्रभु के शरन
इन्द्रचक्र फणिंद ध्यावैं, परम सुखद शरन। (भूधरदास)
— हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि- डा० प्रेमसागर जैन, पृ० १४

तो सूर-तुलसी ने भी अपने आराध्य के नाम लेने मात्र से ही असीम सुख प्राप्त होने की बात लिखी है, किन्तु जिनेन्द्र का नाम लेने से सांसारिक वैभव तो मिलते ही हैं साथ ही उनके प्रति अनाकर्षण का भाव भी प्राप्त होता है। वैभव मिलता जाए और उसके साथ ही मन उससे पृथक होकर वैराग्य की ओर खिंचता जाए, यह ही जिनेन्द्र के नाम-जप का उद्देश्य है।"[१]

ईश्वर के प्रति जैन साधकों की यह आस्था केवल उसके नाम तक ही नहीं सीमित है वरन् वह परमात्मा के गुण तथा उसके रूप के प्रति भी आसक्त होता है। नाम-जप अथवा कीर्तन उसके गुणों का ही वर्णन करता है अथवा उसके रूप को अपने ध्यान में उतारने का माध्यम या साधन माना जा सकता है किन्तु उसके प्रति उत्पन्न मन की जिज्ञासा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है और साधक अतृप्ति ही अनुभव करता जाता है। किन्तु इस अवस्था में भी प्रिय-मिलन की उत्कंठा साधक को निरन्तर शक्ति देती है। इस प्रकार की भक्ति में समर्पण की भावना अपने मूलरूप में वर्तमान रहती है। भक्त अपने समस्त अंगों की सार्थकता उसी नियन्ता के सम्पर्क में अनुभव करने लगता है।" आचार्य समन्तभद्र ने स्तुतिविद्या के ११३ वें श्लोक में इसी भाव को स्पष्ट किया है। इसी प्रकार की आस्था आगे के कवियों ने व्यक्त की है। कवि द्यानत राय का एक पद इसी प्रकार है।[२] मनराम विलास में मनराम ने लिखा है — कि वे ही नेत्र सफल हैं, जो निरंजन का दर्शन करते हैं। सीस तभी सार्थक है, जब जिनेन्द्र के समक्ष झुके, उन्हीं श्रवणों की सार्थकता है जो जिनेन्द्र के सिद्धान्त को सुनते हैं। जिनेन्द्र के नाम को जपने में ही मुख की शोभा है। उत्तम हृदय वही है जिसमें धर्म बसता है।

---

१. हिन्दी जैन भक्ति काव्य — डा० प्रेमसागर जैन, पृ० १४, १५

तेरो नाम कल्पवृक्ष इच्छा को न राखै उर, तेरोनाम काम धेनु कामना हरत है,

.... तेरो नाम वीतरागधरें उर वीतराग, भव्यतोहि पाय भवसागर तरत है।

— भैया भगवती दास

२. रे जिय जनम लाहो लेह। .....

जीभ सो जिन नाम गावै सांच सो करै नेह।

.... है सुखी मन राम ध्यावो कहैं सद्गुरु येह।

—द्यानतपद संग्रह, कलकत्ता, ६ वाँ पद, पृ० ४

हाथों की सफलता प्रभु को प्राप्त करने में ही है।[1]

सतगुरु

आनंद को प्राप्त करने के लिये मन को नाम-स्मरण की ओर उन्मुख करना साधक का परम कर्तव्य हो जाता है। साधक स्वयं इस मार्ग को पा लेने में सक्षम नहीं होता। अतएव उसे एक मार्ग-दर्शक की आवश्यकता होती है। सतगुरु ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा सत्य-असत्य का बोध होता है। गुरु की महिमा अथवा उसकी महत्ता की प्राचीनता स्वयं सिद्ध है। जैन भक्ति में सतगुरु का महत्वपूर्ण स्थान है। संत कवियों की भांति ही यहां भी ब्रह्म और सतगुरु की स्थिति है। किन्तु कबीर ने तो गुरु को गोविंद से बड़ा कहा है क्योंकि वह मार्गदर्शक है। जैन साधकों की स्थिति कुछ भिन्न है। वहां सतगुरु और ब्रह्म की स्थिति अभेदमूलक है। एक कवि ने गुरु को मोक्षमार्ग का प्रकाशक कहा है।" गुरु वही है जो सम्यक् पथ का निर्देशन करे। सम्यक पथ का अर्थ है मोक्ष मार्ग। उसे वही बता सकता है जो उस पर चल चुका हो।"[2] ईश्वर ही सबसे बड़ा गुरु है, इसी भावना को लेकर जैन साधकों ने गुरु की अभ्यर्थना की है। कुछ कवियों ने तो यहां तक कहा है कि सतगुरु को मन में धारण किये बिना शुद्ध चिद्रूप का ध्यान करने से भी कुछ न होगा। उसी से परम सुख प्राप्त हो सकता है। यदि शुद्ध मन से गुरु की सेवा की जाय, शिवसुख उपलब्ध हो सकता है। उसकी कृपा से भ्रान्तियां नष्ट हो सकती हैं अन्यथा असम्भव है। परिणामस्वरूप जीव अविचल भक्ति और ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। गुरु की सार्थकता वहीं है जबकि शिष्य का हृदय शुद्ध, भ्रमरहित होकर सांसारिक मिथ्या भ्रमों का त्याग करके एक नियन्ता के ध्यान में स्वयं को निमग्न कर दे। ये सांसारिक मिथ्या भ्रम जीव को नाना-प्रकार के आकर्षणों में उलझाए रखते हैं। उसे गुरु का अमृतमय उपदेश भी नहीं रुचता। आत्मा अपने सहज स्वभाव अर्थात् ज्ञान से वंचित रह जाती है। अतएव इसे सहज मोह से निवृत्ति पाने के लिए गुरु का साहचर्य नितान्त आवश्यक है। कवि बनारसी दास ने लिखा है —

> सहज मोह जब उपशमै, रुचै सुगुरु उपदेश
> तब विभाव भवथिति घटै, जगै ज्ञान गुण लेश।[3]

---

१. मनराम विलास, मन्दिर ठोलियान, जयपुर वेष्टन, नं० ३९५, १० वां पद

२. हिन्दी जैनभक्ति काव्य और कवि — डा० प्रेमसागर जैन, पृ० ६

३. बनारसीदास, अध्यात्म बतीसी, बनारसीविलास, जयपुर — २५वां पद, पृ० १५६

सतगुरु की देशना आस्रवों के लिये दीवार, कर्म-कपाटों को उघाड़ने वाली और मोक्ष के लिए पैड़ी का काम करती है, किन्तु केवल उन्हीं के लिए जिनकी भवथिति घट गई है, मूढ़ तो उसका लेशमात्र भी नहीं समझता ।[१] जैन साधकों ने ओंकार को एक अत्यंत ही गूढ़ रहस्य के रूप में स्वीकार किया है । साधारण साधक उसे नहीं जान सकता सतगुरु की कृपा ही उसके रहस्य का बोध करा सकती है । गुरु के वचन ही शिष्य के हृदय से मोहरूपी विष दूर कर देते हैं और अनुभव रूपी अमृत का स्रोत बह उठता है । अज्ञानांध का तमस नष्ट हो जाता है। उसके स्थान पर प्रकाश की लहर दौड़ जाती है । मोह-जाल नष्ट हो जाता है । यह भगवान के नाम की महिमा ही है जिसे स्वीकारने के लिए सतगुरु समय-समय पर साधक को सचेत तथा सचेष्ट करता है । संसार के भ्रम से दूर होकर साधक को भगवान के नाम का जप करना चाहिए क्योंकि सतगुरु ने नाम जपने का ही उपदेश दिया है । जिसका नाम लेने से क्षणमात्र में करोड़ों पापों के जाल नष्ट हो जाते हैं; जिसके नाम रूपी ज्ञान के प्रकाश से मिथ्या-जाल स्वतः नष्ट हो जाता है, उसी के नाम को नित्यप्रति जपने और विकराल विषयों को त्यागने की बात कही है । यही कारण है कि भक्त युग-युग से भगवान की शरण में जाते रहे हैं । इस स्थिति पर पहुंच कर भक्त साधक को शान्ति और सुख की उपलब्धि होती है । आराध्य के नाम , रूप, लीला, तथा उसके गुणों में वह विशेषता है जिन पर भक्त स्वतः ही रीझ जाता है । वह सदैव अनन्त गुणों के प्रतीक भगवान का ध्यान करता है फलस्वरूप मन निरालम्ब होकर भ्रमित नहीं होता ।

जैन साधकों की भक्ति विषयक दृष्टि मध्यकालीन भक्तों से कुछ भिन्न है ।[२]

---

१. बनारसीदास, मोक्ष पैड़ी, बनारसी विलास , जयपुर, १९५४ ई०, दोहा २३,२४, पृ१३६

२. जैन धर्म में परमात्मा की स्थिति तो मानी गई है किन्तु वह सृष्टि का नियामक न होकर केवल चित्त और आनन्द का अनंत स्रोत है । वह एक ऐसी आदर्श सत्ता है जो संसार से परे है तथा संसार चक्र से उसका कोई संबंध नहीं है । वह संपूर्ण तथा एक विशुद्ध एवं परम आत्मा है । . . . परमात्मा की भावना में तो केवल एक ऐसे आदर्श की कल्पना है जिसे प्रत्येक जीव अपने कार्यों से प्राप्त कर सकता है । इस प्रकार यद्यपि हिन्दू धर्म के विशुद्ध चैतन्य और आनन्दमय परमात्मा का रूप जैन धर्म में भी है तथापि वह परमात्मा 'ब्रह्म' की शक्ति सम्पन्नता और प्रभुत्व से रहित है ।

— हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — डा०रामकुमारवर्मा, पृ०७७-७८

यद्यपि गुरु, ज्ञान, भक्ति आदि सभी विषयों का समावेश उनकी साधना पद्धति के अन्तर्गत है किन्तु दृष्टिकोण में किंचित् अन्तर है । इसी प्रकार ब्रह्म के नाम, रूप तथा उसके गुणों पर जैन साधकों ने भी विचार किया है किन्तु अवतारवाद पर उनका विश्वास कदापि नहीं रहा है । जैन मुनियों का विश्वास है कि आत्मा ही शिव, शंकर, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, ब्रह्म और अनंत है । उनका ब्रह्म अविनाशी है, वह जन्म-मरण के बंधन से मुक्त अविचल, निर्विकार तथा अमर है तभी तो वह अवतार नहीं ग्रहण करता । अवतार लेने का अर्थ हुआ जरा-मरण के बंधन में बंधकर सांसारिक मोह में फंसना । जो मरणशील है वह परमात्मा हो भी कैसे सकता है क्योंकि वह स्वयं अविनाशी नहीं है । ऐसे भगवान पर जैन साधकों की आस्था नहीं थी। अतएव इनकी नाम-साधना के अन्तर्गत आए ईश्वर के विविध नामों की चर्चा केवल भक्ति का साधन मात्र है ।' इसीलिए जैन साधक जब राम का नाम लेता है तो इसका मतलब दशरथ पुत्र नहीं , बुद्ध का नाम लेता है तो तात्पर्य शुद्धोदन का पुत्र नहीं, शंकर का नाम लेता है तो इसका मतलब कैलाशवासी शिव नहीं । कबीर के समान उसका निरंजन देव वह है जो सेवा से परे है, उनका विष्णु वह है जो संसार रूप में विस्तृत है, उनका राम वह है जो सनातन तत्व है , गोरख वह है जो ध्यान से गम्य है, महादेव वह है जो मन की जानता है। अनंत हैं उसके नाम, अपरम्पार है उसका स्वरूप।[1]

बौद्ध धर्म —

अनेक कठिन कवचों से मुक्ति दिलाने के लिए बौद्ध धर्म का अभ्युदय हुआ । अहिंसा को एकमात्र मूलमन्त्र मानने वाला वह धर्म तत्कालीन प्रचलित अन्य धर्मों से कुछ अलग था । इसने संसार का यथार्थवादी दृष्टि से मूल्यांकन किया और उसके अनुकूल कुछ सत्यों की स्थापना की । बौद्ध धर्म समष्टि साध्य धर्म था । इसी कारण कीर्तन अर्चन आदि की भी प्रतिष्ठा की गई । विहारों में बौद्ध भिक्षु समान रूप से साधना करते थे । बौद्ध धर्म वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया है । यह धर्म मूलत: आचार प्रधान था । इसके दो रूप मिलते हैं — शुद्ध धार्मिक रूप, जिसमें आध्यात्मिक ग्रन्थियों को बिना खोले हुए जीवन निर्वाह तथा व्यवहार के निमित्त आचार का सरल प्रतिपादन है ।

---

१. कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ०

तथा दूसरा दार्शनिक रूप, जिसमें प्रकाण्ड बौद्ध पण्डितों ने बुद्ध के आचार प्रधान उपदेशों की आध्यात्मिक व्याख्या कर शुद्ध तर्क के बल पर तथ्यों का गंभीर अन्वेषण किया है[१]।

बौद्ध धर्म मेंअसीम सत्ता की मीमांसा करने के लिए भगवान् बुद्ध द्वारा प्रवर्तित मुख्यत: चार विशिष्ट दार्शनिक सम्प्रदायों की सत्ता का प्रतिपादन किया गया है ।[२] ये विभिन्न सम्प्रदाय समीक्षा की दृष्टि से अपनी मान्यताओं को अलग-अलग प्रस्तुत करते हैं । प्रमुख रूप से शून्यवाद को बौद्धों ने तत्वसमीक्षा का चरम उत्कर्ष माना है । उपासक की भावना के अनुरूप ही इस शून्य तत्व की अभिव्यक्ति विविध रूपों में होती है । बौद्ध धर्म की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है — " यह धर्म अपनी पूर्ण शक्ति के साथ देश-विदेश में अपनी विजय की दुंदुभी बजाता रहा । वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता और हिंसा की प्रतिक्रिया में, सहानुभूति और सदाचार द्वारा आत्मवाद के विनाश से तृष्णा और दु:ख रहित निर्वाण की प्राप्ति करना ही बौद्ध धर्म का आदर्श रहा ।[३]

वैदिक हिंसा, यज्ञ तथा वेद विरोध में बुद्ध ने दुखवाद एवं करुणा के आधार पर अपनी मान्यताओं की स्थापना की । ब्राह्मणवाद के विरोध में क्षत्रियों का अभ्युदय हुआ । इनकी साधना में प्रकारान्तर से परिवर्तन होते गए । चरित्र की श्रेष्ठता के साथ ही साधना के अन्तर्गत योग, पर बल दिया गया । त्याग तथा तितिक्षा इनका प्रथम कर्तव्य माना गया । वैदिक ब्रह्मवाद का विरोध , इन साधकों का चरम उद्देश्य बना ।

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास—प्रथम भाग, सम्पा० राजबली पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ० ४४६

२. वही, पृ० ४५३ से ४५४ तक
  (१) वैभाषिक (बाह्यार्थ प्रत्यक्ष वाद)
  (२) सौत्रांतिक (बाह्यार्थानुमेय वाद)
  (३) योगाचार (विज्ञानवाद)
  (४) माध्यमिक (शून्यवाद)

३. हिन्दी सा० का आ० इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ५१

तर्क तथा अनुभव के आधार पर साधनागत नियमों को स्वीकार किया । अनुशासन, संयम, सदाचार तथा सत्कर्म को साधना का विशेष अंग माना । नैतिक आचरण पर बल देते हुए प्राचीन विचारों का खण्डन किया । परिणामस्वरूप जाति-पाँति के भेदभाव में इनका अविश्वास रहा । बौद्ध धर्म सिद्धान्ततः अनात्मवादी है ` यह मत ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता । इसकी मान्यता है कि सम्यक् संबुद्ध साधक बुद्धत्व प्राप्त कर सकता है, क्योंकि उसे निर्वाण की प्राप्ति हो गई होती है । निर्वाण-अज, अनादि, अचल, सनातन, संरक्षक तथा परम् सत्य है । इस अवस्था को प्राप्त साधक उन सभी विशेषताओं से युक्त हो जाता है जो सगुण-वादियों के ईश्वर या निर्गुणवादियों के परब्रह्म में हो सकती है ।[१]

आचरण की विशुद्धता एवं दार्शनिक गहराई के कारण इस मत का प्रचार एवं प्रसार दूर-दूर तक हुआ । ईसा की प्रथम शताब्दी में बौद्ध धर्म महायान और हीनयान इन दो सम्प्रदायों में विभाजित हुआ ।

भगवान् बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् बौद्ध धर्मभेदों रूप प्रचलित हुए — महायान और हीनयान । महायान बौद्ध धर्म का परिवर्तित रूप माना जा सकता है इस मार्ग को मानने वाले साधकों में बुद्ध के अतिरिक्त अन्य का भी अनुसरण किया है । इनकी दृष्टि सुधारवादी थी परिणामतः इनकी साधना पद्धति में भक्ति का भी समावेश हुआ और श्रद्धा तथा भक्ति द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति को सुलभ कहा गया है । समष्टिवादी दृष्टिकोण होने के कारण विश्व-कल्याण की भावना का उदय हुआ । ये साधक बुद्ध भगवान को परमात्मा मानकर पूजन के पक्षपाती हुए । परिणाम-स्वरूप कालान्तर में इस मार्ग के मानने वालों की संख्या में बड़ी वृद्धि हुई । जब कि हीनयान बौद्धधर्म का प्राचीन रूप माना जा सकता है । इन साधकों ने केवल बुद्ध भगवान का ही अनुसरण किया । ये अपनी साधना के संदर्भ में कट्टर पंथी थे । इनका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी था । ये स्वतः उद्धार की भावना से प्रेरित थे । अनीश्वरवादी होने के

---

१. हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा में भक्ति —डा० श्यामसुन्दर शुक्ल, पृष्ठ १२१

कारण पूजा-पाठ में इनका विश्वास नहीं था ।[१]

आगे चल कर महायान की भी कई प्रशाखायें हो गईं । महायान की सरल साधना मन्त्रयान में परिवर्तित हो गई । मन्त्रों द्वारा सिद्धि पाने वाले साधकों को सिद्ध साधक कहा गया । " धर्म ज्यों-ज्यों योग और मंत्र में सिमटता गया त्यों-त्यों रूढ़ि और अंधविश्वासों में और भी ग्रसित होता गया और जिस धर्म ने हिंदुओं को पुरोहितवाद के चक्कर से छुड़ाने का बीड़ा उठाया था वही अबजनता को भरमाने के लिए योगाचार और मंत्रों का सहारा लेने लगा"।[२]

इन तंत्र तथा मन्त्रों का प्रचार एवं प्रसार व्यापक रूप से हुआ । परिणामस्वरूप इन साधकों को राज्याश्रय मिलता गया । अब ये मन्त्रयानी साधक अपनी साधना में केवल मन्त्रों तक सीमित न रह कर योगपरक साधना की ओर प्रवृत्त होते गये । इस प्रकार मन्त्रयान वज्रयान में परिवर्तित हो गया । महायान मत का 'शून्य' ही वज्रयानियों में वज्र के रूप में प्रतिष्ठित हुआ । डा० भारती का कथन है कि चिन्तना , साधना, मंत्र, देवता, तंत्र, योग, आचार, भाषा और जीवन दर्शन इतना सर्वग्राही कभी नहीं रहा जितना सिद्ध काल में । एक ओर समस्त सांसारिक बंधनों और भवजाल से मुक्त होकर अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि की साधना को ही श्रेयस्कर बताया गया है तो दूसरी ओर शान्ति, वशीकरण, स्तंभन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण आदि षट्कर्मों और छ: अभिचारों का भी विस्तृत विधान है । एक ओर जहाँ चक्रों और हठयोग का विधान है वहीं दूसरी ओर केवल सहज मन की साधना है ।[३] वज्रयान से आगे बढ़ने पर सहजयान का उदय होता है ।

---

१. महायान में सिद्धान्त परम्परा अधिक नहीं रही, उसमें लोक-भावना का मेल इतना अधिक हो गया कि निर्वाण के लिए सन्यास और विरक्ति के पर्याय लोक-कल्याण और आचार की पवित्रता प्रधान हो गई तथा वह वर्ग-भेद से उठ कर एक सार्वजनिक धर्म बन गया । हीनयान में ज्ञानार्जन, पांडित्य और व्रतादि की कठिन मर्यादा बनी रही । बौद्धधर्म का चिंतन पक्ष हीनयान में रहा और व्यावहारिक पक्ष महायान में ।"

—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास— डा० रामकुमार वर्मा, पृ०५१

२. संस्कृति के चार अध्याय —श्री दिनकर, पृ० १६०

बौद्ध सिद्धों के अनुसार बिना काया-क्लेश के जो साधना-सिद्धि अथवा निर्वाण की प्राप्ति करा सके वही सहजयान है। डा० भारती ने वज्रयान और सहजयान को एक ही अर्थ का द्योतक माना है। इस साधना में चित्त-निग्रह पर बहुत बल दिया है। तान्त्रिक उपासना मार्ग होने के कारण गुरु के महत्व को विशेष रूप से स्वीकार किया है। ध्यान और योग साधना पर सिद्धों का विशेष बल था। ध्यान सम्प्रदाय में भरत सिंह उपाध्याय ने लिखा है -" ध्यान बौद्ध धर्म का हृदय है।" भगवान् बुद्ध की समस्त साधना ही ध्यान साधना है। जिस प्रकार बिना प्रार्थना या नाम स्मरण के भक्ति की साधना छूछी है, उसी प्रकार बिना ध्यान के बौद्ध धर्म का कोई अर्थ नहीं है। बिना ध्यान किये कोई बौद्ध नहीं होता, जिस प्रकार बिना नामस्मरण के कोई वैष्णव या भक्त नहीं है[१]।" अनेक ध्यान-योगी अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये बुद्ध के नाम का जप करते थे। डा० उपाध्याय ने अपनी इसी पुस्तक में एक विशेष सम्प्रदाय की चर्चा की है जिसका नाम" सुखावती" सम्प्रदाय है। इस सम्बन्ध में उन्होंने कुछ पुस्तकों का भी उल्लेख किया है। साधना-विधि के अन्तर्गत उन्होंने नाम-जप का ज्ञान आवश्यक बताया है।" सुखावती सम्प्रदाय का मुख्य मंत्र है "नम: अमितबुद्धाय" जिसका लाखों की संख्या में जप करना इस सम्प्रदाय के साधक अपना परम कर्तव्य समझते थे... इस प्रकार नाम-जप बौद्ध साधना में नैतिक जीवन की प्राप्ति के लिए और सत्य के साक्षात्कार के लिए एक प्रभावशाली साधन-सम्भवत: यह नाम-जप साधना भारतमें प्रचलित थी।"[२]

महायानी साधक अपनी उदारता के कारण विभिन्न प्रकार के दूसरे धर्मों से प्रभावित हुए बिना न रह सके। वैष्णव धर्म के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उसमें देववाद का आगे चलकर प्रवेश हुआ। यहाँ तक कि बुद्ध भगवान को अवतार के रूप में ग्रहण किया जाने लगा। बौद्ध धर्म के देवी-देवताओं को सुन्दर-सुन्दर

---

१. वही, पृ० ८ (सिद्ध साहित्य — डा० धर्मवीर भारती)

२. ध्यान सम्प्रदाय—डा० भरतसिंह उपाध्याय, पृ० १६

स्तूपों में सुरक्षित रखे जाने की प्रेरणा हुई । पूजा-विधान का भी निर्माण हुआ । इस प्रकार बौद्ध धर्म में भक्ति का समावेश होने लगा । भगवान बुद्ध को अवतार समझा गया ।

बौद्ध धर्म प्रारम्भ में अनात्मवादी अवश्य था किन्तु तान्त्रिक उपासना के प्रभाव में आकर उसका बहुत कुछ स्वरूप विकृत हो गया । बौद्धधर्म महायान, मन्त्रयान, वज्रयान तथा सहजयान आदि विविध शाखाओं में आगे बढ़ता गया और अपने इस विकास की अवस्था में उत्तरोत्तर वह निम्नकोटि की भोगपरक साधना में लीन होता गया । अन्त में वह अपने मूल से पूर्ण रूप से हट कर योगमार्गी नाथ-सम्प्रदाय के रूप में स्थिर हुआ । नाथ-सम्प्रदाय ने हठयोग को लेकर अपने मत का प्रचार किया । नाथ-सम्प्रदाय ने हठयोग को लेकर अपने मत का प्रचार किया । नाथ-पंथ का विशेष प्रचार दसवीं शताब्दी के आस-पास हुआ । "नाथ-पंथ वज्रयानी सम्भोग-साधना के विरुद्ध शुद्ध हठयोगी थे ।"[१]

नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोरखनाथ माने जाते हैं ।[२] योगमार्ग द्वारा इन्होंने ईश्वर से साक्षात्कार करने का मार्ग बताया । "बुद्ध सिद्धों के शून्यवाद से तत्कालीन वैदिक धर्म में आस्था रखने वाली जनता धीरे-धीरे असंतुष्ट होने लगी और वह ईश्वर का अनुसंधान करने लगी । तत्कालीन समाज की इस अनुसंधानात्मक प्रवृत्ति ने नाथ-सम्प्रदाय को जन्म दिया ।[३] अस्तु नाथ-सम्प्रदाय में ईश्वर का प्रतीक

---

१. संत वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव — डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, पृ० ७४

२. गोरखनाथ ने सम्प्रदाय को जिस आंदोलन का रूप दिया, वह भारतीय मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ । उसमें जहाँ एक और ईश्वरवाद की निश्चित धारणा उपस्थित की गई वहाँ दूसरी ओर विकृत करने वाली समस्त परम्परागत रूढ़ियों पर भी आघात किया, जीवन को अधिक से अधिक संयम और सदाचार के अनुशासन में रखकर 'आध्यात्मिक' अनुभूतियों के लिए सहज मार्ग की व्यवस्था करने का शक्तिशाली प्रयोग गोरखनाथ ने किया ।"

— डा० रामकुमार वर्मा

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास — डा० जगदीश श्रीवास्तव, तथा हरेन्द्रप्रताप सिनहा, पृ० ३०

शून्य को मानकर उसकी साधना की गई । इसके अतिरिक्त शैवमत तथा पातंजल-के योग-दर्शन का भी इनकी साधना पर प्रचुर प्रभाव पड़ा । इनकी साधना में हठयोग के साथ ही साथ ज्ञानयोग का महत्व प्रतिपादित हुआ । सांसारिक विषयों से विरक्त होकर ईश्वर की प्राप्ति के निमित्त साधना पर इन हठयोगी साधकों ने बल दिया है । प्राण-साधना , इन्द्रिय-निग्रह, मन-साधना, द्वारा साधना की सिद्धि स्वीकार की गई है । योग-साधना द्वारा साधक समाधिस्थ होने की स्थिति तक अभ्यास करता है तत्पश्चात् इसी क्रम में अजपा जप की स्थिति आती है । जबकि बिना किसी प्रयास के निरन्तर स्वाभाविक रूप से जप की क्रिया चलती रहती है । अन्त मे अनाहद नाद की उपलब्धि होती है । इन साधकों की आस्था सगुण-निर्गुण से परे शक्ति पर थी । फलस्वरूप अनुभूति का पक्ष सबल है । परम्पराओं पर इनका विश्वास नहीं था इसीलिए वैदिक सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं किया । इन्होंने द्वैतवाद या अद्वैतवाद दोनों से परे अपने को सर्वातीतवादी कहा है ।

गुरु के महत्त्व को विशेष रूप से स्वीकार किया है । नाथ-पंथियों ने इन्द्रिय-निग्रह द्वारा सांसारिक विषयों से विरत होने की बात की है । जीव स्वयं इस कठिन कार्य को नहीं कर सकता । उसे किसी पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता होती है जो जीव को इस विरक्तावस्था तक ले आये । गुरु ही वह मार्गद्रष्टा है जो साधक को सांसारिक विषयों से विरक्त कर सके । अतएव इस सम्प्रदाय में गुरु की आवश्यकता को सर्वप्रथम स्वीकार किया गया है । परिणामस्वरूप नाथ सम्प्रदाय का आरम्भ ही गुरुमंत्र से होता है । गुरु ही ईश्वर की वास्तविक अनुभूति करा सकता है ।

निष्कर्ष --

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में `नाम` की जो शृंखला आरम्भ से प्रस्तुत की गई उसको परवर्ती साहित्य में विभिन्न परिवर्तनों के साथ विशेषताओं से सम्बद्ध किया गया । निरन्तर उपासना के संदर्भ में प्रतीको - पासना का महत्व आदिकाल से ही स्वीकार किया गया है । शास्त्रों में प्रणवमन्त्र

अथवा ओंकार को मन्त्रराज कहा गया है क्योंकि उसकी उपासना से परब्रह्म की प्राप्ति होती है। प्रतीकों द्वारा निर्गुण ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है। शास्त्रों में तो उपासना के अनेकानेक साधनों का निर्देश किया है। वस्तुत: इन समस्त उपासनाओं को शास्त्रनिर्देशानुसार करने का आदेश है। इसमें सहायक रूप में गुरु को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यद्यपि ब्रह्म को अदृश्य शक्ति के रूप में माना है तथापि उसके साक्षात्कार के लिये अनेकों साधनों का निर्देश है। वेदों में उसे असाध्य कहा गया है किन्तु उसके अनन्त गुणों की उपासना द्वारा साधक उसे अव्यक्तता की परिधि से बाहर खींच लाता है। उसे सत्य, ज्ञान, आनन्द के रूप में स्वीकार करके उसकी उपासना करता है।

साकार, निराकार, सगुण-अगुण, नित्य, निरंजन, निर्विकार, सर्वोपरि, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् परमात्मा वस्तुत: एक ही हैं। वे एक ही अनेक नाम तथा रूप में लीला करते हैं। रुचि वैचित्र्य के कारण साधक एक ही शक्ति को अनेक नामों में पूजता है। तन्त्रशास्त्र में तो मन्त्रों का विशेष महत्व रहा है उनकी तो समस्त उपासना विधा एवं साधना पद्धति का आधार ही तन्त्र-मन्त्र है।

इसी प्रकार जैन साधना में ध्यान जपादि पर विशेष रूप से बल मिलता है। ध्यान की प्रक्रिया में आराध्य का नाम-स्मरण प्रमुख स्थान रखता है। यही मन्त्र जप है। "आत्मा का ध्येय तो एक परमात्मा ही है। उस लक्ष्यबिन्दु को सामने रखकर नाम जप करने में कोई आपत्ति नहीं है। परमात्मा में अनन्त गुण होने से उन गुणों के चिन्तन रूप मन्त्रजप के भी अनेक प्रकार हो सकते हैं।"[१] इस प्रकार ध्यान का लक्ष्य परब्रह्म ही है किन्तु मन की एकाग्रता के बिना उसे प्राप्त करना तो क्या उसका चिन्तन करना भी दुरूह है। अतएव किसी भी प्रतीक द्वारा जपकी प्रक्रिया प्रारम्भ करना होता है और यही नामोपासना है।

बौद्धों की उपासना पद्धति में गुरु को बहुत बड़ा महत्व प्रदान किया गया है। बौद्ध साधना प्रधानत: तीन भागों में विभाजित है -- "हीनयान" --

---

१. उपासना अंक-- कल्याण, जनवरी १९६८, पृ० १०५

'महायान' और 'वज्रयान'। ये साधक 'तन्त्रों' 'मन्त्रों' द्वारा ही अलौकिक सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार नाम-भक्ति की यह शृंखला कभी टूटी नहीं। प्रत्येक युग में साधकों द्वारा इसे किसी न किसी रूप में ग्रहण करने का प्रयास परिलक्षित होता है।

द्वितीय अध्याय

नाम साधना : तत्त्वचिंतन

(क) नाम-साधना का जो रूप साहित्य में उपलब्ध होता है उसके पीछे धार्मिक क्रियाओं तथा दार्शनिक अनुचिन्तन का सुनिश्चित योगदान मिलता है। जिसके कारण उसकी आधार भूमि अत्यन्त दृढ़ दिखाई देती है। प्रत्येक क्षेत्र स्वतंत्र रूप से भी अपनी महत्ता रखता है और एक दूसरे से प्रगाढ़ रूप से सम्बद्ध भी हैं। भारतवर्ष की दार्शनिक चिन्तनधारा को समग्रत: देखने पर यह ज्ञात होता है कि जिन साधना-प्रक्रियाओं का ऊपरी रूप असाधारण दिखाई देता है उनके पीछे भी चिन्तन की गहरी धारा प्रवाहित मिलती है। बहुधा आधुनिक मनोविज्ञान अपनी नवीन अन्वेषण विधियों तथा चिन्तन पद्धतियों के द्वारा जिन निष्कर्षों पर पहुंचता है वे सूक्ष्मरीति से सूत्र रूप में साधना परक ग्रन्थों में पहले से ही विद्यमान रहे हैं। फिर भी धार्मिक दृष्टि और मनोवैज्ञानिक दृष्टि में सापेक्षता का स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। धार्मिक पक्ष में भी विशुद्ध भावात्मक धरातल और जपादि आवृत्तिमूलक क्रियाओं का भावरहित स्तर पर्याप्त भिन्न दिखाई देता है उसका एकीकरण साधक की निष्ठा और संवेदनशीलता के द्वारा ही घटित होता है। ये सब प्रसंग पर्याप्त जटिल हैं और इनके विषय में बहुत कुछ सोच-विचार देश-विदेश के प्राचीन एवं नवीन चिंतकों ने किया है। बिना उसका परिचय प्राप्त किये प्रस्तुत विषय के साथ न्याय करना सम्भव नहीं। इसी दृष्टि से यह द्विधा विभाजित सामग्री प्रस्तुत की जा रही है।

भक्ति-साहित्य में मध्यकालीन संत-कवियों ने ब्रह्म की उपासना में नाम को जो विशिष्ट महत्व दिया है वह उनके अन्तर्जगत की सबसे सुलभ और प्रभावशालिनी साधना-प्रणाली है। इसका एक विशेष कारण यह है कि नाम की अन्तर्भावना स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म में अधिक है। महात्मा तुलसी ने तो राम से भी अधिक राम के नाम को महत्व दिया है। राम के व्यक्तित्व को समझने की क्षमता सामान्य साधक के पास नहीं है। जब ब्रह्म का अवतरण किसी व्यक्ति विशेष में होता है तो व्यक्तित्व की सीमा में वह असीम ब्रह्म किस प्रकार से अथवा कितने रूप में प्रकट हो सकता है यह एक रहस्यात्मक स्थिति है। यही कारण है कि संतों ने निर्गुण की अपेक्षा सगुण को समझने में कठिनाई अनुभव की है।[1] असीम तो अपने रूप में एक रस और निर्विकार है किन्तु सीमा में बंधने पर उस असीम का निर्विकार रहते हुए भी किस भांति स्थानान्तरण होता है यह साधकों के लिये एक जटिल प्रश्न है। यही कारण है कि सगुणोपासना में अवतार के व्यक्तित्व को महत्व न देकर उसके नाम को महत्व दिया गया है क्योंकि नाम स्थिर, सीमित, शाश्वत और एक रूप है जो साधक के द्वारा सरलता से ग्रहण किया जा सकता है। यह दूसरी बात है कि साधक अपनी आन्तरिक वृत्ति के अनुसार चाहे जिस नाम को ग्रहण करे तथा रागात्मिका वृत्ति से परिचालित होकर उस नाम के माध्यम से चाहे जिस रूप और लीला की कल्पना करे।

--------भक्ति-साधना के क्षेत्र में ब्रह्म की अनुभूति के लिए अनेक साधन माने गये हैं। कर्म

१. निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोय, सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होय
— रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहा ७३

और उपासना की दिशा में जितने विस्तार से साधना की दिशाओं की विविधता लक्षित हुई है वह सामान्यत: परिस्थितियों और सम्भावनाओं पर आश्रित है। उस मार्ग में साधकों की निष्ठा ब्रह्म को केन्द्र-बिन्दु बनाकर संयोजित की जाती है। किन्तु इन्द्रियों से अनुशासित मन उस कर्म एवं उपासना के क्षेत्र में किस सीमा तक स्थिर रह सकता है यह चिन्त्य है। भक्तों ने मन को मदमत्त हाथी की संज्ञा दी है। यह जिस ओर चला जाता है उसी ओर समस्त साधना चूर-चूर हो जाती है। इसलिए विविध कर्म-काण्डों की जटिलता में मन का स्थिर रहना संभव नहीं है। और यह तो स्पष्ट ही है कि मन की एकाग्रता के बिना कोई भी साधना सिद्धि में परिणत नहीं हो सकती। भक्त कवियों ने इसी अस्थिरता से मुक्ति पाने के लिए साधना के क्षेत्र में नाम का प्रतीक स्वीकार किया है। उनका अनुभव-सिद्ध प्रमाण है कि नाम ही वह जंजीर है जिससे मन रूपी हाथी बांधा जा सकता है। इस भांति एकाग्रता को सहज रूप से अर्जित करने के लिए समस्त साधनाओं में नाम-साधना प्रमुख समझी गई। यह साधना दो रूपों से सिद्ध हो सकती है। पहला वाह्य रूप है और दूसरा आन्तरिक है। इसे विकास के दो सोपान समझ कर साधकों ने एकाग्रता पर अधिकार पाने का प्रयत्न किया है। इस पर कुछ विस्तार से विचार किया जा सकता है।

नाम-साधना के परिप्रेक्ष्य में ब्रह्म का स्वरूपगत विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टि से ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण रूप का अध्ययन नाम-साधना का मूल आधार है।

ब्रह्म का निर्गुण रूप --

मनीषियों, दार्शनिकों अथवा विचारकों ने जिसे 'नेति-नेति' कह कर सम्बोधित किया उसी को अचिन्त्य ब्रह्म की संज्ञा मिली। किन्तु 'नेति- नेति' से उसके स्वरूप का न तो कोई भास होता है और नही उसके गुण-अवगुण का ही। यदि वह कुछ नहीं है तो हमारा उसका सम्बन्ध कैसा ? मानव-मन की यह सहज गति है कि कोई केन्द्र ऐसा हो जिस पर उसका मन स्थिर हो सके तथा वह जिसके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर सके। किन्तु "नेति-नेति" कहने से प्रश्न सुलझता नहीं वरन् और भी जटिल होने की सम्भावना आ जाती है। यदि वह कुछ नहीं है, हमारी सीमा से परे है तो वह क्या है जिसके लिए हमारे मनीषियों ने अपनी समस्त साधना अर्पित कर दी फिर भी उससे साक्षात्कार नहीं कर सके ? रूप के अभाव में उसके गुण-अवगुण कुछ भी नहीं हो सकते। विकार की तो कोई सम्भावना

ही नहीं हो सकती । इतना होने पर भी प्रकृति से इतर हम कोई शक्ति मानते ही अवश्य हैं जिसमें इस `समस्त` को संचालित करने की शक्ति है । कबीर के शब्दों में `मैं क्या जानों राम को नैनों ` कभी न दीठ` इस अचिन्त्य की बहुत बड़ी विशेषता है ।

कठिनाई उपासना अथवा साधना के क्षेत्र में आती है । जबकि वह `रूप-रेख-गुन बिन ` है , इन्द्रियों से परे हैं तो साधक किस माध्यम से उसे समझे । कल्पना भी सम्भव नहीं है क्योंकि कल्पना का भी कोई न कोई पूर्व आकार होना आवश्यक है । अचिन्त्य जो हमारी सोचने-समझने की शक्ति से परे है वह शब्दों की सीमा का बंधन कैसे स्वीकार कर सकता है अथवा हम जो कुछ भी कहेंगे वह सत्य ही है, इसका निर्धारण कौन कर सकता है ।

सम्भवत: दार्शनिकों ने इसी कठिनाई का निराकरण करने के लिए प्रकृति से इतर अज्ञात रूप से कार्य करने वाली उस शक्ति को ही अचिन्त्य ब्रह्म की संज्ञा दे दी, अर्थात् जितनी भी सम्भावनायें हैं वह सब प्रकृति के अन्तर्गत मान ली गई और इन सम्भावनाओं से परे जो शक्ति कार्य कर रही है वही अचिन्त्य है ।

इसके बाद भी अनेकों प्रश्न उठते हैं कि जो कुछ जगत से इतर है वह क्या है ? अथवा उसे किस प्रकार समझा जाय ? वह है भी या नहीं । बादरायण व्यास ने ब्रह्म सूत्र के प्रारम्भ में ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा व्यक्त करते हुए लिखा है — `जन्माद्यस्य यत:` जो विश्व के जन्म , स्थिति और संहार का कारण है वह ब्रह्म है । यह ब्रह्म परिवर्तनशीलों में अपरिवर्तनीय, अनित्यों में नित्य, मर्त्यों में अमर्त्य और अन्तिम सत्य है । प्रकृति के रूप विभक्त हो सकते हैं परन्तु यह अविभाज्य, एकरस, शाश्वत सत्ता है ।

ब्रह्म परम्परा का प्रचलन वेदों से ही प्रारम्भ हो गया था । उपनिषदों में उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी और ब्रह्म के व्यक्त-अव्यक्त दोनों स्वरूपों का विवेचन भी हुआ था । गीता-दर्शन तथा अन्य दर्शन में परमार्थ सत्य से सम्बन्धित अन्वेषण एवं गवेषणा होती रही । अपने-अपने अनुभवों के आधार पर सभी दार्शनिकों ने ब्रह्म के नाम, स्वरूप, संख्या आदि का विवेचन किया । ` योगदर्शन के अनुसार ईश्वर परम पुरुष है जो सभी दोषों से रहित है/वह नित्य सर्वव्यापी,

सर्वशक्ति मान परमात्मा है । वह नित्य, मुक्त है । वह सर्वबंधन रहित है, निर्विकार, पूर्ण, अनंत और अद्वितीय है ।' जो मन द्वारा नहीं जाना जा सकता पर मन जिससे है, आँखें जिसे देख नहीं पातीं पर जिससे आँखें देखती हैं वह ब्रह्म है ।'[1]

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेदों से शून्य है । ब्रह्म निर्गुण निराकार एवं निर्विशेष है । स्वरूप लक्षण की दृष्टि से वह सत्य, ज्ञान व अनन्त स्वरूप वाला है । सगुण सर्वेश्वरादि उसके तटस्थ लक्षण हैं । ब्रह्म शुद्ध चैतन्य है, वह जगत का न तो निमित्त कारण है न उपादान । वही शुद्ध परमात्मा जब माया-रूप उपाधि से युक्त होता है तब ईश्वर कहलाता है । वह किसी भी प्रकार की विशेषता से शून्य अर्थात् निर्विशेष है । ' वह इस प्रकार का है' ऐसा नहीं कहा जा सकता । वह अचिन्त्य होने के कारण मन का भी अविषय है । अनिर्वचनीय की परिभाषा चित्सुखाचार्य ने इस प्रकार की है –

> प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं नयत् ।
> गाहते तदनिर्वाच्य-माहुर्वेदान्तवादिनः ।।[2]

अर्थात् जो सत्वेन-असत्वेन और सद्-असद् उभयत्त्वेन विचार का विषय न हो वही अनिर्वचनीय कहा जाता है । अर्थात् जो सत् नहीं है, असत् भी नहीं है । सत्-असत् उभय रूप भी नहीं है वही अनिर्वचनीय है । अनिर्वचनीय माया का यही स्वरूप वेदान्तियों ने स्वीकार किया है । शंकराचार्य सत्ता का अस्तित्व स्पष्टतः मानते हैं पर वह सत्ता वर्णित नहीं हो सकती । वह तो गो, गोचर, मन तथा वाणी से सर्वथा परे है ।

कठोपनिषद् में इस प्रकार उल्लेख मिलता है – ' जो शब्द रहित, स्पर्श-रहित , रूप-रहित, रस-रहित, गंध-रहित है तथा जो अविनाशी, नित्य, अनादि , अनन्त महान्, सर्वश्रेष्ठ सर्वथा सत्य है, उसे जानकर जीव सदा-सदा के लिए मृत्यु के मुख से छूट जाता है । मुण्डक का कथन है कि –' वह ब्रह्म चक्षु, वाणी, तप, कर्म, आदि का विषय न होकर ज्ञान से संयुक्त सतत ध्यान का विषय है ।'[3]

---

1. केनोपनिषद् १।५–६
2. षड्दर्शनरहस्य– पं० रंगनाथ पाठक, पृ० ३०३
3. अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा रसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
   अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।। –कठोपनिषद्–१।३।१५

इन दार्शनिकों के अनुसार ब्रह्म एक सत्ता है जो अरूप, निराकार, अनाम है, वह अचिन्त्य है। ये लोग मानते हैं कि उस पर एक आवरण है जो निरावरण नहीं हो सकता। किन्तु वह है अर्थात् उसे शक्ति रूप में स्वीकृत किया गया है। जब हम उसकी स्थिति स्वीकार करते हैं तो उसकी संज्ञा भी दी जा सकती है। सम्भवत: इसी स्थिति को समझने के लिए दार्शनिकों ने द्वैताद्वैत विलक्षण की स्थिति स्वीकार की है जो तुलसी के शब्दों में "बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना, कर बिनु कर्म करइ विधि नाना" के रूप में हमारे समक्ष अवतरित होता है। अस्तु वह प्रकृति की सीमा से परे रहकर भी प्रकृति में व्याप्त है। अणु-परमाणु सभी में उसका अस्तित्व है। केवल उसका अनुभव करने की आवश्यकता है किन्तु यह अनुभव भी निराकार नहीं हो सकता। साधक की सहज-प्रवृत्ति किसी गन्तव्य की ओर होती है। निराधार होकर वह गुमराह हो सकता है, गन्तव्य से भटक सकता है। रूप, रेख, गुन के अभाव में मन की चंचल प्रवृत्ति कहीं रमती नहीं है। मन की एकाग्रता के लिये किसी आधार की आवश्यकता होती है। सम्भवत: यही कारण है कि भक्त कवियों ने भक्ति के क्षेत्र में आलम्बन को नितान्त आवश्यक माना है।

किन्तु उस आलम्बन का उद्गम अथवा उसका स्रोत क्या है, कहाँ है जिस शक्ति द्वारा यह सभी कुछ संचालित होता है? प्रत्येक प्रत्यक्ष का कोई न कोई परोक्ष कारण अवश्य होता है। इसी विश्वास को लेकर यदि हम चलें तो हमें अचिन्त्य की सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ेगी, जिससे परे हम अस्तित्व विहीन हैं। यही नियामक तत्व अचिन्त्य ब्रह्म है जो इस जीवन का भी जीवन है। नि:संदेह वह कोई शक्ति है जो विभिन्न रूपों में कभी प्रकृति के माध्यम से कभी मानव के माध्यम से प्रकट होती है। यह समस्त सचेतनता उसी की शक्ति का प्रतीक है। यह क्रियाशीलता ही उसके अस्तित्व की अनुभूति है।

उपर्युक्त दार्शनिक शृंखला के पर्यालोचन से निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्म ही विश्व का मूल तत्व है। वह निर्गुण, निराकार, अव्यक्त तथा अचिन्त्य है तथा अपने व्यक्त रूप में वही सृष्टि का कर्ता एवं संहारक आदि भी है।

मध्यकालीन संतों ने इसी ब्रह्म की प्रतिष्ठा की है। वेदान्तियों की भांति अथवा शंकर के मतानुसार संत भी एक सत्ता में विश्वास करते हैं किन्तु वह सत्ता सर्वथा अनिर्वचनीय है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता अथवा उसे कोई भी संज्ञा नहीं दी जा सकती। इस अज्ञेय तत्व को समझाने के लिए संतों ने कुछ विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग किया है, जिससे उस अचिन्त्य का बोध होता है। कबीर में यह शब्दावली बहुतायत से प्रयुक्त हुई है। सुरति, निरति, शून्य, खसम, सहज आदि कुछ ऐसे ही शब्द हैं जिनके द्वारा इन्होंने उस असीम को सम्बोधित किया है अथवा उसके प्रति उत्पन्न जिज्ञासा-वृत्ति का समाधान करने में इन शब्दों का प्रयोग अधिक किया है। अनुभूति के उच्चतम स्वरों पर कबीर का सोऽहमस्मि और 'सहज' समान गति से चलता है। संतों की दृष्टि में दोनों स्थितियों में कोई अन्तर नहीं है।

अचिन्त्य को समझने के लिए सूक्ष्म वृत्ति की आवश्यकता पड़ी। सूक्ष्म होने के कारण वह सहज इन्द्रिय गम्य नहीं। अस्तु बुद्धि-तत्व की प्रधानता मान्य हुई। किन्तु भक्ति के क्षेत्र में यह सभी कठिनाइयां दूर हो जाती हैं। जब साधक 'नाम' का आश्रय ग्रहण कर उसके रूप-गुण की चर्चा करता है। स्थूल रूप में किसी भी वस्तु का मूल्यांकन किया जा सकता था किन्तु अचिन्त्य जो कल्पनातीत है, के वर्णन में शब्दों की सीमा भी कुण्ठित हो जाती है। उस ब्रह्म के, जो एक है, अनीह है, अनाम है, सत्-चित्-आनंद-स्वरूप है, इन सबसे परे भी कुछ विशेष है तथा जहां इन्द्रिय-ज्ञान अक्षम हो जाता है, विषय में कुछ भी कहना नितान्त असम्भव है जबकि उसका परिवेश ज्ञात नहीं है। इन्द्रियां स्थूलगत परिवेश में स्वयं पूर्ण हैं किन्तु ब्रह्म की स्थिति सूक्ष्म है। उसकी अनुभूति विषयगत इन्द्रियों से कदापि सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में उसकी सत्ता के प्रति साधक की आस्था डगमगाने लगती है। वह अचिन्त्य ब्रह्म की स्थिति का सही मूल्यांकन नहीं कर पाता। फलस्वरूप उसे बोधगम्य बनाने के लिये साधक को 'नाम' का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है।

वेदों से लेकर भक्ति-काल तक समय-समय पर ब्रह्म के किसी न किसी स्वरूप को मान्यता मिलती रही है। कभी वह शक्ति के रूप में, कभी तेज के रूप में और इससे अलग भी वह किसी न किसी प्रकार की शक्ति के आह्वान के कारण कोई न कोई "नाम" अवश्य ग्रहण करता रहा है। उसे समझने में सुगमता लाने के लिये यह साधन अपनाया गया। जैसे-जैसे हम इन शक्तियों पर विश्वास करते गये वे ब्रह्म की सूचक बनती गईं। अन्त में जब अचिन्त्य की कल्पना समक्ष आई तो उसे भी हम ने नाम दे दिया। उसकी अभिव्यक्ति का एक मात्र सर्व सुलभ साधन "नाम" ही माना गया।

मध्ययुगीन भक्तों ने इस भाव-गृहीत रूप का बड़ा विशद वर्णन किया है। जो ब्रह्म अचिन्त्य है, जिसकी हम परिकल्पना ही नहीं कर सकते फिर उसके साथ हमारा क्या सम्बन्ध हो सकता है तथा उसका कोई नामरूप कैसे हो सकता है? ज्ञानी उसे आत्मा या ब्रह्म जैसे एक ही नाम से समझा सकते हैं, किन्तु उनके पास भी क्या प्रमाण है कि हम उसे अक्षरश: सत्य ही मान लें। परन्तु ऐसे परमात्मा का नाम भी क्या और रूप भी क्या, कुछ इसी भाव को बताने के लिये कबीर ने कहा था -" उनका नाम कहन की नाहीं दूजा धोखा होय"। नाम रूप की अपेक्षा रखता है। जिसका कोई रूप नहीं जो निर्विकार, अरूप तथा अचिन्त्य है उसका भला नाम भी क्या हो सकता है? किन्तु इसी सत्य का खण्डन करके हमारे मध्यकालीन संतों एवं भक्तों ने नाम के महत्त्व को सर्वोपरि स्वीकार किया है।

सगुण रूप

वेद ने जिसे अचिन्त्य, अनीह एवं अनावृत कहा है, उपासक जिसके अनेक रूपों की कल्पना करते हैं वहीं एक वर्ग ऐसा भी है जो इसे मात्र अवतार रूप के प्रति भक्ति होने के कारण अचिन्त्य की स्थिति मानने वालों का विरोध करता है। उसके नेत्रों में भगवान का साकार रूप ही रहता है अन्य कुछ भी नहीं।

वह रूप सत्-चित्-आनंद तत्वों से परिपूर्ण रहता है ।

प्राय: ब्रह्म की तीन कोटियां निर्धारित की गई हैं । प्रथम तो वह स्थिति है जहां वह निर्गुण, निराकार, अनीह, अचिन्त्य , अद्वैत, अखण्ड तथा एकरस है । यहां ब्रह्म केवल 'आनन्द ' की स्थिति में रहता है । उसकी चेतनावस्था का अनुभव नहीं हो पाता । ब्रह्म की यह परिकल्पना सर्व-साधारण की बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं हो पाती । सम्भवत: ब्रह्म की कल्पना को अधिक बोधगम्य बनाने के लिए उसके बाद की स्थिति में कुछ परिवर्तन आता है तथा उसमें कुछ मायिक गुणों का समावेश होता है । मायिक गुणों से युक्त ब्रह्म बुद्धि का विषय बन जाता है । यहां प्रकृति के गुणों का भी इसमें आरोप होने लगता है । फलस्वरूप वह बुद्धि-ग्राह्य मान लिया जाता है तथा आत्मा द्वारा उसका साक्षात्कार किया जा सकता है । ऐसे ब्रह्म को 'ईश्वर' के नाम से सम्बोधित किया गया है । मात्र बुद्धि-विलास का विषय होने के कारण ब्रह्म की इस परिकल्पना से भी अपेक्षित बोध गम्यता की सृष्टि न हो सकी । इस कल्पना को और अधिक स्थूलत्व प्रदान करने के लिए ही संभवत: इस क्रम में आने वाली ब्रह्म की तीसरी स्थिति सगुण-साकार रूप की है । यहां पहुंच कर ब्रह्म का वह जटिल, अग्राह्य तथा अचिन्त्य, रूप साकारत्व ग्रहण करता है तथा वह 'भगवान' की संज्ञा प्राप्त करता है ।" भक्त का भगवान सर्व व्यापक होते हुये भी वैकुण्ठ सरीखे विशिष्ट-धाम में निवास करता है, जिसकी कल्पना भूलोक से ऊपर की गई है । आवश्यकता पड़ने पर भक्त के कल्याण के लिये भगवान भूतल पर उतर आता है ।"[1] वैकुण्ठ से जगत् में भगवान् का आगमन 'अवतार' है[2]। इस प्रकार

---

१. तुलसीदर्शन मीमांसा - डा० उदयभानु सिंह, पृ० ६५

२. अवतरणं वैकुण्ठादआगमनम्, सुबोधिनी, १।१।२ पर टिप्पणी

भगवान् का अपने धाम से उतरकर आना तथा रूप-विशेष में प्रकट होना "अवतार" कहा जाता है। वह इन्द्रिय ग्राह्य है, आत्मा द्वारा उसमें प्रवेश किया जा सकता है, बुद्धि उसका अनुभव कर सकती है सत्, चित्, आनन्द तीनों की उसमें व्याप्ति है अर्थात् वह पूर्ण है। अचिन्त्य रूप में वह अपूर्ण है क्योंकि मन-वाणी से अगोचर है फिर हम उसे क्यों और कैसे समझें। Dr. Lewis Richard Fornell ने कहा है कि ईश्वर का यह रूप जो न व्यक्तित्व रखता, न चेतना, जो न कुछ कह सकता है, न कहे हुये को सुन सकता है, कोई अर्थ नहीं रखता। वह कुछ विरले पराशक्ति और योग्यता से पूर्ण चिन्तकों के लिए भले ही उत्साह का स्रोत हो, साधारण मानव के लिये वह मिट्टी के ढेले के बराबर भी नहीं है। ऐसे प्रभु का अस्तित्व मानव-मनीषा के क्षेत्र के बाहर है। उसे कोई भी प्राणी हृदयंगम नहीं कर सकता।"[१] इसी कठिनाई के निराकरण के लिये ब्रह्म के अवतार रूप को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है।

ब्रह्म के अवतार की कल्पना पर यदि विचार करें तो ज्ञात होता है कि प्राय: सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में यह स्थिति स्वीकार की गई है। यहाँ तक कि इस्लाम धर्म में भी प्रकारान्तर से इसके महत्व की पुष्टि मिलती है। संभवत: इसका भी यही कारण था कि अचिन्त्य ब्रह्म की अग्राह्यता भक्तों का मन अपनी ओर आकृष्ट न कर सकी। मन इन्द्रियों के वश में होने के कारण अचिन्त्य की परिकल्पना में अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सका। उसे किसी साधन की आवश्यकता का अनुभव हुआ जिसके द्वारा वह साध्य को प्राप्त कर सके। मन की गतिशीलता किसी भी समय साधक की साधना चूर-चूर कर सकती थी। निराधार मन कब तक भटकता। अतएव भक्तों के ब्रह्म ने भगवान् का रूप ग्रहण कर अवतार धारण किया।

अवतार ब्रह्म का व्यक्त रूप है जिसमें उसे विभिन्न नामों की संज्ञा प्राप्त हुई। नामों की बहुलता कभी उसके रूप से, कभी लीला, कभी धाम से

---

१. Attributes of God — Dr. Lewis Richard Fornell, p. 19-20

सम्बन्धित विशेषताओं के आधार पर हुई । इसी नाम के माध्यम से असीम को ससीम बनाने की चेष्टा सर्वत्र मिलती है ।

अवतार के कई हेतु माने गये हैं । कभी वह अपने भक्तों के दर्शनार्थ प्रकट होता है[1] कभी गो, द्विज, और पृथ्वी के भार को हरण करने के लिए पृथ्वी पर अवतरित होता है, कभी राक्षसों का विनाश करने और देवताओं का कष्ट हरण करने के लिए उसे अवतरित होना पड़ता है । तुलसी ने अवतार के इस क्रम की बड़ी व्यापक विवेचना प्रस्तुत की है । भक्त हित के कारण ब्रह्म रूप ग्रहण करता है, इस विषय में उनकी उक्ति है :--

> व्यापक विश्वरूप भगवाना । तेहिं धरि देह चरित कृत नाना ।
> सो केवल भगतन्ह हित लागी । परम कृपाल प्रनत अनुरागी ।।

असुरों, खलों अथवा विधर्मियों का विनाश कर अपने भक्तों को दर्शन देकर कृतार्थ करना ही अवतार का मुख्य लक्ष्य है । 'वराह पुराण' तथा 'पद्म-पुराण' आदि में बताया गया है कि धर्म की स्थिति बनाये रखने के लिये शास्त्र के प्रवर्तन द्वारा दैत्यों का व्यामोहन भगवान के बुद्धावतार का प्रयोजन था ।[2]

अवतार का एक दूसरा प्रयोजन भी है जिसमें कि हमारे कुछ आचार्यों ने वैज्ञानिक-आधार खोजने का प्रयास किया है । यह आधार मानव तथा मानव-

---

१. जब जब होइ धरम कै हानी , बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी......
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु —रामचरितमानस
जग विस्तारहिं विसद जस रामजन्म कर हेतु ।   १।१२१

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत...... । गीता,अध्याय ४,श्लोक१०
विप्रधेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार ।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार । रामचरितमानस १।१९२
नत्वाप्तकामस्य भगवत: प्रयोजनाभावे कथं शरीर परिग्रहाविस्तमाह्मुर्ख्यं हि तस्य कारुण्यम् । शा०भ०सू०, २।१।२३

२. ब्र०सू० २।२।२६

ज्ञान के क्रमिक विकास के इतिहास से सम्बद्ध है। प्राय: सभी धर्मों में सृष्टि के प्रारंभ में महा-प्रलय की कल्पना मिलती है। मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्णा, बुद्ध और कल्कि अवतारों का कुछ विशिष्ट कारण माना है। पहले वह जल जन्तु रूप में प्रकट होता है। फिर जलस्थल में रहने वाले कच्छप, का रूप धारण करता है। फिर केवल स्थल पर रहने वाले वराह के रूप में प्रकट होता है। इसके बाद धीरे-धीरे उसमें मानवीय गुणों की और आकर्षण होता है और वह अर्धपशु तथा अर्ध मनुष्य अर्थात् 'नृसिंह' का रूप ग्रहण करता है। अब वह पूर्ण रूप से मानव प्रवृत्ति को ग्रहण करता है और 'वामन' के रूप में अवतरित होता है। यह उसका लघु मानव रूप है और सम्भवत: इससे भी आगे बढ़कर वह दर्पमय क्षत्रिय रूप ग्रहण कर 'परशुराम' बनता है। विनाश के बाद उसमें लीला की भावना का जागरण होता है और कृष्णा के रूप में वह समस्त वैभव-विलास तथा लीला का रस ग्रहण कर अन्त में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के रूप में अवतरित होता है। अवतार के क्रम में उसका यह रूप ही साधक को सबसे अधिक अपनी और आकृष्ट कर सका।

इन्हीं अवतारों को विभिन्न विभागों में विभाजित करने का प्रयास भी मिलता है। इनकी शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक कोटियाँ भी निर्धारित की गई हैं। प्रारम्भिक अवस्था में वह निम्न कोटि का रहता है जहाँ केवल शारीरिक विकास की प्रक्रिया होती है। धीरे-धीरे उसमें सोचने समझने की शक्ति का आविर्भाव होता है और अन्त में अपनी पूर्णता की अवस्था में वह आध्यात्मिक ज्ञान का विषय बन जाता है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि अवतार की प्रक्रिया में ब्रज जिस रूप में अवतीर्ण होता है, उसका ब्रज के रूपात्मक एवं चारित्रिक क्रिया-कलापों से गहरा सम्बन्ध होता है तथा उसी के अनुरूप वह नाम ग्रहण करता है। इस प्रकार यह एक विशेष तथ्य हमारे समक्ष

---

१. अणुभाष्य ३।४।१८

आता है कि परिस्थितियाँ एवं सम्भावनाओं के अनुसार क्रमिक रूप से ब्रह्म की अभिव्यक्ति होती है।

ब्रह्म के इस अवतारी रूप की उपासना में हृदयतत्व की प्रधानता है। इसका सूत्र भागवत-धर्म से प्राप्त होता है। सर्वप्रथम अवतार वाद की परिकल्पना यहीं से प्रारम्भ हुई और श्रीकृष्ण कोभागवत धर्म का प्रतिष्ठापक माना गया। भागवत धर्म में ही सर्व प्रथम उपासना एवं आचार विधियों को प्रश्रय मिला।

गीता में अवतारवाद का प्रतिपादन सशक्त शब्दों में हुआ है। उसके अनुसार भगवान ईश्वर होते हुए भी अपनी माया द्वारा उत्पन्न होते हैं। उनके धर्म एवं कर्म साधारण स्तर से किंचित भिन्न होते हैं। भागवतों का यह सिद्धान्त विशेष ही अवतार के मूल में है। गीता के अनुसार -

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम् [१]

अर्थात् जिस तत्व में विभूति, श्री तथा उत्कर्ष दिखाई दे उसी को भगवान के तेजस अंश से उत्पन्न अर्थात् अवतार मानना चाहिये।

भागवतों ने भगवान के पाँच रूप माने हैं - पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार। इन अवतारों में प्रकृति तथा प्राणी-जगत दोनों के रूप सम्मिलित हैं।

श्रीमद्भागवत में तीन स्थलों पर अवतार का वर्णन है। उसके प्रथम स्कंध के तृतीय अध्याय में २२ अवतारों का उल्लेख है। द्वितीय स्कंध के सप्तम अध्याय में २३ और एकादश के चतुर्थ अध्याय में १६ अवतारों का वर्णन है।

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १०, श्लोक ४१

जैसे-जैसे अवतार-वाद की कल्पना का प्रभाव अधिक होता गया वैसे-वैसे ब्रह्म के अनेकों रूपों को मान्यता मिली। कृष्ण के बाद राम का रूप हमारे समक्ष आया जिसे पूर्णता में विष्णु का अवतार माना गया।

हरिवंश पुराण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा नारद पुराण आदि में भी अवतारों की चर्चा की गई है। यद्यपि राम के प्रति भक्ति-भाव से पूजा तथा उन्हें अवतार रूप में मानने का कार्य बहुत बाद में हुआ तथापि आगे चलकर जितना अधिक प्रचलन एवं प्रभाव ब्रह्म के इस 'राम' के रूप का हुआ उतना सम्भवत: किसी अन्य अवतार का नहीं हुआ।

इसी शृंखला में अध्यात्म रामायण भी आती है। उसमें भी राम को परब्रह्म का अवतारी रूप माना गया है।

अवतार की भावना मध्यकाल में अत्यन्त प्रबल रूप में प्रकट हुई। रामानन्द के साथ रामभक्ति का जो प्रसार एवं प्रचार हुआ उसमें राम का अवतार ही जन-जन का आराध्य बन गया। अवतार-वाद की पुष्टि में आलवारों का भी बहुत बड़ा हाथ रहा है। इनकी भक्ति में दास्य-भाव की प्रधानता के साथ ब्रह्म के साक्षात्कार की व्याकुलता भी थी। इन्होंने भगवान को वासुदेव,नारायण,राम, कृष्ण आदि नामों से पुकारा है।

आलवारों के अतिरिक्त दक्षिण में कुछ अन्य आचार्य भी हुए हैं जिन्होंने अवतारवाद तथा भगवान् की भक्ति पर विशेष रूप से बल दिया है। इस संदर्भ में श्री रंगनाथ मुनि तथा यामुनाचार्य आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त प्रमुख रूप से कुछ नाम उल्लेखनीय हैं —मध्वाचार्य, निम्बार्क, विष्णुस्वामी, वल्लभाचार्य तथा आचार्य रामानुज। इनके योग से भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ। शंकराचार्य ने आठवीं शती में बौद्धधर्म के ह्रास के बाद ही वैदिक धर्म की पुन: स्थापना की और अपने अद्वैत मत का प्रचार किया। उनका मत "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" था जिसका कि दूर-दूर तक स्वागत हुआ और प्राय: सभी ओर भक्ति के क्षेत्र में एक बवंडर सा उठ खड़ा हुआ। शंकर ने ब्रह्म

की एक मात्र सत्ता स्वीकार की , किन्तु संकीर्णता के अभाव में भी वह व्यावहारिकता की दृष्टि से असफल ही रहा । परिणामस्वरूप शंकर के अद्वैत को ही आधार मान कर दक्षिण में चार प्रधान मतों की स्थापना हुई । जिसके प्रथम आचार्य रामानुज हुये ।

अवतार की शास्त्रीय परीक्षा

(क) रामानुजाचार्य --

शंकर के अद्वैत की क्लिष्टता की प्रतिक्रिया का परिणाम ही रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद है । अद्वैत की अग्राह्यता सहज साधक को अपनी और आकृष्ट करने में सफल न हो सकी । परिणाम स्वरूप जहाँ उपनिषदों के आत्मवादी सिद्धान्तों पर आधारित धर्म बढ़ रहा था, वहाँ भक्ति का प्रवाह भी तीव्र हो उठा । यह शुद्ध रूप से जनता का आन्दोलन था , जहाँ जाति-पाँति का भेद-भाव न था । । निराधार की कल्पना पर गहरा आघात हुआ । तत्कालीन त्रस्त समाज को किसी ऐसे आधार की आवश्यकता अनुभूत हुई जो उसके साथ तादात्म्य की भावना स्थापित कर सके । अचिन्त्य पर से उनकी आस्था डगमगाने लगी तथा सगुण, अवतारी रूप पर उनका ध्यान केन्द्रित हुआ । इस आन्दोलन की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति थी --हृदय की कोमल वृत्तियों को भगवान् को अर्पित कर नाम, जप, पूजा, कीर्तन आदि के द्वारा उससे रागात्मक अथवा दास्य-भाव से सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा ।

रामानुज ने प्रथम बार इस आवश्यकता का अनुभव कर अद्वैत के स्थान पर नाम-रूप-धारी भगवान की कल्पना की । उन्होंने भक्ति के साथ ही ज्ञान कर्म का योग भी स्वीकार किया ।* ब्रह्म के सम्बन्ध में उनकी मान्यता है कि वह सजातीय--विजातीय भेदों से शून्य है । परन्तु ब्रह्म के स्वगत भेद हैं --

चित्, अचित् और ईश्वर । चित् को उन्होंने जीव और अचित को जगत माना है । ईश्वर अन्तर्यामी है । वह जीव व जगत रूपी शरीर के भीतर अवस्थित रहता है । ब्रह्म सगुण और सविशेष है, उसमें स्वभावत: कल्याणमय गुण है । वह सर्वशक्तिमान है ।[1] रामानुज के अनुसार जगत के सारे प्राणी चित् और अचित् विशिष्ट ब्रह्म के अंश हैं, उसी से उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं । जीव को परब्रह्म का सामीप्य प्राप्त करना पड़ता है । प्रलय होने पर चित् एवं अचित् ब्रह्म में लीन हो जाते हैं किन्तु उससे अभिन्न नहीं होते । सृष्टि की रचना होने पर वे पुन: पृथक हो जाते हैं । अद्वैत के समान वे अपना अस्तित्व नहीं खो देते । ब्रह्म और जीव यद्यपि एक ही तत्व से निर्मित हैं तो भी उनका अन्तर माया जनित नहीं है । रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद की यही विशेषता है । रामानुज किसी भी पदार्थ को निर्गुण नहीं मानते । जिस प्रकार संसार के सभी पदार्थ गुण विशिष्ट हैं उसी प्रकार ईश्वर भी सदैव सगुण है । उनके अनुसार भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए ईश्वर पांच रूप धारण करता है -- पर रूप, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी, तथा अर्चावतार ।

रामानुज के अनुसार प्रपत्ति या शरणागति ही भगवान की प्राप्ति का उपाय है । उनकी कृपा होती है तभी भक्त को भगवत दर्शन होता है । विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त ही भक्ति पर आधारित है । अवतार ग्रहण करने पर रामानुज द्वारा प्रवर्तित भगवान रूप के साथ नाम को भी स्वीकार करता है । इस सम्प्रदाय में प्रमुख रूप से विष्णु और नारायण नामों की प्रधानता रही है । इनके अतिरिक्त वासुदेव , राम तथा कृष्ण आदि नाम भी आए हैं । रामानुज ने सतत ध्यान तथा चिन्तन पर बल दिया है । ध्यान के अन्तर्गत रूप की उपासना आ जाती है, उसी से सम्बन्धित नाम साधना की स्थिति भी है । गुरु को प्रमुख स्थान प्राप्त है क्यों कि उसी के द्वारा ईश्वर के स्वरूप और नाम का बोध साधक को होता है ।

---

१. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृष्ठ-१४४

रामानन्द—

इस परम्परा में आने वाले दूसरे प्रमुख आचार्य रामानन्द हुये जिन्होंने रामानुज की साधना-पद्धति को किंचित् परिवर्तन के साथ स्वीकार किया । इनकी साधना-पद्धति में व्यावहारिकता अधिक थी जो कि लोक-दृष्टि से तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर निर्मित हुई थी । इनके विचार से सगुण रूप ब्रह्म अर्थात् राम के चरणों में आत्म-समर्पण कर देना ही पर्याप्त है । सीताराम को इन्होंने अपनी उपासना का आधार बनाया और ईश्वर के इसी लोकग्राही रूप का प्रचार किया ।

मध्वाचार्य --

इस क्रम में मध्वाचार्य का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । इन्होंने द्वैतवाद की स्थापना की जो शंकर के अद्वैत के विरुद्ध था । इसकी मान्यतायें विशिष्टाद्वैत के अधिक निकटथीं । इनका सिद्धान्त था कि ब्रह्म सगुण तथा अवतारी है । संसार का कोई भी कार्य बिना ईश्वर के अनुग्रह के नहीं हो सकता । यह अनुग्रह साधक की हरिस्मरण, भजन, नाम-जप तथा रूप-ध्यान से ही प्राप्त हो सकती है । मध्वाचार्य ने त्याग, भक्ति व ईश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति को ही मुक्ति का एक मात्र साधन मानकर उसी का अवलम्बन ग्रहण करने की बात कही है । इन्होंने स्पष्ट शब्दों में निर्गुण ब्रह्म की मिथ्या स्थिति मानकर सगुण ब्रह्म की स्थापना की है । आनन्द तथा कल्याणकारी गुण भगवान के अंग हैं । वे एक होकर अवतारों और के नाना रूप धारण करते हैं । सभी अवतार पूर्ण हैं । अवतारों और भगवान् के नित्य स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है ।[1] उपासना के क्षेत्र में इन्होंने विष्णु की उपासना पर बल दिया है । इस मत की पुष्टि भण्डारकर ने भी की है ।   हरि को ही उन्होंने सर्वोच्च तत्व रूप में

---

१. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ०१५३

स्वीकार किया । हरि को विष्णु का प्रतीक माना तथा इसी रूप को उत्पत्ति स्थिति, संहार, मोक्ष आदि का कारण माना ।

निम्बार्क— द्वैताद्वैतवादी हैं । निम्बार्क के मत से भगवान् कृष्ण ही परब्रह्म हैं । भगवान के अनुग्रह को इन्होंने महत्व दिया है । उनके अनुसार उन्हीं के चरणों में गति, रति हो, अन्य कहीं भी मन विचलित न हो, भजन, पूजन, अर्चन , वंदन सभी कुछ कृष्ण को ही अर्पित हो तथा उन्हीं को ध्यान में रखकर किया जाय । एक मात्र सत्य एवं परमदेव, कृष्ण ही हैं । इसके अतिरिक्त निम्बार्क ने राधा की उपासना पर भी बल दिया है । सगुण रूप राधाकृष्ण को आराध्य मानकर इन्होंने अपनी भक्ति का प्रचलन किया है । राधाकृष्ण को अवतार रूप में आराध्य मानकर साधना का प्रारम्भ निम्बार्क से ही माना जाता है ।

वल्लभाचार्य —

आचार्य वल्लभ का ब्रह्म शंकराचार्य के ब्रह्म की भांति मात्र निर्गुण नहीं है । यद्यपि उन्होंने ब्रह्म के निर्गुणत्व को स्वीकार अवश्य किया है किन्तु सर्वोच्च सत्ता उनका सगुण रूप ब्रह्म ही है । शंकर के अनुसार निर्गुण ब्रह्म ब्रह्म किंचित् उच्च स्तर का है एवं साथ ही उसका महत्व भी अधिक है जब कि सगुण ब्रह्म के महत्व को उन्होंने वहीं तक स्वीकार किया है अथवा आवश्यक माना है जब तक साधक निर्गुण ब्रह्म को समझने योग्य न हो जाय । अर्थात् साधक पूर्ण ज्ञान की स्थिति में आने पर निर्गुण का ही उपासक बन जाता है । ज्ञान प्राप्त होने पर सगुण की आवश्यकता नहीं रह जाती । किन्तु वल्लभाचार्य का ब्रह्म सम्बन्धी विचार कुछ भिन्न है । उनका ब्रह्म एक है । वही सगुण, निर्गुण, चिन्त्य, अचिन्त्य,साकार तथा निराकार सभी कुछ है । वह आनंद स्वरूप है । सत् , चित् तथा आनन्द तीनों प्रकार के गुण उसमें परिव्याप्त हैं । अर्थात् वह पूर्ण रूप है ।

इस प्रकार इनके दार्शनिक सिद्धान्तों को देखने से प्रतीत होता है कि वल्लभ ने ब्रह्म को सगुण निर्गुण, साकार-निराकार, आदि दार्शनिक वाद-विवाद के परे एक अन्य रूप में ही स्वीकार किया है। वल्लभ ने ब्रह्म सूत्रोक्त सिद्धान्तों का अवलम्बन करके ब्रह्म को सर्वधर्ममय कहा है क्योंकि ब्रह्म को यदि हम स्वीकार करते हैं तो उसके ज्ञान की सम्भावना तो क्या जिज्ञासा भी हम नहीं कर सकते और यदि वह ऐसा है तो उसका महत्त्व ही क्या हो सकता है ? फिर तो वह मोक्षरूप परम पुरुषार्थ भी नहीं रहेगा। परिणामत: समस्त शास्त्र आगम-निगम व्यर्थ हो जायंगे। समस्त धर्म-दर्शन एवं हमारी आदि काल से प्रचलित मान्यताएं नष्ट हो जायेंगी।

धर्म दर्शन की मान्यता को बनाये रखने के लिये ही श्रुति, श्रीमद्भगवद्-गीता, व्यास-सूत्र एवं भागवतादि की मान्यताओं को स्वीकार कर हमने ब्रह्म की मुख्य दो कोटियां निर्धारित की हैं —वह सगुण भी है निर्गुण भी, ज्ञेय भी अज्ञेय भी, चिन्त्य भी और अचिन्त्य भी। वह सच्चिदानंद, परम अव्यय तथा सर्वज्ञ है। अपनी निष्ठा के अनुसार हम उसके विभिन्न रूप देखते हैं। उसी परम-तत्व को श्रुतियों में ब्रह्म, गीता में परमात्मा और भागवत में भगवान कहा है। ब्रह्म निर्गुण है, ज्ञेय भी है।[१] कहीं-कहीं माया से आवेष्टित है कहीं माया से विरत। कहीं उसने जीव, जगत एवं माया के सम्बन्ध को स्वीकार किया है तथा कहीं नहीं। ब्रह्म स्वभावत: सर्वज्ञ, शक्तिमान, व्यापक, अज, सच्चिदानन्द, अन्तर्यामी एवं विजातीय है।[२]

---

१. सच्चिदानन्द रूपं तु ब्रह्म व्यापकमव्ययम्।
सर्व शक्तिस्वतंत्रं सर्वप्रगुणावर्जितम्॥ त०दी०नि० ६५सा०,

२. पराअस्य शक्ति: विविधैव श्रूयते।
स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च।
सजातीय विजातीय स्वगत द्वैत वर्जितम्।
सत्यादिगुण साहस्रैर्युक्तमौत्पत्तिकै:सदा। त०दी०नि० ६६

वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म निस्सीम, परिपूर्ण रसमय तथा रस-प्रचुर है। वह लीला हेतु आवरण धारण करता है तथा शरीर की सीमा को स्वीकार करता है। किन्तु अंततोगत्वा वह ब्रह्म ही रहता है। उसे निर्गुण मानने वाले भी तो उसे नित्य, शुद्ध, बुद्ध स्वीकार करते हैं। अस्तु ब्रह्म की सम्पूर्णता उसकी सर्वधर्मसत्ता को स्वीकार करके चलने पर ही प्रतीत होती है। अर्थात् वह वेदान्त प्रतिपाद्य, निखिल धर्मयुक्त, अनवगाह्य, माहात्म्ययुक्त एवं समर्थ है। इस प्रकार का जब उस ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है तो उसके स्वरूप के प्रति सहज ही स्नेह की भावना जागृत होने लगती है, और वही स्नेह अथवा आकर्षण भक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाता है। मुक्ति की सम्भावना इसके बाद होती है।

वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग का आशय भी यही था। सिद्धान्त पक्ष में यही पुष्टिमार्ग शुद्धाद्वैत के नाम से विहित किया गया है। साधना के क्षेत्र में आकर जब भगवान का अनुग्रह प्राप्त होता है तो वह पुष्टि कहलाता है। प्रभु के अनुग्रह से ही भक्त के हृदय में भक्ति का उदय होता है। परिणामत: साधक आत्मसमर्पण करता है। भगवान के चरणों में भक्त का आत्मनिवेदनात्मक सम्बन्ध ही भगवान को मान्य है। पुष्टि-भक्ति भगवान की कृपा पर निर्भर है। आचार्य ने 'पुष्टि' शब्द की व्याख्या करते हुये ही कहा था कि भगवान के स्वरूप बल से ही प्रभु की प्राप्ति होती है। यही पुष्टि मार्गी भक्ति है। इसके अतिरिक्त वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तपादि करने से मोक्ष होता है। इन साधनों से मुक्ति प्राप्त करने को वल्लभ ने मर्यादा मार्ग कहा है।[१] परन्तु इन साधनों से भी श्रेष्ठतर वल्लभ ने पुष्टि भक्ति

---

१. कृति साध्यं साधनं ज्ञान रूपं शास्त्रेण बोध्यते
तास्यां विहिताभ्यां मुक्तिर्मर्यादा तद्रहितानपि
स्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिरित्युच्यते।

—अणुभाष्य ३,३,२६

को कहा है । इससे ज्ञात होता है कि वल्लभ ने अवतार की पुष्टि की है, क्योंकि कृष्ण-भक्ति-शाखा के आगे आने वाले विभिन्न साधकों एवं कवियों ने भगवान के नाम, रूप,लीलाधाम का सविस्तार वर्णन एवं विवेचन किया है ।

भक्तिकालीन संतों का दृष्टिकोण

कबीर—

कबीर ने जहाँ कहीं भी राम का उल्लेख किया है वह निर्गुण ब्रह्म ही है । यद्यपि कहीं-कहीं यह शंका भी उठाई गई है कि कबीर का निर्गुण ब्रह्म सगुण राम ही हैं क्योंकि उपासना किसी मूर्त रूप की ही की जाती है, निराकार की उपासना नहीं हो सकती किन्तु कबीर ने सर्वत्र निर्गुण राम के जप का आदेश दिया है । अविगत की चाल को पहचानना सरल नहीं है जिसे वेद, पुराण, स्मृति भी नहीं जान सके उसे जानना साहस का काम है । इसलिये कबीर ने हरि की छांह ग्रहण करने की चेतावनी दी है[१]।जिस राम की उपासना उन्होंने बताई है वह वास्तव में निर्गुण ही है । सगुण नहीं है । वह समुद्र,पर्वत,धरती,आकाश,सूर्य,चन्द्र,पवन,पानी कुछ भी नहीं है। वह इस दृश्यमान जगत से न्यारा है । वह वेदों और भेदों से अतीत एवम् पाप और पुण्य से परे है तथा ज्ञान, और ध्यान का विषय नहीं है । वह रूप से परे है, अनुपम है तथा विलक्षण है । उनका राम अलख निरंजन है । वह सेवा से परे है । उनका विष्णु वह है जो संसार के रूप में फैला हुआ है । कबीर ने राम की अनुभूति को गूंगे का गुड़ ही कहा है जो दर्शन एवं तर्क से परे है और जब वह प्रेम से प्राप्त

---

१. क०ग्र०,पृ० ४६

"कबीरदास के निर्गुण ब्रह्म में गुण का अर्थ सत्व, रज, आदि गुण हैं, इसीलिये निर्गुण ब्रह्म का अर्थ वे निराकार निस्सीम आदि समझते हैं निर्विषय नहीं ।"

—कबीर, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

हो जाता है तो उसका रूप सगुणात्व की भावभूमि पर उतर आता है। कबीर ने सगुण-निर्गुण की विवेचना करते हुए बार-बार दोहराया है :-

१. अजरा अमरा कथे सब कोई अलख न कथना जाई
नाति सरूप वरण नहिं जाके घटि घटि रह्यो समाई

और भी प्यंड ब्रह्मण्ड कथे सब कोई वाके आदि अरु अंत न होई
प्यंड ब्रह्मण्ड छाडि जे कथिये कहै कबीर हरि सोई ।[१]

इस प्रकार कबीर ने प्यण्ड ब्रह्माण्ड से परे एक अद्भुत अनादि शक्ति मानी है जिसका नाम, रूप या गुण कुछ भी नहीं है कबीर के अनुसार वही अचिन्त्य ब्रह्म का सूचक है। ऐसा परम अक्षर है जिसका कभी नाश नहीं होता। वह सच्चिदानन्द परमात्मा ही ब्रह्म है। वह अविगत है, क्योंकि दृश्यमान जगत से वह सर्वथा परे है, दृष्टि से अदृश्य। इसलिये उसका रूप-रंग कुछ भी नहीं बताया जा सकता। न वह भारी है न हल्का। वह क्या है, यह कैसे बताया जा सकता है? प्राय: कबीर ने परमतत्त्व का निरूपण झिलमिल विलक्षण ज्योति स्वरूपी तत्त्व के रूप में किया है -

२. सरीर सरोवर भीतर आछै कमल अनूप
परम ज्योति पुरुषोत्तमो जाके रेख न रूप ।[२]

इसी परम ज्योति पुरुषोत्तम की उपासना पर कबीर ने बल दिया है। इसे अव्यक्त से परे एक अन्य सनातन अव्यक्त पदार्थ कहा है, जो वास्तव में अचिन्त्य ब्रह्म का सूचक है। यह अनिर्वचनीयतत्त्व है जो स्वत: ही पूर्ण है। कबीर ने इस अनिर्वचनीय तत्त्व का उल्लेख इस प्रकार से किया है -

भारी कहूं तो बहु डरौं हल्का कहूं तो झूंठ
मैं का जानौं राम कूं नैनूं कबहूं न दीठ ।[३]

---

१. क०ग्रं०, पृ० १४६
२. संतकबीर, पृ० ८१२
३. क०ग्रं०, पृ० १७

कबीर के शब्दों में न वह भारी है न हलका, उसका रूप-सरूप कुछ भी ज्ञात नहीं अतएव उसे जानना भी कठिन है इसीलिए कबीर ने उसे एक दिव्य तेज के रूप में ग्रहण किया है जो सर्वत्र अपना प्रकाश विकीर्ण करता है । वह अनादि अव्यक्त होकर भी व्यक्त होता है अपने प्रकाशमय तेज के रूप में । उस तेज का साक्षात्कार करने वाली दृष्टि संसार की सीमित उपलब्धियों के प्रति पूर्ण-तया उदासीन रहती है वह उस अनन्त रहस्यमयी सत्ता के अन्वेषण में सतत व्यग्र रहती है जो अदृश्य है । अतएव कबीर ने इस तत्व के निरूपण में ज्ञान को आधार माना है । इसी ज्ञान के द्वारा कबीर उस" पूरे सौं परचा भया" की बात करते हैं । जो" नैना बैन अगोचरी" होकर अनुभूति मूलक है । यह अनुभूति व्यक्तिगत होती है यही कारण है कि वह जैसा है उसे कोई नहीं जान पाता लोग अपने अनुभव के आधार पर ही उसे आकार देने की चेष्टा करते हैं । वस्तुत: वह किसी को भी ज्ञात नहीं है । किन्तु इस व्यक्तिगत अनुभूति की विभिन्नता में भी एक साम्य है जो सर्वत्र मिलता है, सभी ने यह स्वीकार किया है कि उस तत्व को बिना उसका प्रत्यक्षानुभव प्राप्त किए समझना दुर्लभ है ।

कबीर ने ब्रह्म की अखण्ड सत्ता पर अधिक जोर दिया है । वह एक रस है, वह आदि, अन्त एवं मध्य की सीमाओं से परे है । वह ऐसा सूक्ष्म तत्व है जिसका रूप पुष्प की सुगंध से भी सूक्ष्म है ।

जाके मुंह माथा नहीं, नाहीं रूप अरूप
पुहुप बास थे पातरा ऐसा तत्त अनूप । क०ग्र०-पीवपिछावन कौ अंग ४ ।

---

१. रूप सरूप न आठो बोला, हरु गरु कछु जाइ न तोला
भूष न मिषा धूप नहिं छांही सुख दुख रहित रहै सब माहीं
जो है वैसा वोही जानै ओही आहि आहि नहिं आनै
नैना बैन अगोचरी, श्रवनां करनी सार
बोलन के सुख कारनैं कहियै सिरजनहार ।
कहै कबीर विचारि करि, तासू लावो हेत
बरन बिबरजित ह्वै रह्या नां सौं स्याम न सेत क०ग्र०, पृ० २४२-३

एक अन्य स्थल पर कबीर ने कहा है कि यह नीलाकाश, विस्तृत जलराशि, ये तारे, चन्द्रमा और सूर्य, जगत के सभी कुतूहल पूर्ण कार्यकलाप जैसे दिखाई पड़ रहे हैं वैसे नहीं हैं, वरन वही अन्ततम सत्य जो अगम है, अगोचर है, इनमें व्याप्त है और उसी के प्रकाश से ये अपना अस्तित्व रखते हैं।[१] यह अगम अगोचर ब्रह्म अचिन्त्य ब्रह्म है जो सर्वत्र व्याप्त है, सत्य है, शक्तिसम्पन्न है तथा सामर्थ्यवान है। उस सत्ता का अन्य कोई आधार नहीं है। वह शाश्वत है, उसका चरम अस्तित्व है, और उस सत्ता के अतिरिक्त और किसी भी पदार्थ अथवा वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है।

यह अचिन्त्य ब्रह्म ही कबीर का निर्गुण ब्रह्म था। इसे कबीर ने अनिर्वचनीय कहा है। उसके अनुसार उस तत्वका इन्द्रियों द्वारा साक्षात्कार नहीं किया जा सकता क्यों कि 'बोलना का कहिये रे भाई बोलतबोलत तत्त नसाई'[२]। अर्थात् उसे समझाया नहीं जा सकता। उसका बताना तत्व की अनभिज्ञता ही है। अस्तु कबीर का अनिर्वचनीयतत्वब्रह्म अवर्णनीय है, अकथनीय है तथा अदृश्य है। उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहने में वाणी अशक्त है क्योंकि —

(१) कह है कबीर घर ही मन मानां, गूंगे का गुड़ गूंगे जानां।

क०ग्र०, पृ० १०६

ब्रह्मानुभूति का यह आनन्द इतना विलक्षण होता है कि उसे वाणी का रूप देना सर्वथा असम्भव है। यह विलक्षण अनुभूति अन्तरमन की ही होती है। वाह्य कदापि नहीं है इसीलिये उसमें निमग्न रहने की आवश्यकता है। किन्तु इस असीम का भी कुछ आधार आवश्यक है अन्यथा उसे

---

१. जैसे तुम्ह देखौ सौ यहु नांही, यहु पद अगम अगोचर माहीं।

क०ग्र०, पृ० १३३

२. क०ग्र०, पृ० १०६

समझना असम्भव होगा । कबीर के अनुसार उस मूल सत्ता को हृदयंगम करने के लिए उसका कोई न कोई नाम आवश्यक है अन्यथा भक्त विचलित हो सकता है । साधक अपनी साधना से गुमराह हो सकता है । इन्ही कठिनाइयों का समाधान कबीर ने उस अचिन्त्य को नाम के बंधन में बांधकर दूर करने की चेष्टा की है । कबीर का यह नाम भी प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण किया गया है , वह साधन मात्र है, साध्य के रूप में उसे कबीर ने कहीं भी नहीं स्वीकार किया है । प्राय: सभी दार्शनिकों ने उस सत्ता को नाम देने का प्रयास किया है । अध्यात्मवादी उसे ब्रह्म, परब्रह्म आदि नामों से अभिव्यंजित करते हैं जबकि कबीर ने उसके अनेक नाम गिना डाले हैं । कभी वह ब्रह्म है, कभी राम, रहीम है तो कभी राजा, ठाकुर साहब और परब्रह्म है । समस्त अज्ञान को नष्ट करने की शक्ति कबीर के नाम में है --

(१) आंधी आई ज्ञान की ढही भरम की भीति
माया टाटी उड़ गई लगी नाम से प्रीति ।

उस'एक' का बोध कबीर ने नितान्त सरलकरने की चेष्टा की है । और उस एक में ही समस्त की परिव्याप्ति को स्वीकार किया गया है --

एक शब्द में सब कही सब ही अर्थ विचार
भजिये निर्गुन राम को तजिये विषयविकार । क०व०

कबीर के अचिन्त्य ब्रह्म की परिव्याप्ति बड़ी विस्तृत है, असीम है क्यों कि कबीर ने जिस नाम के सम्बन्ध में कहा है वह शुद्ध ब्रह्म है ।[१]

---

१. वाका नाम कबीर बखाना, जो संतन सिर धारा है,
शुद्ध ब्रह्म पद तहं ठहराई, नाम अनादी धारा है । क०वचनावली

अतएव कबीर ने इस अचिन्त्य ब्रह्म की दुरूहता का निराकरण करने के लिये "नाम" का सहारा लिया जिसके माध्यम से भक्त अथवा साधक उस परम ज्योति का साक्षात्कार कर सके ।

निर्गुण रूप

कबीर का ब्रह्म कभी भी किसी दार्शनिकवाद के मानदण्ड को स्वीकार करके नहीं चलता । समय-असमय उसके रूपों में परिवर्तन होने का प्रमुख कारण भी यही है । कबीर में सर्वत्र इस प्रवृत्ति का दर्शन होता है । कभी उनका ब्रह्म अद्वैत है कभी द्वैत और कभी विशिष्टाद्वैत । तार्किक विवाद से ऊपर उठकर ब्रह्म की स्थिति को कबीर ने स्वीकार किया है । उनका ब्रह्म, भाव, बुद्धि, ज्ञान आदि का विषय है, जिसके दुख में वे रोते हंसते हैं । कभी उसके विरह में उनकी विरहिनी की सी दशा हो जाती है और कभी वह स्वयं उन्हें पति के रूप में आकर ग्रहण करता है । डा० वर्मा के शब्दों में कबीर के ब्रह्म का सच्चा रूप मिलता है और उन्होंने लिखा है -" वह ऐसा गुलाब है जो किसी बाग में नहीं लगाया जा सकता केवल उसकी सुगंध ही पाई जा सकती है । वह ऐसी सरिता है कि हम उसे किसी प्रशस्त वन में नहीं देख सकते वरन् उसे कलकलनाद करते हुये ही सुन सकते हैं ।"

जायसी

सूफियों की साधना पद्धति गुप्त साधना पर अधिक बल देती है । उनका विश्वास है कि प्रकट कर देने से सब कुछ उपलब्ध नहीं हो पाता इसके विपरीत यदि साधना का प्रदर्शन न किया जाय तो वह गन्तव्य तक अवश्य पहुंचा देती है ।" यह विश्वास सूफियों का उस परमसत्ता के प्रति है जो अचिन्त्य है निराकार है, निर्गुण है - जहां बाह्य साधन अथवा आडम्बर

की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती वहां पहुंच कर साधक स्वयं में शक्ति का अनुभव करने लगता है जिससे उस अचिन्त्य शक्ति या प्रकाश का तादात्म्य हो जाता है। इसी प्रकार की भक्ति पर जायसी ने ज़ोर दिया है उनका कथन है कि साधक सांसारिक कार्य करता रहे किन्तु साथ ही साथ मानसिक रूप से आराध्य का सतत चिन्तन करता जाए —

परगट लोक बार कहु बाता
गुपुत लाउ मन जासों राता। जायसी

गुप्त रूप से किसी "अदृश्य" की साधना की ओर इंगित करके जायसी ने उस शक्ति को स्वीकार किया है जो निराकार होते हुये भी समस्त को संचालित करती है।

जायसी ने इस पूर्णत्व की प्राप्ति हेतु प्रेम को माध्यम माना है। एकान्त चिन्तन के द्वारा ही इस अतीन्द्रिय सौन्दर्य का दर्शन किया जा सकता है। उस सौन्दर्य में ही समत्व एवं पूर्णत्व की भावना निहित होती है। साधक की समस्त साधना का अन्तिम लक्ष्य इसी परम सौन्दर्य की उपलब्धि ही है। उस अखण्ड सौन्दर्य के प्रति साधक की विचारधाराओं में भले ही परिवर्तन हो किन्तु लक्ष्य प्राय: सभी का एक ही होता है वह चाहे भक्ति के स्तर पर हो अथवा ज्ञान बुद्धि के स्तर पर। किन्तु उस अचिन्त्य का साक्षात्कार कैसे किया जाये। उसे समझने के लिये उसके साथ भावात्मक, भावनात्मक अथवा रागात्मक नहीं तो बौद्धिक स्तर पर किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध जोड़ना ही पड़ता है। इस स्थिति पर पहुंच कर भक्त समस्त व्यक्त प्रकृति की अव्यक्त और रहस्यमयी सत्ता के प्रेम में व्याकुल और मिलन के लिये उत्सुक दिखता है। वह उस अचिन्त्य की रहस्यमयी सत्ता के दर्शन हेतु व्याकुलता का अनुभव करता है। यही व्याकुलता प्रेम की चरमपरिणति होती है। जायसी ने इसी प्रेम से हृदय की परिशुद्धता की बात कही है —

लैसा हिये प्रेम कर दिया । उठी ज्योति मा निरमल हिया ।[1]

वह ज्योति ही उस अचिन्त्य का प्रतीक है जिसका साक्षात्कार नहीं किया जा सकता । वह केवल अनुभव की जा सकती है । इस अनुभव में वैयक्तिकता का होना स्वाभाविक है ।

तात्त्विक दृष्टि से सूफियों का साध्य परम तत्व ज्ञान, स्वरूप, नित्य प्रकाश, परम सौन्दर्यमय और विश्वेच्छा स्वरूप है । नाम-रूपात्मक जगत उसकी वाह्य अभिव्यक्ति है । पारमार्थिक सत्ता के रूप में वह उपाधि-रहित, नामरहित, अवर्णनीय, अचिन्त्य है ।[2] किन्तु सूफी कवियों में इससे इतर भी एक स्थिति मिलती है जहां उनका ब्रह्म सोपाधि, व्यक्त एवं स्थूल रूप में दृष्टिगोचर होता है । किन्तु उन्होंने उस व्यक्त स्वरूप को प्रतिविम्बात्मक अभिव्यक्ति के रूप में ही स्वीकार किया है । जहां तक अन्तिम स्वरूप का प्रश्न है वहां सूफियों ने उसे उपाधि रहित और अव्यक्त ही कहा है । यद्यपि जायसी ने उस सत्ता को परम ज्योति रूप में भी निरूपित किया है —

> ' ओहि जोति परछाहीं, नवों खण्ड अंधियार
> सुरुज चंद के जोती, उदित अहै संसार ।' अखरावट

जायसी ने ईश्वर के, मूलत: ब्रह्म के, शुद्ध तत्व रूप को ही स्वीकार किया है किन्तु बाद में गुणों का आरोप करके उसे भक्ति के धरातल पर प्रतिष्ठित किया है । गुणों का आरोप करने के साथ ही उसे नाम स्मरण द्वारा सर्वसुलभ बनाने का प्रयास भी किया । उसकी प्राप्ति में सहायक कुछ कर्मकाण्डों को भी स्वीकार किया है, जिसके माध्यम से उस पर सत्ता का साक्षात्कार किया जा सके । नमाज, जिक्र, फिक्र, रोजा आदि उपासना पद्धति ही वह माध्यम है । इसमें जायसी ने जिक्र पर बहुत अधिक जोर दिया है । इसके द्वारा ही उस अचिन्त्य के गुणों का चिरन्तन चिन्तन कर उसके स्वरूप का ध्यान किया जाता है । ये सूफी कवि उस परमसौंदर्य शाली के सौन्दर्य का चिन्तन

---

१. जायसी, पद्मावत १८।२

करते हुये उसी में अवस्थित होने का प्रयास करते हैं। यह प्रयास ही प्रभु का गुण-चिन्तन एवं नाम-स्मरण है। नाम-स्मरण की महत्ता का प्रतिपादन मध्यकालीन भक्ति-साहित्य में सर्वत्र मिलता है, चाहे वे निर्गुण-धारा के भक्त अथवा कवि हों या सगुण-धारा के हों। सभी ने एक स्वर से नाम का महत्व स्वीकार किया है जो कि उस समय की जटिल स्थिति को देखते हुये आवश्यक भी था। जायसी ने भी इसे स्वीकार किया और उन्होंने नाम-पूजा को आवश्यक बताया। सूफी-साधना में संगीत को महत्व सम्भवत: इसी आधारपर मिला है। ब्रह्म के नाम एवं गुणों का संकीर्तन कर ये प्रेम-भक्त कवि विशेष आनन्द का अनुभव करते थे।

नाम-स्मरण की अनेकों स्थितियां सूफी काव्य के अन्तर्गत मिलती हैं। सभी में साधक ईश्वर के विभिन्न नामों का उच्चारण करता हुआ उसके ध्यान में मग्न रहता है।

अस्तु सूफियों ने भी अपने अचिन्त्य ब्रह्म को भक्ति के क्षेत्र में सुलभ बनाने के लिये नाम द्वारा स्मरण किया है। तथा उस अलौकिक अतीन्द्रिय सौन्दर्य का साक्षात्कार करने का एक मात्र साधन नाम-स्मरण को ही स्वीकार किया है।

सूरदास –

अवतारवाद की विवेचना सूर के काव्य में किस प्रकार हुई है इस पर विचार करने से पूर्व हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि भागवत धर्म के उपास्य श्रीकृष्ण का स्वरूप किन विविध रूपों में व्यक्त हुआ है । सम्पूर्ण स्थिति पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि जितना सर्वव्यापी विकास इस चरित्र का हुआ है उतना कदाचित् ब्रह्म के अन्य किसी भी रूप का नहीं हुआ ।

वैदिक काल में जो स्वरूप मिलता है उसे हम कृष्ण का अवतारी रूप नहीं कह सकते किन्तु महाभारत तक आते-आते वह अवतार की सम्पूर्ण विशेषताओं से विभूषित मिलता है । भागवत् धर्म का व्यवस्थित रूप से विवेचन श्रीमद्-भागवत् तथा श्रीमद्भगवद्गीता में हुआ है । इस काल की उपासना में कृष्ण के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास उभर कर समक्ष आया है। परिणामस्वरूप भक्ति के स्वरूप में हृदयपक्ष की प्रधानता हुई तथा सगुण ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया जाने लगा । कृष्ण की उपासना के प्रचलन का भी यही कारण है । डा० हरवंशलाल शर्मा ने लिखा है " नारायण को नई प्रकृतिस्थ सगुण-ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया जाने लगा और नारायण एवं विष्णु की एकता की स्थापना हो गई । आगे चलकर भगवान् का जो स्वरूप नर-नारायण के रूप में प्रकटित हुआ वह दूसरे काव्य में वासुदेव कृष्ण के रूप में प्रकट हुआ । इस प्रकार विष्णु, नारायण और वासुदेव कृष्ण एक शक्ति के, युग विशेष में अलग-अलग नाम हुये ।[१]

सूरदास दार्शनिककदापि नहीं थे । वह केवल भक्त और कवि थे । कृष्ण की लीला का गान करने में ही उन्हें उन समस्त सिद्धियों की प्राप्ति दृष्टिगोचर होती थी जो बड़े-बड़े दार्शनिकों को अपने जीवन भर के परिश्रम से भी न प्राप्त हो सकी । उनके कृष्ण न तो अचिन्त्य हैं न निर्गुण क्यों कि सूर "रूप, रेख,

---

१. सूर और उनका साहित्य, डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ११६

गुन, जोग, जुगुति बिन' अपने आराध्य का कोई महत्व नहीं मानते हैं। सूर भक्त थे और भक्त की सबसे बड़ी अभिलाषा भगवत्प्राप्ति है। अतएव सूर के साथ निर्गुण ब्रह्म का प्रश्न उठाना बहुत आवश्यक नहीं लगा। सूर के कृष्ण का व्यावहारिक रूप अधिक निखरा हुआ है और उनमें मानवीयता का आरोप इतना प्रबल है कि उसमें अति प्राकृत रूप ढक सा जाता है। सूरदास के काव्य में कृष्ण भगवान का अनुग्रह भक्त-वत्सलता के रूप में प्रकट न होकर प्रेम के रूप में प्रकट हुआ है। यही कारण है कि यहाँ भगवत्कृपा के उल्लेख गौण से प्रतीत होते हैं। सूर ने कृष्ण के लौकिक सम्बन्धों को लौकिक रूप ही दिया है। [1] यद्यपि कुछ आलोचकों ने इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने की चेष्टा की है किन्तु वह मात्र बल-पूर्वक स्थापित स्थापना ही प्रतीत होती है। यह बात तो और है कि उन्होंने निर्गुण ब्रह्म के विषय में कुछ कहा है किन्तु उसे अपनी भक्ति तथा अपने काव्य में किस सीमा तक मान्यता दी है यह उनके लीला, रूप, धाम के वर्णनात्मक पदों को पढ़ने से ज्ञात हो जाता है। उनके कृष्ण अवतार ग्रहण कर भक्तों के कष्टों का निवारण करते हैं। गोपियों के साथ रास रचाते हैं, ग्वाल बालों के साथ गाय चराते हैं, जंगल-जंगल भटकते हैं, माँ यशोदा से चोरी के अभियोग में बाँधे जाते हैं, फिर वह निर्गुण निर्विकार और निराकार कैसे हुये ?" यद्यपि सूरदास जी के काव्य में तत्कालीन सभी विभिन्न धाराओं का प्रभाव लक्षित होता है परन्तु कवि सिद्धान्तों के बंधनों में बंधने वाला नहीं होता। जब उसकी कल्पना उन्मुक्त क्षेत्र में अबाध गति से विचरण करने लगती है तो वह भावमय हो जाता है और दार्शनिक सिद्धान्त, जो कि बुद्धि-गम्य होते हैं, उसके मार्ग से बहुत दूर पड़ जाते हैं।"

वल्लभाचार्य के संप्रदाय में ईश्वर के दोनों रूपों, सगुण-निर्गुण को मान्यता प्राप्त है। सूर इसी सम्प्रदाय से दीक्षित थे तथा इनके सिद्धान्त भी

---

१. डा० हरवंशलाल शर्मा- सूर और उनका साहित्य, पृ० १७४

बहुत कुछ इस सम्प्रदाय से मेल खाते हैं। किन्तु जहाँ निर्गुण-सगुण में प्रधानता देने का प्रश्न उठता है वहाँ इस सम्प्रदाय के भक्त कृष्ण के सगुण रूप को ही अधिक मान्यता देते हैं। वही रस-रूप सगुण ब्रह्म इनकी आराधना का आधार है। परिणामस्वरूप भक्ति, ज्ञान, कर्म और योग में इन्होंने भक्ति को ही अपनाया है। इस सम्प्रदाय के कवियों का यह निश्चित मत था कि सगुण-भक्ति व्यावहारिक है तथा सरल भी। सूर ने प्रारम्भ में ही अपने काव्य में निर्गुणोपासना में होने वाली कठिनाइयों का उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि निर्गुण की गति न तो कहने में आती है और न उस अव्यक्त के प्रति मेरे मन की भावमयी वृत्ति ही ठहरती है। यही कारण है कि अव्यक्त ब्रह्म ~~तक~~ तक पहुँचने में अपने को सब प्रकार से असमर्थ पाकर मैं ने लीला-पद का गान किया है।[१] सूर ठोस रूप के उपासक थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मैं कृष्ण के सुन्दर मुख पर निछावर हो सकता हूं, आजीवन उनकी सुन्दर छवि को देखकर उसके गुणगान करना चाहता हूँ।[२] सूर के प्रभु की इस छवि की उपमा संसार में अन्यत्र कहीं नहीं। "भक्त केवल उस कुटिल बिथुरे कच वाले मुख के ऊपरी सौंदर्य पर ही इतना अधिक भाव मुग्ध हुआ हो, यह बात संसार की साधना में अद्वितीय है।"[३]

---

१. अविगत गति कछु कहत न आवै
   ज्यौं गूंगे मीठे फल कौ रस अन्तर्गत ही भावै ...
   मन वाणी से अगम अगोचर जो जानें सो पावै
   रूपरेख गुन, जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै
   सब विधि अगम विचारै ताते सूर सगुन लीला पद गावै। सूरसागर, प्रथमस्कंध, पृ०१

२. लावननिधि गुन निधि शोभानिधि, निरखि २ जीवन सब गाऊं।
   अंग अंग प्रति अमित माधुरी, प्रगटित रस रुचि ठांइ ठांइ।
   तामें मृदु मुसकानि मनोहर, ताय कहत कवि मोहन नांउ।
   नैन सैन दै दै जब बोलत तापर हौं बिन मोल विकांउ।
   सूरदासप्रभु मदन मोहन छवि यह शोभा उपमा नहिं पांउ।

३. मध्यकालीन धर्म साधना, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २३४-३५

तुलसीदास –

राम का स्वरूप ज्ञानातीत अगाध और अप्रमेय है । ऐसा ही रूप ब्रह्म का श्रुतियों में मिलता है । किन्तु तुलसी के राम इससे कुछ भिन्न हैं । उनके ब्रह्म का निगम, पुरान 'नेति-नेति' कहकर कीर्तिगान करते हैं, वह व्यापक हैं, अचिन्त्य हैं, निर्गुण हैं किन्तु अन्त में उन्हें भगत हित अवतार ग्रहण करना पड़ता है ।[१] यद्यपि तुलसी ने बार-बार कहा है –

राम ब्रह्म परमारथ रूपा । अविगत अलख आदि अनूपा ।[२]

तदनुसार तुलसी ने भी राम की अनिर्वचनीयता अर्थात् अचिन्त्य ब्रह्म की स्थिति को स्वीकार किया है । राम के स्वरूप को उन्होंने रूप, दृष्टि, बुद्धि आदि से परे, अविगत, अकथ, अपार तथा 'नेति-नेति' कहा है ।[३] उसकी कोई माप नहीं, थाह नहीं, वह कल्पना द्वारा भी दृष्टव्य नहीं, ज्ञान तथा बुद्धि भी इस मार्ग में असफल ही हुई है फिर उसके स्वरूप का निरूपण कैसे और किस प्रकार हो सकता है ।

तुलसी के राम के दो रूप हैं – " सगुण और निर्गुन – सगुन अगुन दुइ ब्रह्म सरूपा – " और तुलसी ने इन दोनों रूपों को स्वीकार किया है ।

---

१. मुनि धीर योगी सिद्ध संतत विमल मन जेहि ध्यावहीं
कहि नेति-निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं
सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवन निकायपति मायाधनी
अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी ।

—मानस बा०, पृ० ७८, द्वितीयखण्ड

२. रामचरित मानस, २।९३

३. रामचरित मानस २।१२६

महिमा निगम नेति कहि कहई । जो तिहुं काल एक रस रहई ।

रामचरितमानस १।३४१।४

महिमा निगम नेति करि गाई ७।१२४।१ रामचरितमानस

जगह-जगह पर तुलसी ने इन दोनों रूपों को निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, अनिर्वचनीय, अनादि, अखण्ड, अप्रमेय,अनंत आदि सम्बोधन दिये हैं। राम नित्य, शाश्वत हैं। अतएव उनके रूप अथवा अस्तित्व का विनाश नहीं होता। वह प्रकाशक हैं यह उनकी चिन्मय शक्ति का परिचायक है। तुलसी ने मानस में कहा हैं –

१. राम ब्रह्म चिन्मय अविनासी ।
सर्व रहित सब उर पुर बासी ।[१]

२. सबकर परम प्रकासक जोई ।
राम अनादि अवधपति सोई ।
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू
मायाधीस ज्ञान गुन धामू ।।[२]

वे एक, अद्वितीय, अभेद, शुद्ध एकरूप, एक रस और सम हैं। वे अन्तर्यामी व्यापक एवं सर्व उर वासी हैं। वे अखिल विश्व के शासक हैं। मानस में कितने ही स्थल ऐसे हैं जहां तुलसी ने राम के अचिन्त्य रूप पर प्रकाश डाला है।

तुलसी के ब्रह्म का वास्तविक रूप क्या था अथवा उन्होंने ब्रह्म के किस रूप को प्रधानता दी, साधना के क्षेत्र में यह विचारणीय विषय है। तुलसी के राम कौन थे, उनका वास्तविक स्वरूप क्या था, तथा उनका ब्रह्म के प्रति क्या दृष्टिकोण था, यह शंका मानस में उठाई गई है। तुलसी के ब्रह्म सम्बन्धी दृष्टि-कोण को समझने के लिये क्यों इस शंका की आवश्यकता पड़ी जबकि कबीर के राम को उस समय भी हम अचिन्त्य ही कहते हैं जब वह उसके घर

---

१. रामचरितमानस १।२०
२. वही , १।११७

व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन राम न रूप
भगत हेतु नाना विधि करत चरित्र अनूप —रामचरित मानस,१।२०५

पर 'पति' के रूप में आता है ? तुलसी को क्यों इतने साक्ष्य प्रमाण प्रस्तुत करने की आवश्यकता पड़ी । ऐसा लगता है इसी संदर्भ में राम को ब्रह्मत्व प्रदान किया गया है, वास्तव में तो अरण्यकाण्ड के प्रारम्भ में ही शिव जी ने कह दिया है–

उमा राम गुन गूढ़, पण्डित मुनि पावहिं विरति
पावहिं मोह विमूढ़, जे हरि विमुख न धर्मरति ।

तुलसी के ब्रह्म संबन्धी दृष्टिकोण को समझने के लिए हमें उनके दार्शनिक सिद्धान्तों पर भी दृष्टिपात करना पड़ता है । तुलसी पर विविध वादों का प्रभाव बताया जाता है । किन्तु जैसा कि मानस की रूसी भूमिका में लिखा गया है कि 'तुलसी के दर्शन का अध्ययन अभी शैशवावस्था में है । वर्तमान समय में उनके दर्शन के मौलिक प्रश्नों को निर्णीत नहीं किया जा सकता' कुछ सीमा तक सत्य ही प्रतीत होता है । क्योंकि सत्ता का विविध प्रदर्शन तुलसी को द्वैतवाद की ओर नहीं ले जा सकता । इस प्रकार सत् एवं असत् की समस्या में तुलसी अद्वैत का अनुसरण करते दिखाई देते हैं –

गिरा अर्थ जल बीचि सम
कहियत भिन्न न भिन्न'

तुलसी की ब्रह्म सम्बन्धी मान्यताओं की जड़ें अत्यन्त प्राचीन अतीत में हैं । इन विचारों का स्थिर रूप ऋग्वेद तक में देखने को मिलता है । तुलसी ने अपने दार्शनिक चिन्तन में साम्प्रदायिक दृष्टि कहीं भी नहीं अपनायी है । उनका दर्शन एक भक्त का आत्मचिन्तन अधिक है वस्तु परक विश्लेषणात्मक दर्शन कम ।

तुलसी का ब्रह्म-स्वरूप का विश्लेषण एक सा नहीं मिलता। कठिनाई यही है कि कहीं वह व्यक्त है कहीं अव्यक्त और दोनों स्थितियों में उसके महत्त्व को समान रूप से स्वीकार किया गया है । यही कारण है कि मानस के अनेकों पात्र राम के ब्रह्मत्व में शंका करते हैं । पार्वती, गरुण, भारद्वाज मुनि तीनों का

मूल प्रश्न यही एक ही था कि जो — " नारि विरह मति मोरि" है तथा जिन्हें सर्व निसाचर बाँधेउ नागपास " वे राम व्यापक विरज अज " ब्रह्म कैसे हो सकते हैं। तुलसी ने बार-बार इसी शंका का समाधान किया है —

१. राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानन्द परेस पुराना।

२. अगुन सगुन दोउ ब्रह्म स्वरूपा। अभय अगाध अनादि अनूपा।

अथवा —

३. निर्गुण सगुण विषम सम रूपं
ग्यान गिरा गोतीतिंनूपम् ।

उपर्युक्त कथन सर्वं खल्विदं ब्रह्म के अनुरूप ही है याजहाँ तुलसी कहते हैं :—

" राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी ," इसी प्रकार का भाव तैत्तरीय उपनिषद में भी है। शंकर भाष्य में कहा है —

द्विरुपं हि ब्रह्म अवगम्यते
नामरूप भेदोपाधि विशिष्टं।"

तुलसी ने भी कहा है —नामरूप दुई ईस उपाधी"। तुलसी नाम एवं रूप दोनों ही को वास्तविक एवं आध्यात्मिक गरिमा-युक्त मानते हैं।

निर्गुण रूप अर्थात् अचिन्त्य, अगोचर, अप्रमेय अतर्क्य, अकाम, अनीह अभेद आदि रूपों को भी तुलसी ने स्वीकार किया है।[१] उसके साथ ही उनका

---

१. ब्रह्म जो व्यापक विरज अज अकल अनीह अभेद
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद - मा०पि० बा० २-७१

ब्रह्म अवतार भी ग्रहण करता है। यह कैसे सम्भव हो सकता है क्योंकि जो ब्रह्म अर्थात् वृहत् है, सारा ब्रह्माण्ड ही जिसका स्वरूप है वह लघु कैसे हो सकता है, जो व्यापक है वह एक देशीय नहीं हो सकता, जो विरज है वह गुण युक्त कैसे हो सकता है।[१] किन्तु राम का इस प्रकार का नकारात्मक निरूपण उनकी अनिवर्चनीयता का प्रमापक है, इसलिये ब्रह्म प्रतिपादक श्रुति की भाँति तुलसीदास भी" —मन समेत जेहि जान न बानी।

तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।"

ऐसे राम का स्वरूप-निरूपण करते समय" नेति-नेति" जैसे अर्थ-गौरवशाली शब्द का बार-बार व्यवहार करते हैं।[२]

जिसको वेद नेति-नेति कहकर निरूपण करते हैं, जो स्वयं आनन्दरूप, उपाधि और उपमारहित है, जिसके अंश से अनेक शिव ब्रह्मा और विष्णु भगवान उत्पन्न होते हैं ऐसे प्रभु सेवक के वश में हैं।—बस यहीं पहुंचकर तुलसी की समस्त साधना सगुण परक हो जाती है और उनका अचिन्त्य ब्रह्म भी भगत हित अवतार ग्रहण कर नाम रूप से अभिहित होता है। और वह —

> बिनु पद चलइ सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना।
> आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।....
> अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी
> जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान
> सोइ दसरथ सुत भगतहित, कोसलपति भगवान।।[३]

---

१. राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानन्द परेस पुराना। मा० बा० २, पृ० ४७५
राम ब्रह्म चिन्मय अविनासी। सर्बरहित सब उर पुरबासी।
मा०बि०बा० २, पृ० ५१४

२. तुलसीदर्शन मीमांसा - डा० दयभानु सिंह, पृ० ५१-५२

३. मा०वि०बा०, भा० २, पृ० ४६४

अर्थात् जो सब प्रकार से अलौकिक है, जिसकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता वही अचिन्त्य अगाध स्वरूप ब्रह्म भक्तों के हितार्थ दशरथ-सुत के रूप में अवतरित होते हैं। नाम रूप उसकी प्रमुख विशेषतायें हैं। तुलसी के आराध्य का वास्तविक स्वरूप यही है/उनका अचिन्त्य ब्रह्म नाम और रूप का बंधन स्वीकार कर सगुणत्व की भावभूमि पर प्रतिष्ठित होता है। अचिन्त्य की अगम्यता का बोध कराने के लिए ही तुलसी ने उसे नाम की परिधि के अन्तर्गत स्वीकार किया है और उसे विभिन्न नामों से सम्बोधित किया है किन्तु सार रूप में राम-नाम को ही ग्रहण किया है।

मानस के उत्तर काण्ड में ब्रह्म के रूप के सम्बन्ध में तुलसी ने अनेकानेक स्थलों पर संकेत किया है। किन्तु प्रत्येक ऐसे स्थलों पर उनका जहाँ वह —

"अव्यक्त मूलमनादि तरुत्वच चारि निगमागम भने" के रूप में स्वीकार्य होता है वहीं अंत में तुलसी यह कहने से नहीं चूकते "—

" ज्ञान गिरा गोतीत अज, माया मनु गुन पार
सोइ सच्चिदानन्द घन, कर नर चरित उदार "

वह लाख अचिन्त्य हो किन्तु नर-चरित करता है, अपने भक्तों के आग्रह पर। उसकी विलक्षणता" नाम अनेक अनादि निरंजन" में ही है। स्वयं भगवान" जानेसु

---

१. उर अभिलाष निरंतर होई देखिए नयन परम प्रभु सोई
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथवादी। मा०पि०वा०१, पृ० ६३२

२. नेति नेति जेहि वेद निरूपा। निजानन्द निरुपाधि अनूपा
संभु विरंचि विष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगति हेतु लीला तनु गहई। मा०पि०बा०१, पृ०६३४

३. व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत बिनोद
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद।

मा०पि०बा०भा० ३, पृ० ७५

ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मौहिं कहकर अपनी अनिवर्चनीयता स्वीकार करते हैं।

अस्तु तुलसी का ब्रह्म कला वा चेष्टा, नाम और रूप इन सबसे रहित है। अनुभव से प्राप्त होने वा जानने योग्य है, अखण्ड है, उपमा रहित है। मन और इन्द्रियों से परे है निर्मल और विनाश रहित, विकार रहित, सीमा रहित और आनंद राशि है। वेद कहते हैं कि तू वही है, उसमें और तुझमें भेद नहीं है, जैसे जल और जल की लहर एक ही है उनमें कुछ भेद नहीं है।[१] किन्तु तुलसी का साधक अपने आराध्य की समकक्षता नहीं स्वीकार कर सकता। भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता है भक्त और भगवान में अन्तर। आराध्य के प्रति आराधना सतत चिन्तन ही भक्त को अभीष्ट है। अस्तु भक्ति और भगवान ही भक्त को अभीष्ट है, अस्तु भक्त और भगवान का अलग अस्तित्व स्वीकारना ही पड़ता है। भक्त को किसी आश्रय अथवा आलम्बन की आवश्यकता होती है। यह आलम्बन ही जब सगुण रूप में भक्त के समक्ष आता है तो उसे नाम और रूप ग्रहण करना पड़ता है।

अतएव तुलसी की ब्रह्म-विषयक मान्यतायें बहुत अधिक अद्वैत के पक्ष में नहीं हैं क्योंकि भक्त और भगवान के बीच का सम्बन्ध आधारहीन हो ही नहीं सकता। उन्होंने ब्रह्म के अचिन्त्य स्वरूप को स्वीकार किया है किन्तु अन्त में वह सगुणत्व की भावभूमि पर उतरकर नाम-रूप ग्रहण करता है।

---

१. अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभव गम्य अखण्ड अनूपा।
मन गोतीत अमल अविनासी। निर्विकार निरवधि सुखरासी
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहि वेदा।

—मा०पि०, भाग ३, पृ० ५४४

(ख) नामसाधना का स्वरूप

नाम-रूपात्मक इस जगत के प्रत्येक पदार्थ का अपना नाम रूप है। पदार्थ की यह विशेषता उसे एक दूसरे से पृथक् सिद्ध करती है। इस प्रकार वस्तु की अनेकता उसके नाम-रूप की अलग-अलग स्थिति को स्पष्ट कर देती है। सृष्टिकर्ता ने अनन्त अपौरुषेय वेद ज्ञान के अनुसार सबके नामों एवं कर्मों की पृथक्-पृथक् अवस्था की।[१] तथापि इन अनेकताओं एवं विविधताओं के अन्तर का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर अन्ततः जिस एकता का आभास मिलता है उसे हम दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। यही बात आधार और आधेय के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है। जगत के समस्त पदार्थ जड़ चेतन रूप सारे नाम-रूप एक परमतत्व के अपृथक्सिद्धविशेषण हैं। इसी प्रकार परमतत्व इस जगत का आधार है, और जगत परमतत्व का आधेय है। ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज ये छः गुण हैं, जो परमतत्व की भगवत्ता को प्रकट करते हैं और जिनके कारण परमतत्व को भगवान् कहा जाता है। वही एक शक्ति तत्व-दर्शियों का परम तत्व है, वे सच्चिदानन्द घन हैं। वे ही ब्रह्मवेत्ताओं के परब्रह्म हैं। वे ही योगियों के परमात्मा हैं, और वे ही भक्तों के भगवान् हैं परमतत्व का ज्ञानद्वारा चिन्तन होता है। योगिजन उसे ध्यान द्वारा प्राप्त करने की बात करते हैं। भगवान् का भक्त नामस्मरण के द्वारा इस दिशा में प्रवृत्त होता है।

भगवन्नामस्मरण से तात्पर्य भगवान के उन नामों के स्मरण से है जिनसे भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता प्रकट होती है। अर्थात् नामस्मरण में भगवान् के उन नामों का विशेष महत्व है जिससे उनके स्वरूप, गुण, लीला, वैभव, का परिचय प्राप्त होता हो।

भगवान् अचिन्त्य [illegible], अनन्तगुण, अपरिमेय शक्ति सम्पन्न हैं। भगवन्नाम् की शक्ति विलक्षण है। ब्रह्म स्वरूपतः अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति, अनन्त गुण, अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य के नित्य आधार हैं, किन्तु वह निज कृपा से नामरूप में अवतीर्ण होकर मनवाणी से गोचर हो जाता है। विभिन्न

---

१. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे। मनुस्मृति १।२१

देश-काल एवं परिस्थितियों में साधक ब्रह्म को विभिन्न नामों द्वारा स्मरण करता है। इन नामों के स्मरण के लिये जप, कीर्तन, मनन, ध्यान, आदि का विधान अपनी सुविधा के लिए साधकों ने बना लिया है।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ।"[१]

वैदिक मन्त्रों में इन्द्र, चन्द्र, वायु, वरुण, सूर्य, अग्नि, प्रजापति ये सभी नाम उसके ही हैं। ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्, गोविन्द, विष्णु, नारायण, वसुदेव, कृष्ण, हरि, राम भी उसी आनन्दशक्ति के द्योतक हैं और वे ही प्रत्येक नाम के वाच्य हैं। किसी नाम के शाब्दिक या आक्षरिक अर्थ की ओर अधिक आग्रह होने पर बुद्धि संकीर्ण हो जाती है और नाम का यथार्थ बोध नहीं होता तथा नाम के भीतर नामी की उपलब्धि नहीं हो पाती। सभी नाम उसी एक अद्वितीय परमतत्त्व की महिमा के व्यंजक हैं। नाम के दिव्यरूप होने के कारण उसमें एक अद्भुत शक्ति होती है। महर्षि पतंजलि ने "तज्जपस्तदर्थभावनम्" द्वारा यह कहा है कि नाम का जप करते समय उसके द्योतित अर्थ की भावना अवश्यमेव करनी चाहिए। क्योंकि नाम और नामी का, शब्द और अर्थ का एक अविभाज्य नित्य संबंध स्थापित रहता है। तुलसी ने तो नाम को राम से बढ़कर सिद्ध कर दिया है। नाम को तुलसीदास ने "चतुर दुभाषी" कहकर साधन जगत के एक महनीय तथ्य की अभिव्यक्ति की है। वास्तव में नाम का यही स्वरूप है। भक्त भगवान् के स्वरूप को जानने समझने में सर्वथा समर्थ नहीं हो पाता।

इस संदर्भ में यह प्रश्न भी उठता है कि नाम के साथ किस स्वरूप का चिन्तन किया जाय अथवा कौन सा नाम अधिक महत्त्वपूर्ण है। यहाँ हम कह सकते हैं, भगवत्प्रीति अथवा उसके प्रति श्रद्धा साधक को तभी हो सकती है जब वह अपने चेतन-अचेतन में परमात्मा के किसी भी स्वरूप को अंकित कर चुका हो। यहाँ साधक की रुचि को ही प्राथमिकता मिलती है। किन्तु यह आवश्यक हो

---

१. ऋग्वेद १।१६४।४६

जाता है कि वह जिस नाम का जप करे उसी स्वरूप का चिंतन भी करे । निर्गुण साधकों के समक्ष स्वरूप का प्रश्न खड़ा हो सकता है । कबीर के संदर्भ में मैंने इस विषय पर विचार किया है । नाम भी कोई निश्चित नहीं वह निर्गुण साधक और सगुण साधक दोनों को सर्वमान्य है । डॉ निर्गुणोपासक उसी स्वरूप को, शक्ति, तेज, नूर, आदि में व्यक्त कर देते हैं । कबीर के अनुसार नाम की साधना की वास्तविक शक्ति भाव में है, नाम उसी भाव का संकेत है -

पंडित बाद वंदते झूठा ।
रामकह्यां दुनिया गति पावै, षांड कह्यां मुख मीठा ।
पावक कह्या पाव जे दाझै, जल कह त्रिषा बुझाई ।
भोजन कह्या भूख जे भाजै, तो सब कोई तिरि जाई ।[२]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण भक्ति में नाम का स्वरूप सगुन भक्ति से कुछ भिन्न है । नाम साधना केवल होठों से जपने की वस्तु नहीं है अपितु वह हृदय से साधित होनी चाहिए । कबीर ने कहा है कि यदि राम-नाम मात्र में इतनी शक्ति होती तो मृत्यु का इतना दुस्साहस नहीं होता । अस्तु हृदय से उपजी नाम के प्रति प्रेम की भावना ही इसका मूल है । निर्गुण रूप तो मन वाणी से अगम, अगोचर है किन्तु जब यह परमतत्व शक्तियुक्त होकर उपास्य तत्व में परिणत हो जाता है तो वह साधना का आधार बन जाता है । निर्गुण पंथियों ने नाम जप की प्रक्रिया को अजपा जप, ध्यान आदि के द्वारा कार्यान्वित किया है । उनके अनुसार-श्वास प्रश्वास के साथ यह क्रिया अपेक्षित है । जब वाह्य विधान द्वारा मन संकुचित हो जाय तब रसना रोककर अभ्यन्तर साधना

---

१. संस्मरण में अनेक नाम चिंतन की अपेक्षा एक ही नाम का पुनरावृत्तिपूर्वक चिंतन आत्मचिन्तन शील साधकों ने सर्वश्रेष्ठ माना है ।

(कल्याण, पृ० ४०५ (साधनांक)

२. क०ग्रं०, पृ० १०१।४०

में लीन हो । मुख बंद करके हृदय एवं कंठ से जप करता हुआ नाम के ऊपर मूलचक्र पर बार-बार नाम ध्वनि की चोट करे इसका प्रभाव हृदय पर पड़ता है, तथा मन की सारी चंचलता दूर हो जाती है । परिणामत: एक दिव्य प्रकाश दृष्टिगत होने लगता है । नाम जप द्वारा हृदय प्रकाशित होने पर ध्यान की अपेक्षा होती है । साधना की प्रारम्भिक स्थिति में भगवान के स्वरूप का ध्यान असम्भव होता है । अभ्यास तथा ध्यान के द्वारा साधक के भीतर मधुर ध्वनि का संवरण होने लगता है, यह ध्वनि दिव्य प्रकाश के उपरान्त सुनाई देती है । जिसके आस्वाद से तथा अभ्यास से साधक को अपने भावानुसार भगवान का सच्चिदानंद स्वरूप प्रस्फुटित होता दिखाई पड़ने लगता है । साधना की यह चरम परिणति है, यहीं से सगुण साकार रूप की भक्ति का प्रारम्भ होता है । इसी में चित्त लगा देने से बाहर-भीतर प्रकाश ही प्रकाश फैल जाता है । यही इष्ट है इसी प्रकाश को प्राप्त करना साधकों का परम लक्ष्य है ।

नाम-साधना की प्रक्रिया

इन्द्रियों तथा मन की स्थिरता के लिये साधकों ने नाम-जप की आवश्यकता स्वीकार की है । किन्तु इस नाम-जप की वास्तविक अनुभूति के लिये मनोविज्ञान की ऐसी परिस्थितियों से परिचय प्राप्त करना आवश्यक होगा जिनमें नाम के प्रति क्रमश: रागात्मक वृत्तियों का उदय हो सकता है । हिन्दी के समस्त संतों की यह मान्यता रही है कि इस नामानुभूति के लिये भी राम-कृपा अनिवार्य रूप से आवश्यक है । यह कृपा किसी बौद्धिक व्यायाम की अपेक्षा नहीं रखती वरन् यह एक ऐसी प्रज्ञात्मक तरंग है जो स्वयमेव अन्तस्थल में तरंगित हो सकती है । यह प्रज्ञा एक दैवी विभूति के रूप में स्वीकार की जाती है । फलस्वरूप इस कृपा के, नामानुभूति की क्रमश: स्थितियाँ परिलक्षित होती हैं । ये स्थितियाँ तुलसी के द्वारा रचित रामचरित मानस के उत्तरकाण्ड में व्यक्त की गई हैं --

जाने बिनु न होइ परितीती । बिनु परितीति होइ नहिं प्रीती
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई । जिमि खगपति जल के चिकनाई ।

अर्थात् बिना भगवद्भजन् के क्लेश दूर नहीं होते, बिना राम-कृपा के राम की प्रभुता जानी नहीं जा सकती, बिना महिमा जाने विश्वास नहीं होता और बिना विश्वास के प्रीति नहीं होती, बिना प्रीति के भक्ति दृढ़ नहीं होती जैसे बिना तेल के जल की चिकनाई। इसी प्रकार तुलसी ने शिव द्वारा भी कहलाया है –

उमा कहउं मैं अनुभव अपना । सत हरिभजन जगत सब सपना ।

उपर्युक्त कथन से चार स्थितियां स्पष्ट होती हैं - पहली - अभिज्ञान दूसरी-विश्वास, तीसरी स्थिति प्रेम और चौथी नाम-भक्ति । इनके दो विभाग किये जा सकते हैं –

एक. अभिज्ञान –इसके अन्तर्गत तीन प्रमुख बातें आती हैं –

(१) आसक्ति
(२) अनुराग
(३) प्रेम

दो विश्वास –इसके चार प्रमुख विभाग किये जा सकते हैं :–

(१) कृपाधार
(२) लीलाधार
(३) गुणाधार
(४) जपाधार (जिस स्थिति पर विश्वास पूर्णता को प्राप्त होता है और साधक राम से अधिक राम के नाम को महत्त्व प्रदान करता है) ।

जब नाम-जप करते-करते साधक की चित्तवृत्ति नामी का रस ग्रहण करने लगती है तो रस के सहारे वह अधिष्ठान ब्रह्म में विलीन हो जाती है । साधक की सफलता का मूल कारण श्रद्धापूर्वक सविधि नाम-जप और प्रार्थना है । यह जप पल दो पल का नहीं वरन् दीर्घ काल तक चलना चाहिए –

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः ।[१]

---

१. योगदर्शन - १।१४

यह नाम-जप की साधना का मूल सोपान है। यह एक साधारण सा मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि यदि नाम में साधक की श्रद्धा एवं प्रेम है। उसकी अमोघ एवं अतुलनीय शक्ति में विश्वास है तो उसे ब्रह्म की व्याकरण संबंधी तथा दार्शनिक सूक्ष्मताओं के प्रति बहुत अधिक जिज्ञासा नहीं होगी।

साधारण साधक अपनी लगन और रुचि रुचि के अनुकूल अपने आराध्य के प्रति जिज्ञासा, अथवा श्रद्धा अर्पित करता है। साधक की यह नितान्त सामान्य मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। अपनी इस श्रद्धा के अनुरूप वह आराध्य का व्यक्तित्व भी निर्मित कर लेता है। तभी तो वह सदैव एक सा नहीं रहा; न नाम में, न रूप में। कभी वह सगुण का साधक बनता है, कभी निर्गुण का, किन्तु दोनों स्थितियों में नाम का यथावत स्थान रहता है। निर्गुण के साथ यह कठिनाई आती है कि वह अचिन्त्य, निर्विकार, निर्गुण, निराकार है फिर उसका रूप कैसा ? अत: साधकों ने उसे विविध नामों द्वारा स्मरण किया है। ध्यान देने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि कबीर जैसे ज्ञानी संत साधकों ने बार-बार यह कहा है कि उनका ब्रह्म केवल एक शक्ति है, तेज है, नूर है, तथापि ये संत भी जब उसे नाम देने लगे तो वही नाम दिया जो साधारण सगुण साधकों ने दिया है। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि साधक उस परम ज्योति की महती शक्ति से प्रभावित अवश्य हुआ है और यदा-कदा उसकी आत्मा भी अपने प्रियतम से साक्षात्कार करने के लिये विचलित हुई है। कबीर में इस प्रकार के अनेक उद्धरण मिलते हैं। यद्यपि कबीर अवतार वाद में विश्वास नहीं करते, उनकी आस्था निर्विकार भाव में थी तथापि उन्होंने अपने प्रभु का स्मरण अवतारवादी नामों से किया इस नाम प्रयोग में दो दृष्टियां है --

(१) संसार में सभी नाम ईश्वरवादी हो सकते हैं क्योंकि वह सर्व-व्याप्त है -- "सर्वनाम परब्रह्म मे यामें अटक कहाँ"

(२) कबीर ने अपनी वाणी सामान्य जनता के लिये प्रयुक्त की परम्परा में आने वाले सभी नामों का माध्यम लिया है अपने ब्रह्म को रूपायित करने के लिये। सागर में संतरण के लिये नौका की आवश्यकता हुई। उसके बाद

कबीर ने उसकी आवश्यकता नहीं स्वीकार की । अन्ततोगत्वा नाम की परिणति ब्रह्म में कर देते हैं ।

साधना के क्षेत्र में भावना का बड़ा महत्त्व होता है । नहीं तो कोई कारण नहीं था कि सूर कृष्ण के उपासक होते और तुलसी राम के जब कि दोनों सगुण साकार रूप धारण कर पृथ्वी पर अवतरित होते हैं । यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य अपनी भावना का साक्षात्कार अनेक प्रकार की गुप्त चेष्टाओं द्वारा करता है । इस चेष्टा के अनुरूप साधक का मन जो कुछ भी चाहता है, जिस आराध्य के रूप को वह ध्यान में लाता है वही उसका ध्येय बन जाता है । यह प्रक्रिया इस सीमा तक बढ़ती है कि ध्याता और ध्येय का अन्तर ही समाप्त हो जाता है । इस स्थिति पर नाम-रूप का विवाद नहीं रह जाता है । जीव इतना समर्थवान हो जाता है कि वह उस तत्त्व का साक्षात्कार कर सके, जो अपार शक्ति, ज्ञान और आनंद का स्रोत है । उसके साक्षात्कार के लिये विविध प्रकार की साधना प्रणालियों का अवलम्बन लिया जाता है ।

जप :- उपासना मार्ग में जप एक महत्त्वपूर्ण है । मन की चंचल प्रवृत्तियों को वश में करने के लिये जप का अत्यधिक महत्त्व है । जप द्वारा ही ये प्रवृत्तियां एकाग्र चित्त होकर ध्येय पर स्थिर होती हैं । नाम उपासना की यह प्रक्रिया उतनी सरल नहीं है । इसी को लक्ष्य करते हुए गीता में अर्जुन ने भगवान से कहा था -

> चंचलं हि मन: कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्
> तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।[1]

ऐसी स्थिति में ध्यान के द्वारा मन को उस केन्द्र बिन्दु पर स्थिर करने की चेष्टा करता है । नामाभ्यास द्वारा इस कार्य में सहायता मिलती है । इस दिशा में साधक की नाम-भक्ति में तटस्थता अनिवार्य है । जप का महत्त्व

---

१. गीता ६।३४

ध्यान एवं अभ्यास द्वारा बढ़ जाता है। जप की यह प्रक्रिया निराधार नहीं होती। उसके साथ भाव-बोध तथा अर्थ की व्याप्ति आवश्यक तत्त्व है। आत्म निरीक्षण के अभ्यास से भी जप में सहायता मिलती है। अग्निपुराण में जप शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है —

जकारो जन्मविच्छेदः पकारः पापनाशकः।
तस्माज्जप इति प्रोक्तो जन्म पापविनाशकः।।

अर्थात् 'ज' शब्द से जन्म का विच्छेद और 'प' से पाप का नाश; जो जन्म मरण और पाप का नाश करने वाला है, उसको जप कहते हैं। जप के तीन भेद हो सकते हैं --एक वाचिक, दूसरा उपांशु तथा तीसरा मानसिक। जब मंत्र का उच्चारण स्पष्ट सुनाई दे तो वह वाचिक जप कहलाता है। जब मंत्र का उच्चारण इस प्रकार किया जाय कि होंठ धीरे-धीरे हिलते रहें और समीपस्थ व्यक्ति भी उसे न सुन सके, जप करने वाला स्वयं ही सुनता हो तो उसे उपांशु जप कहते हैं। जब मन्त्र के पद और अक्षरों का ध्यान शब्दार्थ रहित अन्तर्मन के द्वारा किया जाय, न होंठ हिलें न जिह्वा, उसे मानसिक जप कहते हैं। इस प्रकार का जप सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।[1]

<u>वैज्ञानिकता</u> :—

किसी भी शब्द के स्पष्टतः प्रकट होने के पूर्व उसे शरीर के अन्दर अनेक सूक्ष्म क्रियाओं-प्रक्रियाओं से होकर गुजरना पड़ता है। सर्वप्रथम मन में वृत्ति उठती है, तदुपरान्त वृत्ति-सदृश विचार की उद्भावना होती है और इस विचार प्रकट करने का मूल स्थान सूक्ष्मतम परा या नाद की स्थिति है। इस दृष्टि से वाह्य स्फोट होने तक किसी भी शब्द की चार अवस्थायें होती हैं।

---

१. शनैरुच्चरन् मन्त्रं किंचिदोष्ठौ प्रचालयेत।
किंचिच्छ्रवणायोग्यः स्यात् स उपांशुर्जपः स्मृतः।।
विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः।। मनुस्मृति २।८५

पूर्वोक्त परा या नाद ही शब्द की आद्यावस्था कही जा सकती है। यह शब्द ब्रह्म की चैतन्य युक्त एवं स्पन्दनरहित स्थिति है। इसे शब्द का संस्कार मात्र कहना अधिक उपयुक्त होगा। वस्तुत: शब्द की बीज रूप में स्थिति यही है। परा (या नाद) का उत्पत्तिस्थल मूलाधार चक्रस्थित कुण्डलिनी है। वायु के संयोग से यह 'परा' स्पन्दनयुक्त होकर पश्यन्ती रूप में परिणत हो जाती है। इसकी स्थिति नाभि स्थानीय स्वाधिष्ठान चक्र में है। इस प्रकार परा वाणी नि:स्पंद (या गतिहीन) एवं पश्यन्ती स्पन्दनयुक्त होती है। उक्त परा एवं पश्यन्ती दोनों ही सूक्ष्म स्फोट कहे जा सकते हैं।[1]

इसके पश्चात् वायु संयोग से अधिक स्पन्दन युक्त होकर यह पश्यन्ती ही हृदयस्थ अनाहतचक्र में जाकर मध्यमावाणी के रूप में परिणत हो जाती है। 'मध्यमा' को किसी वस्तु की धारणा बनाने वाली शब्द की मानसिक गति कहा जा सकता है। अतएव यह स्थिति भी अन्तस्फोट के ही अन्तर्गत आती है, और अन्त में यही मध्यमा वाणी ही वायु संयोग से कण्ठस्थ विशुद्धचक्र में बैखरी रूप में परिणत होकर अत्यधिक स्पन्दनयुक्त (गतिशील) हो जाती है। इस प्रकार यह वाग्यंत्र द्वारा वाह्यस्फोट या शब्द रूप में प्रकट होकर श्रोत्रग्राह्य होती है।

इस शब्द या बाह्य स्फोट का सम्बन्ध उस सूक्ष्मतम परा या नाद की निष्क्रिय नि: स्पन्द स्थिति से स्थापित हो जाने के पश्चात् अब यहाँ उक्त विद्या के प्रकाश में नाम-जप की प्रक्रिया को देखने का प्रयास अपेक्षित है।

नामजप के स्थूल से सूक्ष्मतम स्थिति तक क्रमश: निम्न भेद या रूप हो सकते हैं —वाचिक, उपांशु, मानसिक, ध्यानजप, तथा अनन्य जप। नाम का स्पष्ट उच्चारण ही वाचिक-जप है। उपांशु जप में होंठ और जीभ तो हिलते हैं परन्तु शब्द बाहर नहीं निकलते, स्वर केवल अपने कान में ही (फुसफुसाहट की ध्वनि) सुनाई देता है। जब कि मानसिक जप में होठ या जीभ नहीं हिलते

---

(1) Sphotavada - by Nagesa Bhatta : Preface VII

इसमें मनोमय शब्द का मन ही मन उच्चारण होता है। वाचिक एवं उपांशु जपों से वाणी एवं श्रवण का कार्य करने वाले स्नायुओं एवं ज्ञान तन्तुओं में गति उत्पन्न होती है, साथ ही शरीर के भीतर एवं बाहर प्रकम्पन उत्पन्न होते हैं। मानसिक जप में मध्यमा वाणी द्वारा ज्ञान तन्तुओं में सूक्ष्म कम्पन या गति उत्पन्न होकर सूक्ष्म शरीर प्रभावित होता है। ध्यान जप पश्यंती-वाणी से ज्ञान तन्तु जाल (Sympathetic Nerve System) एवं स्नायु चक्र (Nervous plexuous) को सूक्ष्मगति प्रदान कर ईथर से भी सूक्ष्म प्राण--तत्व में कम्पन उत्पन्न करता है। जिसका प्रभाव 'कारण शरीर' पर पड़ता है। सबसे सूक्ष्म एवं अन्तिम अनन्य-जप है। इस जप में 'परावाणी से कुण्डलिनी में तेज की उत्पत्ति होती है, तथा तेज में सूक्ष्मतर गतियुक्त कम्पन उत्पन्न होता है जो जीवात्मा रूपी वृहत्केन्द्र बनाया करता है। इस प्रकार वाचिक से क्रमश: सूक्ष्मतर जप की ओर अग्रसर होते हुए अनन्य जप में पहुंच कर नाम-साधक स्वत: ईश्वर रूप हो जाता है।

नाम-जप के सन्दर्भ में यदि उपर्युक्त प्रक्रिया पर विचार करें तो हमें यह सहज ज्ञान हो जायगा कि जिस समाधिस्थिति को एक योगी अष्टांगयोगादि अत्यन्त जटिल एवं दुरूह साधनों के द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत करने के उपरान्त कठिनता से प्राप्त करता है, उसे एक नाम-साधक नाम-जप के द्वारा सहज ही प्राप्त कर लेता है। यह प्रक्रिया कुछ इस प्रकार समझी जा सकती है -

राम
र + अ + म
अग्नि सूर्य चन्द्र

नाम-जप करते-करते जब आत्यंतिक एकाग्रता की स्थिति आ जाती है उस समय इड़ा (चन्द्रनाड़ी) और पिंगला (सूर्यनाड़ी) नाड़ियां समगति से चलने लगती हैं। इसी स्थिति में प्राण सुषुम्ना (अग्नि-नाड़ी) नाड़ियों में प्रविष्ट होता है और यही वह क्षण होता है जब कुण्डलिनी उद्बुद्ध होकर वेगवती होती है, साथ ही स्फोट या नाद होता है, नाद से प्रकाश उत्पन्न होता है। प्रकाश का अव्यक्त-रूप ही महाविन्दु है। ऐसी स्थिति में कुण्डलिनी सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट होती है। सुषुम्ना के मध्य में वज्रा नाड़ी है और वज्रा के मध्य भाग में चित्रा नाड़ी है, तथा चित्रा के मध्य भाग में ब्रह्म नाड़ी है। ब्रह्म नाड़ी ही शरीर में ऐसी है

जो दिव्य चिन्मय शक्ति-ग्रहण करने में सक्षम है ।

शब्द ब्रह्मरूपिणी कुण्डलिनी जब उर्ध्वगामिनी होती है तब इन तीन नाड़ियों का स्पर्श करती हुई चलती है । चित्रा नाड़ी के समीप ही कुण्डलिनी उर्ध्वगामिनी होती है । अस्तु इसे ब्रह्म-द्वार कहते हैं । इस प्रकार कुण्डलिनी एक-एक करके स्वाधिष्ठान मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र को प्रज्ज्वलित एवं अनुप्राणित करती हुई सहस्रार में उपस्थित होती है । इस सहस्रार-चक्र को उद्दीप्त करना ही कुण्डलिनी-साधना का चरमलक्ष्य है । यहीं कुण्डलिनी सदाशिव की संगता प्राप्त करती है । यही समाधि की दशा है ।

वस्तुत: नाम-जप के प्रभाव से वैराग्य, योग आदि सभी जाग्रत हो जाते हैं । तुलसी के शब्द इस विषय में कितने सार्थक हैं :--

" राम नाम सों विराग, जोग, जप जागिहैं ।"[1]

उपर्युक्त वैज्ञानिक विश्लेषण के उपरान्त अब यह देखना है कि नाम-जप के द्वारा किस प्रकार प्रकृति (स्वभाव) के साथ-साथ मानव आकृति में भी परिवर्तन हो जाता है । वस्तुत: नाम साधक को भागवत शरीर की उपलब्धि होती है । यह यों ही नहीं हो जाती इसकी पृष्ठभूमि में वैज्ञानिक प्रक्रिया कार्य करती है ।

मन्त्रोच्चारण से कम्पन उत्पन्न होता है । वह वातावरण को आन्दोलित करता हुआ वर्तुलाकार (Circles) रूप में फैलता है । तदुपरान्त इन वर्तुलों से मिलने से विशिष्ट आकृतियां बनती हैं । जिनका प्रभाव स्थूल एवं सूक्ष्म जगत पर पड़ता है । वाह्य वातावरण को प्रभावित करके ये कम्पन शरीर के आन्तरिक भागों पर प्रभाव डालते हुए (पूर्ववर्णित के अनुसार) अपने मूल उत्पत्ति स्थान पर जा पहुंचते हैं । इस प्रकार नाम-जप के जो कम्पन अपने मूल स्थान से उठकर मुंह तक आकर बाहर निकलते हैं और फिर वर्तुल (Circulation) पूरा करते हुए लौटते हैं तथा शरीर के अन्दर ज्ञानतन्तु शब्द-ज्ञान रज्जु (auditory nerve)

---

१. विनय पत्रिका, पदसंख्या ७०

को प्रकम्पित करते हुए (उद्भूत) तेज मस्तिष्क (ब्रह्म हृदय या (Seat of the Soul) में समाहित होता रहता है । इस प्रकार यह पूरी प्रक्रिया प्रत्येक जप में होती है ।

अनवरत जप के परिणामस्वरूप मानस शक्ति में, विद्युत और प्राण में कम्पन होते रहते हैं तथा उसके घनीभूत हो जाने पर सूक्ष्म तेजोमय दैवताकृति का निर्माण होता है । और सतत् एवं एकनिष्ठ नाम साधना से जब इस दैवताकृति में दृढ़ता आ जाती है तो वह शनैः शनैः सम्पूर्ण शरीर एवं मन में व्याप्त होकर इस मानवी देह को भागवती आकृति प्रदान करती है । उसके लिए मुक्ति एवं भुक्ति दोनों ही हस्तामलकवत् हो जाती है ।

महत्त्व :-

ईश्वर की अमोघ कर्तृत्व-शक्ति में पूर्ण श्रद्धा और अखण्ड विश्वास का प्रादुर्भाव साधक की साधना की सफलता का प्रथम सोपान है । वैदिक ग्रन्थों से लेकर मध्यकालीन सभी भक्ति विषयक ग्रन्थों में ईश्वर के नाम-रूप, लीला, गुण धाम आदि की विशद व्याख्या के साथ उसके महत्त्व का भी प्रतिपादन किया गया है । ईश्वर के साथ साधक का रागात्मक सम्बन्ध एक प्रक्रिया है । ज्यों-ज्यों भक्त भगवान के प्रति आकृष्ट होता है त्यों-त्यों उसकी सांसारिक प्रवृत्तियों के भोग की कामना समाप्त होती जाती है । उसकी साधना का लक्ष्य भगवत्प्रेम ही रह जाता है । यह प्रेम उसके नाम-रूप गुणादि के प्रति उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होता जाता है । भक्त सांसारिक माया मोह से छुटकारा पाकर ईश्वर-रत हो जाता है । भगवान के नाम का माहात्म्य ही ऐसा है कि विवशता में किये गये नामोच्चारण से भी परमपद की प्राप्ति हो जाती है । श्रीमद्भागवत में ब्रह्मा जी ने स्पष्ट कहा है कि -" जो लोग प्राण जाते समय आपके अवतार गुण और कर्मों को सूचित करने वाले देवकीनंदन, भक्तवत्सल, गोवर्धन धारी आदि नामों का विवश होकर भी उच्चारण करते हैं, वे अनेक जन्मार्जित पापों से तत्काल छूट कर मायादि के आवरण से रहित अमल ब्रह्म पद को प्राप्त करते हैं ।"[1]

---

१. यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।
ते नैकजन्मशमलं सहसैव हित्वा संयान्त्यपावृतमृतम् तमजं प्रपद्ये ।।

--श्रीमद्भागवत ३।९।१५

शुद्ध हृदय से की गई प्रार्थना से अभीष्ट की पूर्ति अवश्य होती है। भगवान का स्वभाव ही भक्तों का कल्याण करना है। जिस प्रकार अग्नि की दाहक शक्ति, जल की शीतलता तथा वायु की चंचलता एक ध्रुव सत्य है उसी प्रकार भगवान् की भक्तवत्सलता भी उनका स्वभाव है। परिणामत: ईश्वर की नाम-महिमा का गान प्रत्येक देश , प्रत्येक धर्म तथा प्रत्येक काल में किसी न किसी रूप में होता आया है। यह साधना का स्वरूप व्यक्तिगत भी होता है तथा सामूहिक भी। वास्तव में शुद्ध मन तथा एकाग्र चित्त से की गई इस प्रार्थना द्वारा समृद्धि, शक्ति, भक्ति तथा शान्ति प्राप्त होती है। साधक को नाम-भक्ति की साधना में जिस असीम आनंद की उपलब्धि होती है उसके समक्ष संसार अथवा स्वर्ग के सभी विलास वैभव हेय हो जाते हैं। भगवान् का नाम स्मरण केवल बाह्य उपासना मात्र नहीं है, वरन् नाम-रत-साधक के अन्तर में सहज ही निःसृत होने वाला तथा परमेश्वर के अगाध शक्ति सागर में विलीन होने वाला एक अदृश्य आत्मशक्ति का स्रोत है। साधक का अन्तिम ध्येय परमात्मा के साथ आत्मा का ऐक्य सम्पादन है।

भक्ति के नवधा स्वरूपों में श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण का नाम-साधना के संदर्भ में महत्वपूर्ण योग है। भक्ति का विशिष्ट अंग होने के कारण आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी सभी इसके महत्व को स्वीकार करते हैं। ज्ञान की पराकाष्ठा का परिणाम भक्तिभाव का उदय माना जाता है। जीव स्वभावत: अहंकारी होता है। वह अपने ज्ञान, बुद्धि, बल तथा पौरुष के प्रति कुछ अतिरिक्त सजग रहता है। अत: जब तक वह परमतत्व , निर्विकार परम सत्ता का स्वरूप तथा उसका महत्व भलीभांति नहीं समझ लेता तब तक उसका विश्वास अथवा उसकी आस्था एवं प्रतीति भी उसके प्रति नहीं होती। तुलसी ने मानस में इस ओर स्पष्ट संकेत किया है कि प्रतीति के बिना भक्ति, और भक्ति के बिना स्मरण, ध्यान, चिन्तन भी असम्भव है। अत: यह निश्चित है कि प्रतीति ही नाम-साधना का कारण है। यह मानसिक प्रक्रिया है जो कि विश्वास पर आश्रित है। वस्तुत: नाम-महिमा शुद्ध बुद्धिवाद से सिद्ध नहीं हो सकती है। वह श्रद्धा से अनुभवसाध्य है। महाभारत में भीष्म पितामह ने भगवान् के सहस्र

नामों के पाठको ही सर्वश्रेष्ठ साधन माना है और कहा है कि भगवान ही सबसे अधिक पूजनीय देव हैं और भगवन्नामस्मरण ही सबसे बड़ा धर्म और तप है।

श्रीमद्भागवत में अजामिल का उपाख्यान प्रसिद्ध है। 'नारायण' नाम के उच्चारण के प्रभाव से अपने अनेक जन्मों के समस्त प्रकार के पापों से तत्काल मुक्त हो गया। वेदों में पापों से निवृत्ति हेतु अनेक प्रायश्चित बतलाये गये हैं, किन्तु उन सब में भगवन्नाम के उच्चारण को विशेष रूप से महत्ता प्रदान की गई है। केवल राम-नाम के उच्चारण से ही जीव समस्त प्रकार के पापों से मुक्त होकर भगवान के उस परमपद अर्थात् परमधाम को प्राप्त होता है, जहां से उसे सांसारिक आवागमन से छुटकारा मिल जाता है।

भगवन्नाम में अमोघ शक्ति है। नाम के प्रताप से ही नारद, ध्रुव प्रह्लाद, वाल्मीकि, मीरा, अजामिल, गणिका, गज, द्रौपदी, आदि का उद्धार हुआ, और ये जगत-वन्दनीय हो गये। श्रीमद्भागवत में तो यहां तक कहा गया है कि जो मनुष्य गिरते पड़ते, फिसलते कष्ट भोगते अथवा छींकते समय विवशता से भी ऊँचे स्वर से 'हरये नमः' कहता है वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।[1] भागवत में ही लिखा है—जिसकी जिह्वा पर तुम्हारा (भगवान का) पवित्र नाम रहता है, वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है। क्योंकि जो तुम्हारे नाम का कीर्तन करते हैं, उन श्रेष्ठ पुरुषों ने तप, यज्ञ, तीर्थ स्नान और वेदाध्ययन-सबकुछ कर लिया। उनके लिये कीर्तन ही सब कुछ है।[2]

भगवन्नाम की विलक्षण महिमा है, जिस प्रकार रात्रि के गहन अंधकार को सूर्य की एक किरण के स्पर्श मात्र से प्रकाश पुंज मिलता है उसी प्रकार प्रभु के नाम का स्मरण पातक पुंज को नष्ट कर देता है। भगवन्नामोच्चारण से अचिन्त्य शक्ति का साधक को आभास होने लगता है। वह नाम कोई भी हो

---

१. पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन्
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्। श्रीमद्भागवत १२।१२।४६

२. अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते। भागवत ३।३३।७

सभी की महिमा अपार है । भगवान् की अचिन्त्य , अनंत,अपरिमेय शक्तियों की भांति उसके नामों में भी वही सब शक्तियां विद्यमान हैं ।

सांसारिक कष्टों से मुक्त होने तथा परमानन्द प्राप्त करने का मार्ग भक्तों ने अत्यन्त ही सरल कर दिया है । गीता में लिखा हुआ है कि जिसको प्राप्त कर लेने पर सब कुछ प्राप्त हो जाता है वह परम वस्तु क्या है ? शास्त्र उसे ब्रह्म, परमात्मा अथवा भगवान् के नाम से संबोधित करते हैं । उसी की सान्निध्यप्राप्ति में सुख प्राप्त हो सकता है । उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है ? श्रीमद्भागवत में कहा गया है --

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् । [१]

अर्थात् सत्ययुग में ध्यान, त्रेता में यज्ञ के द्वारा और द्वापर में परिचर्या के द्वारा जो परम वस्तु प्राप्त होती है, कलियुग में वह केवल हरिनाम संकीर्तन से उसकी प्राप्ति हो जाती है । नाम ही युग धर्म बन गया । वास्तव में नाम वह साधन है जो नामी के समीप ले जाने में समर्थ है । साधकों ने अपने अनुभव से यह सिद्ध कर दिया कि भगवान का गुण कीर्तन ही तप, वेदाध्ययन, उत्तम यज्ञ ,मन्त्र,ज्ञान और दान आदि का अविनाशी फल है । भगवान् के नाममेंजितने पापों को नष्ट करने की शक्ति है उतने पाप प्राणी कर ही नहीं सकता । यही कारण है कि तुलसी ने नाम को नामी से अधिक महत्व दिया । प्रस्तुत पंक्ति उनकी इसी विश्वास की परिचायक है --

कहौं कहां लगि नाम बड़ाई । राम न सकहिं नाम गुन गाई ।[२]

अस्तु इसमें संदेह नहीं कि भगवन्नाम में भगवान् की सम्पूर्ण शक्ति निहित है । अनेक नामों में व्यक्त होने वाले एक सर्वव्यापी प्रभु के सभी नामों में एक आध्यात्मिक शक्ति है, जो साधक की आत्मा में प्रविष्ट होकर उसी सर्वव्यापक सत्ता के भाव से ओत-प्रोत हो उठती है ।

---

१. श्रीमद्भागवत् १२।३।५२

२. रामचरितमानस- बालकाण्ड, दो० २६

साधक,भक्त, संत सभी के लिये यह आवश्यक है कि उसे भगवान के नाम में विश्वास हो, श्रद्धा हो तथा आत्म समर्पण की भावना हो। क्यों कि भगवान् कृष्ण ने स्वयं गीता में कहा है कि जो इन बातों में संदेह करेगा वह नष्ट हो जायेगा। अतएव भगवन्नाम की महिमा में श्रद्धा-विश्वास होने पर उसमें प्रेम होना निश्चित है। प्रेम के पश्चात् स्मरण की अवस्था आती है। यह एक बहुत ही स्वाभाविक प्रक्रिया है। भगवान् के नाम, गुण, कर्म, रूप की महिमा पर श्रद्धा विश्वास, एवं प्रेम हो जाने पर आत्म समर्पण की भावना का स्वयमेव उदय होता है। साधक की इन्द्रियाँ मन, बुद्धि आदि का व्यवहार राग द्वेषादि से मुक्त हो जाता है।

परमात्मा के सगुण-साकार तथा निर्गुण-निराकार दोनों स्वरूपों का तत्वबोध उनके नाम द्वारा ही होता है। अत: नाम की महिमा स्वत: ही सिद्ध होती है। "भक्ताभीष्टफलप्रद:" यह भगवान की विशेष विशेषता है। श्वास प्रश्वास के साथ की गई इस क्रिया का विशेष प्रभाव पड़ता है। निर्गुणि संतों ने इसे बड़े सुंदर ढंग से व्याख्यायित किया है। उनका विश्वास है कि कि प्रियतम का प्रतीक स्वरूप एकमात्र नाम ही सत्य है, वही जीवन का आधार है। सर्व प्रथम उसकी साधना वाह्य इन्द्रियों द्वारा पूर्ण होती है श्रवण, जिह्वा, मुख्य अंग हैं इसे परिचालित करने के। इसके अनन्तर उसका नाम जप हृदय की सहज प्रक्रिया बन जाती है और अन्तिम स्थिति में पहुंच कर साधक का रोम-रोम उसमें लीन हो जाता है।[१]

---

१. एकै अक्षर पीव का सोई सत करि जाणि।
राम नाम सतगुरु कह्या, दादू सो परवाणि।।
पहली श्रवण दुतिय रसन, तृतिये हिरदै गाइ।
चतुरदसी चेतनि भया, तब रोम-रोम लौ लाइ।।
—संत मलूकदास

आदिकालीन ग्रन्थों से प्रारम्भ होकर नाम-साधना को जो महत्व मिलता रहा है उसका चरम उत्कर्ष मध्यकालीन संतों तथा भक्तों में मिलता है। इस संदर्भ में कुछ ग्रन्थ तथा सार्थक विशेष उल्लेखनीय हैं जैसे श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता, कुछ उपनिषद्, नारद भक्तिसूत्र, तुलसी, सूर, कबीर, मीरा आदि। अध्यात्म रामायण के अयोध्याकाण्ड में राम-नाम की अमित महिमा का वर्णन इस प्रकार किया गया है —

निरन्तराभ्यासदृढीकृतात्मनां त्वत्पादसेवापरिनिष्ठितानाम्
त्वन्नामकीर्त्या हृतकल्मषाणां सीतासमेतस्य गृहं हृदब्जे ॥
रामत्वन्नाममहिमा वर्ण्यते केन वा कथम्
यत्प्रभावादहं राम ब्रह्मर्षित्वमवाप्तवान् ॥[1]

निरन्तर अभ्यास करने से जिनका चित्त स्थिर हो गया है जो सर्वदा आपकी चरण सेवा में लगे रहते हैं तथा आपके नाम-संकीर्तन से जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, उनके हृदय कमल में सीता के सहित आप का निवास हो। हे राम जिसके प्रभाव से मैंने ब्रह्मर्षि पद प्राप्त किया है, आपके उस नामकी महिमा कोई किस प्रकार वर्णन कर सकता है।" श्री भगवान् के नाम-संकीर्तन से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, सभी की प्राप्ति हो जाती है। नाम मार्ग भी अन्य साधनों की भांति ही प्राचीन है यदि ईश्वर की कहीं, कोई भी सत्ता हम स्वीकार कर लेते हैं तो उससे नैकट्य प्राप्त करने का यदि सर्व सुलभ एवं सहज साधन कोई है तो वह नाम स्मरण या नाम साधना ही है। रामकृष्ण परमहंस ने अपने उपदेश में कहा है कि भगवान् और उसका नाम अभिन्न है। नाम उसकी शक्ति है, नामकी कृपा से उनके चिन्मय रूप का दर्शन प्राप्त होता है। नाम के द्वारा ज्ञान होता है, प्रेम होता है। नामकी कृपा से उसका संयोग प्राप्त होता है। नाम सत्य है, नाम नित्य है।[2]

---

1. अध्यात्म रामायण (अयोध्याकाण्ड-६।६३।४)
2. कल्याण - भगवन्नाम महिमा और प्रार्थना अंक, पृ० ५२७

भगवन्नाम महिमा से सम्बन्धित कुछ श्लोक द्रष्टव्य हैं :-

गोविंदेति तथा प्रोक्तं भक्त्या वा भक्तिवर्जितैः

दहते सर्वपापानि युगान्ताग्नि रिवोत्थितः । स्कन्दपुराण ।

अर्थात् मनुष्य भक्तिभाव से या भक्ति रहित होकर यदि गोविंद नाम का उच्चारण कर ले तो वह नाम सम्पूर्ण पापों को उसी प्रकार दग्ध कर देता है, जैसे युगान्तकाल में प्रज्ज्वलित हुई प्रलयाग्नि सारे जगत को जला डालती है ।

स्कन्दपुराण में शंकर जी पार्वती से कहते हैं कि 'राम' यह दो अक्षरों का मंत्र जपने पर समस्त पापों को नाश करता है - 'राम' यह दो अक्षरों का मंत्र शतकोटि मन्त्रों से भी अधिक महत्वशाली है । राम ही मंत्रराज है ।' पद्मपुराण में राम-नाम महिमा का वर्णन इस प्रकार मिलता है -

विष्णोरेकैकनामापि सर्ववेदाधिकं मतम् ।

तादृक्नाम सहस्रेण राम नाम समं स्मृतम् ।'

' भगवान् विष्णु का एक-एक नाम भी सम्पूर्ण वेदों से अधिक महात्म्यशाली माना गया है । ऐसे एक सहस्र नामों के तुल्य राम-नाम कहा गया है । पद्मपुराण से ही एक दृष्टान्त और --

राम रामेति रामेति, रमे रामे मनोरमे ।

सहस्रनाम तत्तुल्यं राम नाम वरानने ।।

उपर्युक्त श्लोक में भी राम-नाम को अन्य सहस्र नामों की तुलना में श्रेष्ठ माना गया है । यद्यपि भगवान के सभी नाम मन्त्र हैं तथापि शास्त्रों में राम-नाम की महिमा का विशेष गान पाया जाता है । मध्यकालीन साधकों ने भी यही स्वीकार किया है । इनकी रचनाओं का अध्ययन करने से ज्ञात हुआ कि ये साधक चाहे राम भक्ति मार्गी रहे हों या कृष्णभक्तिमार्गी अथवा नास्तिक सभी ने राम-नाम की महिमा एक स्वर से गाई है । और नाम के विशेष संदर्भ में इन्होंने भी राम-नाम का ही प्रायः प्रयोग किया है । उसका कारण सम्भवतः तुलसी का मत ही प्रतीत होता है -

बंदउं नाम राम रघुबर को । हेतु कृसानु भानु हिमकर को ।[१]

---

१. रामचरितमानस- बालकाण्ड, दो० १९

राम-नाम कलि अभिमत दाता । हित परलोक लोक पितु माता ।[१]
नाम द्वारा विवेक प्राप्त होता है । नाम स्मरण से भोग की अतृप्त लालसा एवं व्यक्तिगत सीमाएं नष्ट हो जाती हैं । नाम समस्त पापों को नष्ट करने का सुलभ प्रायश्चित है । ना स्मरण के द्वारा जीव स्वयं को देश काल की सीमाओं से मुक्त कर लेता है ।

नाम-जप भगवत्प्रेम तथा सदाचरण की प्रवृत्ति का मूल है । भागवत में एक स्थान पर आया है" यतस्तद्विषया रति :" अर्थात् नाम-जप परमात्मा में प्रीति उत्पन्न करने का एकमात्र हेतु है । उपर्युक्त कथन के अतिरिक्त नाम-जप के महत्व पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि को समक्ष रखकर इसका मूल्यांकन किया जाय तो भी नाम प्रीति का कारण अवश्य बन जाता है । सर्वप्रथम साधक अपने उपास्य की कीर्ति-गान सुनकर ही उसका नामस्मरण करता है । अदृश्य के प्रति नाम प्रीति का प्रभाव जिज्ञासा उत्पन्न करता है । परिणामत: उसे देखने की व्याकुलता बढ़ने लगती है और साधक उसी के अनुकूल आचरण में प्रवृत्त हो जाते हैं ।

नाम महिमा अत्यंत विशद है । भक्तिशास्त्र के प्रारम्भ से लेकर अंत तक जितने भी आचार्य हुए सब ने इसकी मुक्तकंठ से महत्ता वर्णित की है । प्रभु के नाम अपरिमित हैं किन्तु इन नामों में भी रामनाम कुछ अधिक ही महत्वपूर्ण है । यह राम-नाम सत्, चित्,आनंद स्वरूप है । राम के पावन नाम में ज्ञान, योग, जप, तप, व्रत, ध्यान आदि का निवास है । अतएव नाम, ध्यान एवं जप सभी फलों का प्रदाता है । जिस प्रकार पावक तिनके को जला देता है उसी प्रकार नाम कामादि विकारों को नष्ट कर देता है ।

---

१. रामचरित मानस- बालकाण्ड, दो० २७

तृतीय अध्याय

नाम और भक्ति

वैदान्त-दर्शन का तत्व समझने के लिये दार्शनिकों ने विभिन्न वादों को जन्म दिया । अद्वैत, विशिष्टाद्वैत,द्वैताद्वैत तथा द्वैत, और क्रमश: शंकराचार्य रामानुजाचार्य, निम्बार्क, बल्लभाचार्य तथा मध्वाचार्य द्वारा इनकी पुष्टि की गई । यद्यपि इन आचार्यों की परिभाषाएं भिन्न-भिन्न हैं तथापि इनका उद्देश्य अन्ततोगत्वा एक ही है, अर्थात् सांसारिक माया-मोह के बंधन से मुक्ति प्राप्त कर लेना । यही जीव का परम पुरुषार्थ भी माना गया है । कभी इस मुक्ति के साधन स्वरूप इन आचार्यों ने ज्ञान का प्रश्रय लिया और उसे निर्वि-शेष ब्रह्म और जीव की एकता का ज्ञान कहा, विवेक, वैराग्य इत्यादि को प्रमुख रूप से स्वीकार किया ।

भक्ति का यह स्वरूप मनोवैज्ञानिक था जिसमें चिन्तन तत्व की प्रधानता थी । यहां भावनाओं के आधार पर ही जीवन की परिणति स्वीकार की गई । प्रमुख रूप से साधना के क्षेत्र में अभ्यास की आवश्यकता की ओर निर्देश किया गया । इस तथ्य को हृदयंगम करने के लिए भक्ति के विकास में जिन प्रमुख ग्रन्थों एवं प्रवृत्तियों का हाथ रहा है, उसके क्रमिक विकास की रूपरेखा स्पष्ट हो जानी चाहिए ।

श्रीमद्भगवद्गीता-

गीता के अध्याय ६ में भगवान् कृष्ण ने कहा है :-

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थित: ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।[१]

अर्थात् जो एक ब्रह्म में स्थित होकर भाव से सब प्राणियों में स्थित पर-मात्मा को भजता है वह सब दशाओं में वर्तमान रहकर भी मुझमें ही रहता है

---

१. गीता - अध्याय, ६,श्लोक ३१।६

किन्तु साथ ही साथ अन्तरात्मा से श्रद्धापूर्वक किया गया, भजन ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है । योगियों की विभिन्न स्थितियां स्वीकार की गई हैं कि सर्वश्रेष्ठ योगी वही भक्त हैं ।[१] पापों के निवारणार्थ भी भगवान् का भजन तथा नामस्मरण अनिवार्य माना गया है । समस्त द्वन्द्वों से मुक्त होकर भक्त भगवान के कीर्तन में लग जाये तो स्वत: ही उसके पाप नष्ट हो जाते हैं ।[२] इतना ही नहीं भगवान ने तो यहां तक कहा है कि —

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
य: प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशय: ।।[३]

अर्थात् अन्तकाल में मेरा ही स्मरण करता हुआ जो शरीर छोड़ता है, वह मेरे ही स्मरण रूप स्वरूप को प्राप्त होता है, इसमें संदेह नहीं । इस कथन के अनेकों उदाहरण मिलते हैं । भगवान के स्मरण से तात्पर्य उसके रूप से ही नहीं हो सकता है हम उसके नाम तथा उसकी लीला को भी इसी के अन्तर्गत ले सकते हैं । उसे प्राप्त करने के लिये अनन्य भक्ति की आवश्यकता अनिवार्य मानी गई है । यह अनन्य भक्ति उस अचिन्त्य के नाम से भी हो सकती है , रूप से भी और लीला से भी । दृढ़ निश्चय से यत्न करते हुए सदैव भगवान् का कीर्तन करना, भक्ति-पूर्वक नमस्कार करना तथा नित्य युक्त रीति से उनकी उपासना करना ही श्रेष्ठ भक्ति के लक्षण तथा साधन हैं ।[४]

गीता में नाम-रूप को समान रूप से लिया गया है । किसी भी नाम अथवा रूप का महत्व एक सा ही है चाहे वह ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र अथवा राम, कृष्ण कोई भी हो । क्योंकि भगवान् ने स्वयं अर्जुन से कहा है —जो भक्तगण श्रद्धा-

---

१. योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना, श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो -मत: । — गीता ४७।६

२. गीता —२८।७

३. वही —५।८

४. सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रता: ।
नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।। —श्रीमद्भगवद्गीता—१४।६

प्रच्छन्न
पूर्वक दूसरे देवताओं की पूजा करते हैं, वे भी अवैध रूप से मेरी ही पूजा करते हैं[1]। भक्तिकाल की समस्त साधना का आधार गीता की उपर्युक्त पंक्तियां मानी जा सकती हैं क्योंकि मध्यकालीन समस्त संतों एवं भक्तों की यह धारणा रही है कि नाम तथा रूप कुछ भी हो अन्त में वह एक शक्ति है, जो सचराचर में व्याप्त होकर भी अव्यक्त है, नाम तो एक आधार है, साधन है उस शक्ति के आह्वान का।

दुराचारी द्वारा की गई भगवान की उपासना या लिया हुआ नाम उतना ही फल प्रदान करता है जितना सदाचारी द्वारा। इसके पीछे शब्द-शक्ति को हम कारण मान सकते हैं किन्तु निश्चयात्मिका बुद्धि का आग्रह स्वीकार किया गया है।

भगवान के भजन का एक कारण और है। एक बार यदि उस नाम-रूप की लालसा हृदय में आ जाती है तो समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं चित्त तथा प्राण उसी में लग जाता है इस प्रकार कीर्तन करने से संतोष का अनुभव होता है। परिणामस्वरूप भगवान् स्वयं कृपापूर्वक भक्त को ग्रहण करते हैं —

तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।[2]

अर्थात् निरन्तर भगवान् के ध्यान में लगे हुए प्रीतिपूर्वक भजन करने वाले भक्तों को भगवान् बुद्धियोग देते हैं, जिससे वे भगवान् को प्राप्त होते हैं। अर्जुन के यह पूछने पर सगुणोपासक उत्तम हैं अथवा निराकार के उपासक उत्तम कोटि के हैं, भगवान् ने कहा है कि "मुझमे मन लगाकर जो नित्य युक्त अत्युच्च श्रद्धा से मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे उत्तम भक्त हैं, ऐसा मैं मानता हूं।[3] किन्तु अक्षर अवर्णनीय,

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता, २३।६

२. वही, १०।१०

३. मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते
श्रद्धयापरयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।।

— श्रीमद्भगवद्गीता, २।१२

अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ-अचल और ध्रुव की उपासना करने वाले भक्त भी उसी भगवान् को प्राप्त होते हैं।[१]

श्रीमद्भागवत तथा नाम-भक्ति का स्वरूप—

उपदेश के रूप में हम निरन्तर जिस नवधा भक्ति का अध्ययन करते आए हैं उसी भक्ति के समस्त अवयवों का पूर्ण विस्तार हमें श्रीमद्भागवत में भी प्राप्त होता है। भगवान् के नाम, रूप, गुण और महिमा का श्रवण, कीर्तन , स्मरण तथा भगवान् की पाद सेवा, पूजन, और वंदन तथा दास भाव एवं सखा भाव तथा आत्मसमर्पण, यही नवधा भक्ति है। भागवत में वर्णित नवधा भक्ति के लक्षणों में एक प्रमुख लक्षण भगवान का नाम कीर्तन है जिसे सब प्रकार से सुलभ एवं सुगम माना गया है। श्री मद्भागवत में वर्णित है —

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनुः ।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ।।[२]

सत्ययुग में शुक्ल मूर्ति धारण करके ध्यान का उपदेश, त्रेता में रक्त-वर्ण धारण करके यज्ञ का उपदेश, द्वापर में कृष्ण वर्ण धारण करके अर्चना का उपदेश और कलियुग में पीतवर्ण धारण करके भगवान् के नाम संकीर्तन का उपदेश दिया है। भागवत के एकादश स्कन्ध में इस भागवत धर्म की विशद व्याख्या की गई है। अज्ञानी जीवों के उद्धार के लिये भगवान् ने स्वयं इस धर्म का उपदेश दिया है। ऐसा विश्वास है कि जहाँ भी भक्त प्रेम विह्वल होकर भगवान् का नामस्मरण करता है वहीं उसे आना पड़ता है। वास्तव में भागवत का मुख्य प्रतिपाद्य ही भागवत धर्म है जिसमें नाम-भक्ति एक प्रमुख विषय स्वीकार किया जा सकता है। इस धर्म के मुख्य लक्षण के रूप में यह स्वीकार किया गया है —भगवान के मंगलमय नाम का प्रेमपूर्वक उच्चारण उनके गुणों का श्रवण एवं कीर्तन। भागवतकार ने स्वयं

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता, ३।१२, ४।१२

२. श्रीमद्भागवत, १०।८।१३

ही कहा है -" जो आंख मूंदकर भगवान का नाम-जप एवं गुणकीर्तन करता है, वह न तो कल्याण-मार्ग से स्खलित हो सकता है और न पतित ।" भागवतकार ने स्वयं ही यह स्वीकार किया है कि भगवान के नामोच्चारण करने से मनुष्य के चित्त में भगवान् के दिव्य गुणों का प्रकाश होता है । इसीलिए उसने लिखा है — " जिसकी जिह्वा पर तुम्हारा (भगवान् का) पवित्र नाम रहता है वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है क्योंकि जो तुम्हारे नाम का कीर्तन करते हैं, उन श्रेष्ठ पुरुषों ने तप, यज्ञ, तीर्थ-स्नान और वेदाध्ययन सब कुछ कर लिया । उनके लिए कीर्तन ही सब कुछ है ।"[२] स्वयं भगवान् कहते हैं कि मुझमें चित्त लगाये रखने वाले मेरे प्रेमी भक्त मुझको छोड़ कर ब्रह्मा का पद,इन्द्रासन चक्रवर्ती राज्य योग की सब सिद्धियां और सायुज्य मोक्ष आदि कुछ भी नहीं चाहते ।[3] भागवतकार का विश्वास है कि कृष्ण अपना भजन करने वाले प्रियभक्त की समस्त कामनाएं पूर्ण कर देते हैं । चिरकाल से विषयों का ही अभ्यास होने के कारण मनुष्य को विषयों के संस्कार सताते हैं और बार-बार विक्षेपों का सामना करना पड़ता है, परन्तु भगवान् की प्रार्थना, कीर्तन, स्मरण, चिन्तन करते-करते चित्त सरस होने लगता है और साधक को धीरे-धीरे भगवान् के सान्निध्य का अनुभव होने लगता है । उसका नाम और उसकी लीला के श्रवण कीर्तन पवित्र करने वाले हैं ।[४]

एकादश अध्याय के ३६ वें श्लोक में नाम महिमा का महत्वपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया गया है । जिसकी एकमात्र आस्था भगवन्नाम में है वह निश्चय ही उत्तम

---

१. य्यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत् कर्हिचित् ।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ।। ११।२।३५

" पतित: स्खलितश्चार्त: क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन्
हरयेनमरित्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ।। —श्रीमद्भागवत् १२।१२।४६

२. श्रीमद्भागवत् ३।३३।७

३. वही,११।१४।१४

४. त्वया परमकल्याण: पुण्यश्रवण कीर्तन: ।
स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम ।। ११।२।१२

कोटि का भक्त है । 'जो लोक में चक्रपाणि भगवान् विष्णु के कल्याणकारी जन्म और कर्म हैं उन्हें सुनता हुआ एवं उनकी विचित्र लीलाओं के अनुसार रखे गए नामों का निःसंकोच होकर गान करता हुआ असंग भाव से संसार में विचरे । इस प्रकार के व्रत वाला पुरुष अपने परम प्रिय प्रभु के नाम संकीर्तन से अनुराग उत्पन्न हो जाने पर द्रवित चित्त होकर संसार की परवाह न कर कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी गाने लगता है और कभी उन्मत्त के समान नाच उठता है ।[1]

इसी स्कंध में आगे के श्लोकों में भगवान की पूजा विधि बताई गई है जिसमें प्रारम्भ में मूर्ति-पूजा तथा नाम-भक्ति पर यथाशक्ति बल दिया गया है । भगवान् 'जन्म' के जन्म-कर्म गुणों का श्रवण-कीर्तन और ध्यान तथा उन्हीं के लिए समस्त चेष्टाएं करना भक्त के लिए अभीष्ट है ।[2] कलियुग में संकीर्तन की प्रधानता बताई गई है । यहाँ तक कहा गया है कि गुणज्ञ और सारग्राही सज्जन पुरुष सबसे अधिक कलियुग को ही प्रिय मानते हैं जिसमें भगवान के नाम-कीर्तन से ही सम्पूर्ण स्वार्थ की सिद्धि हो जाती है —

> कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः ।
> यत्र संकीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते ।। ११।५।३६

नाम के अतिरिक्त भागवत में ब्रह्म के रूप-लीला तथा धाम पर भी प्रकाश डाला गया है । सम्पूर्ण कृष्ण-भक्ति साहित्य में कृष्ण की लीला को विस्तार पूर्वक वर्णित किया गया है । क्योंकि इन साधकों का विश्वास है कि वे निर्गुण होने पर भी भक्तों के लिए अचिन्त्य अनंत सद्गुणों से परिपूर्ण हैं । तथा सर्वव्यापक और निराकार होने पर भी ब्रज की वीथियों में विहार करते हैं ।

---

१. श्रीमद्भागवत्, ११।२।४०

२. श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः ।
जन्म कर्म गुणानां च तदर्थेऽखिल चेष्टितम् ।। ११।३।२७

भागवत में दशम स्कंध के नवम् अध्याय में कृष्णा की लीला का वर्णन मिलता है। लीलापरक श्लोक में समग्र वर्णन इस प्रकार है— जिसमें उनके ब्रह्मत्व की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। भगवान् के नाम की भांति उनकी लीला का महत्व भी स्वीकार किया गया है। हरिकीर्तन से संसार बंधन टूट जाते हैं और परम शान्ति की प्राप्ति होती है। नाम-साधना के लिए भागवतमें योग के महत्व को स्वीकार किया गया है। द्वादश स्कंध के तीसरे अध्याय में एक श्लोक है जिसमें स्वयं भगवान ने कहा है कि हरि का श्रवण-कीर्तन, ध्यान, पूजन करने पर हृदय में स्थित होकर वे स्वयं मनुष्यों के दस हजार जन्मों के दोषों को दूर कर देते हैं।[१]

इससे पूर्व वेद, उपनिषदादि में नाम भक्ति पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। किन्तु जहाँ तक नाम के प्रति आस्था एवं विश्वास का प्रश्न है वह सर्वत्र एक प्रकार का ही है। जिस साहित्य अथवा दर्शन में रूप और लीला को नहीं स्वीकार किया है वहाँ नाम का महत्व स्वत: ही बढ़ जाता है। भागवत के अन्तर्गत नाम के साथ ही हरि की लीला, उनके रूप तथा धाम पर भी विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित किया गया है। किन्तु रूप से सामीप्य प्रदान करने वाला प्रमुख साधन हर युग में ब्रह्म का नाम ही रहा है वह चाहे जिस रूप में हो। भागवत में ही भगवान की उपासना के साधन बताए गए हैं जो युगानुसार हैं। सत्ययुग में उनका योगेश्वर, मनु, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त और परमात्मा आदि नामों से संकीर्तन किया जाता है, त्रेता युग में कर्मकाण्ड की विधि बताई गई है तथा वे विष्णु, यज्ञ, उरुगाय आदि नामों से पुकारे जाते हैं। कलियुग में भगवान विष्णु का ध्यान करने से अधिक नाम संकीर्तन की प्रधानता बताई गई है। अर्थात् सतयुग में भगवान् विष्णु का ध्यान करने से, त्रेता में यज्ञ से, तथा द्वापर में पूजा करने से जिस अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है कलियुग में वह सब हरि-नाम कीर्तन से ही मिल जाता है।[२]

---

१. श्रुत: संकीर्तितो ध्यात: पूजितश्चादृतोऽपिवा।
नृणां धुनोति भगवान्-हृत्स्थो जन्मायुता शुभम्॥१२।३।४६

२. कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखै:।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥ १२।१३।२३

श्रीमद्भागवत की समाप्ति ही इन पंक्तियों से होती है --

नाम संकीर्तनं यस्य सर्वपाप प्रणाशनम् ।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ।।

श्री भाष्य--

आलवारों ने दक्षिण में भक्ति की जो रूपरेखा प्रस्तुत की उसका विकास उत्तर भारत में हुआ । रामानुजाचार्य का वैष्णवभक्ति आन्दोलन में अत्यंत ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है । उन्होंने ज्ञान-मार्गी दार्शनिकों की चिन्तन पद्धति में किंचित् योग देकर उसे भक्ति-मार्गी कवियों ~~दार्शनिकों की चिन्तन पद्धति में~~ अथवा भक्तों के लिए भी सुलभ बना दिया । शंकर के अद्वैत की प्रतिक्रिया में उन्होंने विशिष्टाद्वैत की स्थापना की और यह सिद्ध किया कि उनका निर्धारित किया हुआ मार्ग अधिक सर्वग्राह्य है ।

रामानुजाचार्य की भक्ति का मुख्य भाव दास्य भक्ति का था । साथ ही साथ आत्मनिवेदन में भगवान के नामों की ओर भी संकेत मिलता है । रामानुज का दर्शन सिद्धान्त परक ही न रह कर वरन् भक्ति के समावेश के कारण व्यावहारिकता की ओर उन्मुख था जिसमें ईश्वर की सगुण सत्ता का प्रतिपादन किया गया है । उनका कथन था कि ब्रह्म, ज्ञान, आनन्द, दया, सत्, चित् आदि गुणों से युक्त होने के कारण निर्गुण हो ही नहीं सकता । उनका " विष्णु सहस्रनाम" तथा "ब्रह्मसूत्र" भक्ति विषयक अन्यतम ग्रन्थ है । रामानुज ने भक्ति के साथ ही ज्ञान एवं कर्म का भी समन्वय किया है । ज्ञान को उन्होंने मात्र मुक्ति का साधन ही माना है किन्तु भक्ति स्वयं में ही पूर्ण है । उसके सेवन से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है । भगवान् की अनन्य भाव से की गई भक्ति को ही जीव का परम कर्तव्य माना है । प्रपत्ति को भक्ति के सार रूप में ग्रहण किया है । स्पष्ट रूप से अवतारवाद पर इनकी आस्था थी ।" हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि " नामक पुस्तक में डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने लिखा है कि " वैष्णव शैव मतों के रूप में जीवित यही ब्राह्मणवाद , जो स्मृतियों-पुराणों तथा कुछ काल में बने सूत्रों पर

आधारित था, संस्कृत साहित्य की पृष्ठभूमि में था, जिसका दार्शनिक प्रवाह अनेक रूप लेता रहा जो भक्तिवाद के रूप में, प्रथम व्यावहारिक रूप से शंकराचार्य के यहां तथा ध्येय रूप में रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, मध्व के यहां मान्य हुआ। अवतार-वाद, रूपोपासना, नाम, जप आदि के रूप में आगे बढ़ता गया।[1]

इस प्रकार अवतार वाद तथा रूपोपासना के साथ-साथ नाम जप को भी उन्होंने स्वीकार किया है। रामानुज ने शंकर के अद्वैत का खण्डन कर दर्शन एवं धर्म को सरल बनाया तथा उसे जन साधारण के अधिक निकट लाने का प्रयत्न किया। रामानुज के ईश्वर में उन सभी गुणों का समावेश किया है जो कि साकार-रूप के गुण हो सकते हैं। उनका ईश्वर धार्मिक साधना का लक्ष्य बन कर भक्तों के समक्ष प्रकट होता है।* सर्वसाधारण भी रामानुज के ईश्वर का भजन गान कर उसकी कृपा प्राप्त कर मोक्ष पा सकते हैं। शंकर की जीवन्मुक्ति कठिन है। वह सबके लिए नहीं है। शंकर जिसे साधन मात्र मानते हैं उन नाम, जप, तप, स्मरण, व्रतादि का महत्व रामानुज में बहुत अधिक है। रामानुज का ईश्वर साधारण जन-समुदाय का ईश्वर है।[2] सम्भवत: रामानुज के ईश्वर और जीव में भेद का भी यही कारण हो सकता है। इन विभिन्न साधनों एवं उपकरणों को स्वीकार कर भक्ति साधना में इनका योग साधक द्वारा अपेक्षित था तथा उसकी यह समर्पण की भावना किसी आलम्बन की अपेक्षा रखती थी। उसके प्रति अनन्य श्रद्धा ही भक्त का एकमात्र कर्तव्य हो जाता है। शरणागत की स्थिति में पहुंच कर साधक अपना सम्पूर्ण अपने आराध्य को समर्पित कर देता है। इसी प्रकार भगवान् की कृपा भी भक्त पर अहैतुकी होती है।* मृत्यु के पश्चात् भगवान् के अनुग्रह से भक्त वैकुण्ठ को प्राप्त कर भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करता है,+ और जीवन में हरिस्मरणतथा भगवत चिन्तन में वह सदा आनंदित रहता है। यह उपासना उसे अखण्ड आनन्द प्रदान करती है। वह ईश्वर के दर्शन के लिए सदा आकुल रहता है। यही आकुलता

---

१. वही, पृ० ३७—३८

२. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० — १३५

भक्त के लिए सर्वस्व है ।[१]

रामानुज ने सांसारिक कष्टों को सहनकरते हुए भी नाम स्मरण करते रहने की बात कही है । उसके महत्वका ~~प्रतिपादन करते रहने की बात का~~ प्रतिपादन उन्होंने विभिन्न रूपों में किया है । उनका विश्वास है कि एक स्वर से तन्मयतापूर्वक नामस्मरण से अन्त में वैकुण्ठ की गति प्राप्त होती है, समस्त कर्मबंधन नष्ट हो जाते हैं , भगवान् का नैकट्य प्राप्त होता है तथा सांसारिक दु:खों का नाश हो जाता है । "सामान्य जनता भगवान की शरण खोजकर सकती है, हरिनाम स्मरणकरके , अवतारों के रूपों का ध्यान करके । हरिदर्शन के लिए आकुलता को हृदय में जगा सकती है और इस प्रकार कुछ क्षणों के लिए भौतिक कष्टों को विस्तृत कर सकती है ।"[२] उपाध्याय जी ने कुछ क्षणों की बात कही है । किन्तु यही कुछ क्षण निरन्तर अभ्यास एवं जप से सदैव के लिए साधक की वृत्ति को उसी परमतत्व में रमा देते हैं फिर उसे सांसारिक वैभव अपनी ओर कदापि आकृष्ट नहीं कर पाते ।

इस प्रकार रामानुज का भक्तिमार्ग शास्त्रों तक ही सीमित न रह कर व्यावहारिक रूप में सर्वसाधारण के समक्ष आया ।

नारद भक्ति सूत्र —

युग विशेष की कुछ अपनी मौलिक सम्भावनाएं हुआ करती हैं । इस दृष्टि से देखने पर हमें ज्ञात होता है कि 'नारद भक्ति सूत्र' भी भक्ति विषयक एक अत्यंत ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है । भक्ति शास्त्र की आलोचना तथा मुख्य रूप से प्रेमरूपा भक्ति के स्वरूप का निर्धारण ही इसका विषय है । इसमें भगवान के दिव्य गुण, अलौकिक प्रेम, भगवान् की भक्ति, भगवत्प्रेमप्राप्ति के साधन और अन्तत: भगवान के नामों की ओर विशेष रूप से संकेत मिलता है । यह स्थापित करने की चेष्टा की गई है कि भगवान के पवित्र नाम गुण के स्मरण और कीर्तन से मनुष्य के हृदय की कलुषता का निवारण हो जाता है ।

---

१. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—डा०विश्वम्भरनाथ उपाध्याय,पृ०१२०
२. वही, पृ० १४२

इस प्रकार हमें इस बात का निश्चय करना पड़ता है कि नामभक्ति की यह साधना बहुत नवीन नहीं है। वरन् इसके सूत्र हमें बहुत प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलते रहे हैं। यह बात और है कि भक्तिकाल में आते-आते इसका चरम उत्कर्ष हमारे समक्ष आ जाता है। नारद भक्ति सूत्र में स्थान-स्थान पर इस ओर संकेत मिलता है। नाम के साथ रूप की पूजा उपासना का भी विस्तार से वर्णन मिलता है।[१] प्रतिमा को आधार बनाकर पूजा करने की विधि बताई गई है। इस प्रकार बाह्य एवं आन्तरिक दोनों प्रकार की उपासना पर बल दिया है। बाह्य उपासना से तात्पर्य प्रतिमा पूजन आदि से है और आन्तरिक का सम्बन्ध नाम साधना से जोड़ सकते हैं। जहाँ भक्त एकरस होकर भगवन्नाम में लीन हो जाता है तथा उसकी श्वास-प्रश्वास से एक ही ध्वनि निकलती है और वह ध्वनि राम नाम की होती है। "कथादिष्विति गर्गः"[२] द्वारा बताया है कि भगवान की लीला, महिमा तथा उनके गुण एवं नामों के कीर्तन तथा श्रवण में मन लगाना निःसन्देह भक्ति का प्रधान लक्षण है। नारद ने भक्ति को कर्म, योगएवं ज्ञान सभी से श्रेष्ठ बताया है।[३] तथा भक्ति के साधन की सम्पन्नता का माध्यम अखण्ड भजन[४] अर्थात् ब्रह्म के नामों के गुणगान को माना है। अखण्डरूप से भगवान् का चिन्तन करने की बात कही गई है। यह ~~क्रम~~ निरन्तर अबाध गति से चलते रहना चाहिए। यदि उसके स्वरूप का यथार्थ रूप में चिन्तन न किया जा सके तो निरन्तर भगवान् का नाम स्मरण ही पर्याप्त होगा। अभ्यास हो जाने पर चित्त स्वतः ही विक्षेपशून्य होकर निरन्तर भगवान् के चिन्तन में लग जाता है। भक्त को उस स्थिति पर पहुँच जाना चाहिए जहाँ उसकी समस्त इन्द्रियाँ भगवान् के भजन, नाम, स्मरण-कीर्तन आदि में ही रम जायें। क्यों कि इन्हीं साधनों के द्वारा भक्ति सम्पन्न हो सकती है जैसा कि नारदभक्ति सूत्र में संकेत किया गया है।[५]

---

१. पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः। —नारदभक्ति सूत्र, १६

२. वही, १७

३. सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा —२५

४. अव्यावृतभजनात्। ३६

५. लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात्। ३७। वही

नारदभक्ति सूत्र में जिस एकादश भक्ति[१] की चर्चा की गई है उसमें गुण माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति तथा स्मरणासक्ति का सम्बन्ध भगवान की नाम साधना से स्थापित किया जा सकता है। क्योंकि किंचित् अन्तर के साथ ये समस्त आसक्तियाँ एक ही लक्ष्य की ओर प्रेरित होती हैं। चाहे ब्रह्म के गुण का ज्ञान किया जाय, चाहे उसके रूप की उपासना अथवा उसे स्मरण किया जाय —नाम का आश्रय लेकर चलना ही पड़ेगा। इसीलिए नारद भक्ति सूत्र में सब समय, सर्वभाव से निश्चिंत होकर (केवल) भगवान का ही भजन करने की बात कही गई है।[२] भक्ति में सहायक कुछ प्रमुख अवयवों की चर्चा की गई है जिनमें श्रवण-कीर्तन तथा चिन्तन को विशेष रूप से स्थान प्राप्त है। भगवन्नाम जप, स्मरण स्तुति तथा प्रार्थना को भक्ति के प्रमुख अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। यद्यपि ये समस्त आसक्तियाँ भक्ति के अंग मात्र हैं। अतः इनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। महत्व की दृष्टि से भी इनका अपना-अपना स्थान है। अतएव यह स्वीकार करना आवश्यक है कि अज्ञेय, अरूप, अनाम, सर्वव्यापी और अनन्त नामों से युक्त परमतत्व का साक्षात्कार केवल भक्ति भावना तथा अनुभव मात्र से ही सम्भव है जिसके लिये भक्ति का प्रधान अंग 'नाम स्मरण' ही एकमात्र साधन हो सकता है।

निष्कर्ष रूप में यह ज्ञात होता है कि कथा-पूजा में 'अनुरक्ति' ही नारदभक्ति सूत्र की महान स्थापना रही है। भक्ति के साधन - स्वरूप इसमें सर्वदा सर्वभाव से स्मरण तथा नाम-कीर्तन को ही महत्व प्रदान किया गया है क्योंकि नाम द्वारा कीर्तित होने पर आराध्य शीघ्र ही कृपाकरता है। परिणाम स्वरूप स्मरणासक्ति, पूजासक्ति तथा रूपासक्ति को क्रमशः महत्व प्रदान कर 'नाम'

---

१. गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्ति-कान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्ति-रूपा एकधाप्येकादशधा भवति। —नारदभक्तिसूत्र, ८२

२. सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तैर्भगवानेव भजनीयः ।। वही, सूत्र ७९

भक्ति की ही स्थापना की गई है ।

शाण्डिल्य-भक्ति सूत्र

यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से भक्ति का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों में अनेक प्रमुख ग्रन्थों को स्थान प्राप्त है किन्तु शाण्डिल्य रचित भक्ति सूत्र का विशेष रूपसे शास्त्रीय महत्व स्वीकार किया जा सकता है । विषय का आधार यद्यपि भागवत को ही स्वीकार किया गया है किन्तु फिर भी भक्ति के सिद्धान्त पक्ष का शास्त्रीय विवेचन जिस ढंग से इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है वैसा नारद भक्तिसूत्र को छोड़ कर अन्य किसी ग्रन्थ में कठिनाई से मिलता है । विषय ईश्वर विषयक अनुराग ही स्वीकार किया गया है तथा उसी को भक्ति की संज्ञा दी गई है । महर्षि शाण्डिल्य के अनुसार भक्ति ईश्वर के प्रति परम अनुराग रूपा है —"सा परानुरक्तिरीश्वरे "[1] ईश्वर के प्रति परमनिष्ठा ही साधक को अमृतत्व प्राप्त कराती है । शाण्डिल्य ने ज्ञान और भक्ति में किसी प्रकार की एकता को स्वीकार नहीं किया वरन् भक्ति को श्रेष्ठ बताया है । इस भक्ति की दृढ़ता को संकेतित करने वाले कुछ प्रमुख साधन बताये हैं जो कि लौकिक हैं । भगवत्कथा श्रवण, नामकीर्तन आदि को भक्ति की दृढ़ता एवं विशुद्धता का प्रतीक माना है[2] प्रमाणस्वरूप उन्होंने अपने तेरहवें सूत्र में कहा है कि रूपका दर्शन, गुण का श्रवण या नाम तथा स्वरूप का परिचय पहले प्राप्त होता है और उसके प्रति अनुराग पीछे होता है । अत: दर्शन या ज्ञान का फल प्रीति है । अतएव भक्ति की ही प्रमुखता है । इसी भक्ति के एक अंग के रूप में नाम भक्ति को स्वीकार किया गया है ।

सत्ताइसवें सूत्र[3] में शाण्डिल्य ने लिखा है कि अन्त:करण की शुद्धि के हेतु नामस्मरण एवं श्रवण सबसे प्रमुख साधन माना जा सकता है । तथा इन साधनों का अनुष्ठान तब तक करते रहना चाहिए जब तक अन्त:करण पूर्णरूपेण शुद्ध न

१: शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, २

२: तत्परिशुद्धिश्च गम्या लोकवल्लिङ्गेभ्य: । ४३ । वही

३: बुद्धिहेतुप्रवृत्तिराविशुद्धेरवघातवत्।वही, २७

हो जाय । श्रवण, स्मरण के साथ ही गुरुसेवन तथा शास्त्र विचार आदि को भी आवश्यक माना है ।[1] इसके सूत्र स्मृतियों में भी मिलते हैं जैसा कि शाण्डिल्य के चौवालिसवें सूत्र से ज्ञात होता है ।

परा भक्ति को प्राप्त करने के साधनों की ओर संकेत करते हुए महर्षि ने सत्तावन वें सूत्र में लिखा है कि कीर्तन से भगवान के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है, जैसे कीर्तन अनुराग हेतु होता है उसी प्रकार उसके साहचर्य से भगवन्नाम वंदन आदि भी हैं । इनको उन्होंने भक्ति के प्रतिपादक साधनों के रूप में ग्रहण किया है ।

भक्ति के इन नामस्मरणादि साधनों को उन्होंने प्रथम सोपान के रूप में स्वीकार किया है ।[2] उससे अधिक फल प्राप्ति की कामना नहीं करनी चाहिए । उदाहरण के लिए उन्होंने अपने बासठवें सूत्र में लिखा है कि कीर्तन श्रवण आदि अनुष्ठान यथा समय हो सकता है । जैसे गृह आदि का निर्माण करने के लिए यथा समय तृण काष्ठ आदि का संग्रह किया जाता है, उसी प्रकार पहले नाम-स्मरण, कीर्तन हो । श्रवण आदि पर विशेष आसक्त नहीं होना चाहिए । जब जिस साधन की आवश्यकता हो, उसे ग्रहण करना चाहिए[3]। भगवद्भक्ति की दिशा में 'ध्यान' पर बल दिया है । क्योंकि उसके द्वारा ध्येय के स्वरूप में चित्त भली-भांति रम जाता है । अपने चौहत्तर वें सूत्र " स्मृतिकीर्त्योः कथादेश्चार्तौ प्रायश्चित्त-भावात् " में शाण्डिल्य ने विष्णु पुराण[4] का आधार ग्रहण किया है । तथा स्मरण, कीर्तन कथा श्रवण नमस्कारादि साधन आर्त-भक्ति में प्रायश्चित्त रूप से कहा गया स्वीकार किया है । किन्तु अगले सूत्र में ही उन्होंने यह स्वीकार किया है कि नामस्मरण तथा कीर्तन का विशेष स्थान है । एक बार का किया हुआ

---

१. तदङ्गानां च ।- शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, २८

२. नाम्नेति जैमिनिः सम्भवात् । -वही, ६१

३. अत्राङ्गप्रयोगाणां यथाकालसम्भवो गृहादिवत् । ६२ । वही

४. प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपः कर्मात्मकानि वै ।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम् ।। वि०पु० , २।३।३७

नामस्मरण तथा कीर्तन आदि लघु होकर भी बड़े—बड़े पातकों को नष्ट करने में समर्थ होते हैं।[1] क्योंकि उन्होंने कहा है कि भक्त के लिए भगवत्स्मरण या भगवच्छरणागति के सिवा अन्य, सब कुछ प्रायश्चित्तों के त्याग की विधि है।[2] स्मरण कीर्तन आदि को पाप के प्रायश्चित्त के स्थान में प्रतिष्ठित किया गया है। यद्यपि महर्षि ने पराभक्ति की प्राप्ति में कीर्तन आदि को मुक्ति का साक्षात् साधन नहीं माना, तथापि उसे कारण रूप में अवश्य स्वीकार किया है।[3]

संक्षिप्त रूप से यह कहा जा सकता है कि वह ब्रह्म जिसे अनुराग एवं श्रद्धा द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, उसका माध्यम नाम-महिमा तथा नाम-कीर्तन भी है। उपासना से सम्बद्ध श्रवण कीर्तन आदि भक्ति के अंग हैं। नाम-स्मरण के द्वारा आराध्य के प्रति मन में भक्ति का उदय होता है। इससे आगे बढ़ने के लिए ध्यान आवश्यक माना है। वह चाहे जिस स्वरूप के प्रति हो। श्रवण कीर्तन आदि की स्थिति बाह्य एवं आन्तरिक दोनों प्रकार की स्थितियों में स्वीकृत है क्यों कि मानसिक एवं शारीरिक समस्त कलुषित भावनाओं का विनाश नाम स्मरण से होता है। यही कारण है कि भगवन्नाम महिमा के गान का अधिकार सबको समान रूप से प्राप्त है।

हरिभक्ति रसामृतसिंधु —

अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों की तरह ही 'हरिभक्तिरसामृतसिंधु' भी भक्ति से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। भक्ति के विविध रूपों के निरूपण के साथ रागानुगा एवं वैधी भक्ति का सम्यक् विवेचन इसमें मिलता है :—

आद्या सामान्यभक्त्याढ्या द्वितीया साधनाश्रिता।
भावाश्रिता तृतीया चतुर्थी प्रेम रूपिका ॥[4]

---

1. भूयसामननुष्ठितिरिति वैदाप्रयाणामुपसंहारान्महत्स्वपि। —शा०भ०सूत्र, ७५
2. लघ्वपि भक्ताधिकारे महत्क्षेपकमपरसर्वहानात्। —वही, ७६
3. परां कृत्वैव सर्वेषां तथा ह्याह। —वही, ८४
4. हरिभक्ति रसामृतसिंधु, पूर्व विभाग, पहली लहरी—६

अस्तु प्रथम सामान्य भक्ति दूसरी साधन भक्ति, तीसरी भावाश्रित-भक्ति और चौथी लहरी प्रेम का निरूपण करती है।

इस भक्ति का अधिकारी रूप गोस्वामी उसे मानते हैं जो सत्संग निरूप महाभाग्य से भगवत्सेवा में श्रद्धायुक्त होकर (विषयों के प्रति) न अतिसक्त, तथा वैराग्य भी न पाया हुआ हो।[1]

इस भक्ति कीप्राप्ति के लिए अनेक साधनों का निर्देश स्थान-स्थान पर किया गया है। कुछ लोग उसके रूप की साधना करते हैं तथा कुछ उसमें नाम-गुण का कीर्तन करते हैं। एक प्रकार से उसके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके उसके रूप में मग्न होकर तत्पश्चात् उसके भजन करते हुए उसे प्राप्त करते हैं।[2] इस प्रकार की भक्ति की कोटि में गोपियों आदि की भक्ति आ सकती है।

रागानुगा भक्ति को प्रमुख रूप से रूप गोस्वामी ने महत्वपूर्ण स्वीकार किया है तथा उसके लक्षणों का निर्देश करते हुए कहा है कि कृष्ण का स्मरण करते हुए अपने से सम्मोहित तथा कृष्ण के इष्ट का स्मरण करते हुए (कृष्ण के वासस्थान) वृंदावन आदि में वास करें।[3]

वैधी भक्ति के लक्षणों को बताते हुए रूप गोस्वामी ने नाम कीर्तन के महत्व पर प्रकाश डाला है। श्रवण-कीर्तन को उन्होंने एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में स्वीकार किया है। प्रस्तुत श्लोक दृष्टव्य है —

तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः।
श्रवणोत्कीर्तनादीनि वैधभक्त्युदितानि तु ॥[4]

---

१. हरिभक्ति रसामृतसिंधु—दूसरी लहरी, ५

२. केचित्प्राप्यापि सारूप्याभासं मज्जन्ति तत्सुखे।
राग बन्धेन केनापि तं भजन्तो व्रजन्त्यमी ॥
— वही, ६७

३. अत्र शास्त्रं तथा तर्कमनुकूलमपेक्षते।

४. वही, दूसरी लहरी, ८०

अर्थात् श्रवण, कीर्तन आदि वैधी भक्ति के लिए कहे गये हैं । उनके जो अंग हैं उन्हें पण्डितों को जानना चाहिये । नाम-कीर्तन तथा श्रवण के अतिरिक्त भगवान की लीला पर भी उन्होंने प्रकाश डाला है । साथ ही साथ उनके रूप की उपासना पर भी बल दिया है । उनका कथन है कि माधुर्य भाव से कृष्ण के सौन्दर्य की उपासना करनी चाहिए अथवा उनकी विविध लीला के विषयों को सुनकर विभोर होने में ही उन्होंने भक्ति का साधनत्व स्वीकार किया है[१]।

भगवान के स्वरूप का ध्यानपूर्वक स्मरण करने का भी आग्रह किया है । तन्मयता ही इस साधन मार्ग में अपेक्षित है । सम्पूर्ण रूप से स्निग्ध मन से उसके स्वरूप का स्मरण ही सच्चा प्रेम है । इस प्रेम को प्राप्त करने के लिए साधक को क्रमश: कई सोपानों को पार करना पड़ता है जैसा कि गोस्वामी जीनेकहा है कि पहले श्रद्धा, फिर साधु संग, फिरभजन, अनर्थों से निवृत्ति, फिर निष्ठा, उसमें रुचि, फिर आसक्ति और अन्त में प्रेम की उत्पत्ति[२]। यहीं प्रेम के उदित होने के साधन अथवा माध्यम स्वीकार किये गए हैं । श्रवण को मुख्य रूप से स्वीकार किया गया है क्योंकि उससे साधक के मन में उसके नाम-रूप के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है । क्रमश: रति की भावना का उदय होता है जो कि अन्त में भक्ति भावना को दृढ़ एवं पुष्ट बनाती है ।[३]

इन्द्रिय कर्मों की गोस्वामी जी ने दो कोटियाँ निर्धारित की हैं — भगवान् को नेत्रों से देखना, कान से उसके गुण सुनना, मुंह से उसके नाम का कीर्तन और जपादि करना आदि ।[४] साक्षात् तथा अनुमित इन्हीं के अन्तर्गत आ जाती है । दर्शन-श्रवण-तथा स्मरण से ही भगवान कृष्ण की अनुकम्पा प्राप्त होती है ।

---

१. तद्भावेच्छाऽऽत्मिका तासां भावमाधुर्य्य कामिता ।
श्री मूर्तेर्माधुरी प्रेक्ष्य तत्लीलां निशम्य वा ।। हरिभक्ति रसा०सिंधु-पूस०,८३

२. आदौ श्रद्धा तत: साधुसंगोऽथभजनक्रिया ।
ततो अनर्थ निवृत्ति: स्यात्ततोनिष्ठा रुचिस्तत: ।।६।। वही, चौथी लहरी
सात की चौथी लहरी भी द्रष्टव्य

३. वही ६। दक्षिण विभाग—पहली विभाव लहरी ।

४. साक्षात्तनुमितं चेति तच्च द्विविधमुच्यते ।
साक्षादैन्द्रियकं दृष्टश्रुतसंगीतितादिकम् ।। वही दूसरी लहरी , ५

भक्ति आन्दोलन और उसकी पृष्ठभूमि

ईसा की दसवीं शताब्दी में भारत के सिन्ध प्रदेश पर मुसलमानों का आक्रमण प्रारम्भ हो गया था । उस समय भारत की राजनैतिक एकता विच्छिन्नावस्था में थी । राजसत्तायें गृह-कलह एवम् पारस्परिक युद्धों में निरन्तर संलग्न थीं, जिसके कारण किसी वाह्य आक्रमण के विरुद्ध सहयोग पूर्वक युद्ध-क्षेत्र में उतरने में असमर्थ थीं । हिन्दू राजाओं का एक दूसरे के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का दुराग्रह इतना दम्भपूर्ण था कि वाह्य आक्रामक को आमन्त्रण देकर अपने आत्मगौरव के साथ मातृभूमि के गौरव का विक्रय करने में भी वे नहीं चूके । जयचंद के ऐसे ही आमंत्रण पर सन् ११७४ ई० में मुहम्मद गौरी ने भारत पर आक्रमण किया और ११९२ में तराइन में पृथ्वीराज चौहान के परास्त हो जाने पर कन्नौज से काशी तक अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया ।

मध्य युग की परिस्थितियां बड़ी अस्तव्यस्त थीं । भारत में एकछत्र राज्य का अभाव था । यवन लोगों के आक्रमण बराबर भारत की राजनीति को जर्जरित कर रहे थे । छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना ने एकता और राष्ट्रीयता समाप्त कर दी थी । भारतीय राजनीति को जर्जरित करने का सर्वप्रथम प्रयास महमूद गजनवी ने किया था । उसके सत्रह आक्रमणों ने भारतीय राजनीति की नींव हिला दी थी । मुहम्मद गौरी ने उस हिलती हुई नींव को धराशायी करने का प्रयास किया । वह केवल लुटेरा ही नहीं वरन् बड़ा भारी कूटनीतिज्ञ भी था । उसने कूटनीति के बल पर ही पृथ्वीराज जैसे सम्राट को पराभूत कर दिया था ।

भारत पर मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व इस्लामी झंडा पश्चिम में स्पेन से लेकर पूर्व में सिन्ध तक फहरा रहा था । गौरी के पूर्व तुर्क आक्रमणकारियों जैसे मुहम्मद बिनकासिम तथा महमूद गजनवी की स्थिति लुटेरों की सी थी । वे हवा के झोंके की भाँति आये और चले गये । कोई स्थायी प्रभाव देश के राजनैतिक जीवन में नहीं छोड़ गये । किन्तु मुहम्मद गौरी अपने पीछे अपने गुलामों को छोड़ गया जिनमें से उनके गुलाम सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक सन् १२०६ ई० में

गौरी की मृत्यु के उपरान्त भारत के विजित प्रदेश पर अपना स्वतंत्र शासन करने लगा। इस प्रकार भारत में भी इस्लाम का झंडा लहराने लगा।

कुतुबुद्दीन ऐबक अपने पूर्ववर्ती यवन बादशाहों के सदृश ही अभिमानी और अत्याचारी होते हुए भी उनके सदृश नृशंस और क्रूर नहीं था। भारतीय जनता को थोड़ा सांस लेने का अवसर मिला ही था कि चंगेज़ खां का आक्रमण हो गया। उसके आक्रमण से भारतीय राजनीति की नींव डगमगा गई। उसके अत्याचारों की कथा बड़ी करुणा है।

चंगेज खां के आक्रमण के पश्चात बलबन ने छिन्न-भिन्न होती हुई भारतीय राजनीति को एक सूत्र में बांधने का प्रयास किया था किन्तु मंगोलों के आक्रमणों ने चैन नहीं लेने दिया। उसका सारा समय उनसे युद्ध करने में ही व्यतीत हो गया। अत: भारतीय जनता को किसी प्रकार की सुख-शान्ति नहीं मिल सकी। यही नहीं गुलाम वंश ही समाप्त हो गया।" अलबरूनी ने लिखा है —महमूद गजनवी ने भारत के वैभव को सम्पूर्ण रूप से मिटा सा दिया। साथ ही उसने आश्चर्य के वे कारनामें किए कि हिन्दू धूल के कणमात्र रह गए।[१]

मज़हब के प्रसार के लिए आक्रमणकारियों ने चारों ओर खुदा के नाम पर अत्याचार किए। संसार में यह देखा जाता है कि किसी मत के अनुयायी अपने धर्मगुरु और पैगम्बर को जितना आदर देना चाहते हैं, उतना ही आदर की भावना के जोश में आकर उसे अनादर देते चले जाते हैं। उनमें कट्टरता बढ़ती ही जाती है। बुद्ध ने आत्मा और परमात्मा के प्रश्न को अव्याकृत कहकर उस पर मौन रहना ही उचित समझा। परमात्मा की एक मूर्ति के रूप में कल्पना करना तो एक बहुत दूर की बात थी। किन्तु उनके ही अनुयायियों ने उनकी मृत्यु के पश्चात उनका मूर्ति रूप में पूजन भी प्रारम्भ कर दिया।

इसी प्रकार अपने धर्मगुरु की शिक्षा के विरुद्ध खलीफाओं ने तलवार का प्रयोग किया। इस्लाम का खुदा सिर्फ एक दण्ड देने वाला खुदा ही रह गया

---

१. संत साहित्य, डा० सुदर्शन, पृ० ५१

खलीफा मुसलमानों के धर्मगुरु थे ।

मुसलमानी आक्रमणों की आँधी के समक्ष सारा भारत झुकता गया । परन्तु हिन्दुओं ने अपनी पराजय को इतनी शीघ्रता से स्वीकार नहीं किया । उन्होंने पग-पग पर इन मुसलमानी आक्रमणों का विरोध किया । परन्तु आपसी फूट, शत्रु के प्रति क्षमाशीलता की भावना , और कई अंध विश्वासोंने मिलकर उनकी अवनति की । समय की निष्ठुरता के समक्ष उन्हें सिर झुकाना ही पड़ा ।

प्राचीन सभ्यता के कई अन्यतम नमूने मुसलमानों के प्राथमिक आक्रमणों के युग में ही समाप्त हो गए । शिल्पकला एवं अन्य विधाएं अन्तर्वेदि से हटकर भारत के उन दूरस्थानों में चली गई जहाँ पर मुसलमानी आक्रमणों का भय नहीं था । मंदिरों को नष्ट कर कला के कई श्रेष्ठतम नमूने सदैव के लिए विनष्ट कर दिए गए । भारत के इन मंदिरों के निर्माण एवं इनकी शिल्पकला ने महमूद को भी प्रभावित किया था । बिहार के बौद्ध-विहार अपनी पतनावस्था में जीर्ण-शीर्ण खड़े थे । कला एवं संस्कृति के निशान मिटते चले गए । एक बात है कि भारत यधपि छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था फिर भी कला-कौशल को कोई हानि नहीं पहुंची थी । आपसी फूट के बावजूद भी हर राज्य में कला साहित्य आदि को प्रोत्साहन तो किसी न किसी रूप में मिलता ही रहता था । प्रत्येक राज्य में कला के उत्तमोत्तम नमूने मौजूद थे । इन राज्यों में विद्वानों का आदर होता था । विद्वानों की भाषा संस्कृत ही थी । ये राजा कलम और तलवार दोनों के ही धनी थे ।[१]

देश में मज़हब के नाम पर हर तरह का अन्याय होता था । इस्लाम-धर्म ग्रहण करने वाले का प्रत्येक गुनाह माफ़ कर दिया जाता था । पठानी-सल्तनत में ही नहीं बल्कि मुगलसल्तनत में भी यह देखा जासकता है कि उस समय देश में धार्मिक सहिष्णुता बिल्कुल नहीं थी । अकबर में ही केवल इसका अपवाद मिलता है । जहांगीर से औरंगजेब तक इस सहिष्णुता का विनाश ही होता गया।

---

१. संत साहित्य - डा० सुदर्शन सिंह, पृ० ५१-५५

औरंगजेब के समय में तो यह कट्टरता अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई थी । यह युग धार्मिक असहिष्णुता और मुस्लिम धर्मान्धता का युग था । जिसमें अंत में मुस्लिम धर्मान्धता की ही विजय हुई । बाबर यद्यपि अन्य सुल्तानों की अपेक्षा उदार था किन्तु कुरान के नाम पर उसने इस्लाम को ही सहारा दिया था ।

भारतीय इतिहास के पन्ने कलात्मक मंदिरों के विध्वंस की कहानियों से भरे पड़े हैं । अलाउद्दीन के समकालीन उसकी राज्य व्यवस्था के बारे में एक लेखक लिखता है — 'कोई भी हिन्दू अपना सिर भी नहीं उठा सकता था । सोने-चांदी या अन्य किसी कीमती वस्तु का हिन्दुओं के पास पता भी नहीं रहने दिया जाता था ।

ऐसी बात नहीं कि भारत पर पहले आक्रमण न हुए हों, शक, हूण आए, लेकिन भारत में ही बस गए । उनके अत्याचार धर्मान्धता की नीति से प्रेरित नहीं थे । इस तरह कला, धर्म, दर्शन, साहित्य और रहन-सहन के अतिरिक्त उन्होंने भारतीय संस्कृति को भी अपना लिया । किन्तु इन तुर्कों ने धार्मिक संकीर्णता को नहीं छोड़ा । ये तो इस्लाम के अतिरिक्त किसी अन्य धर्म की कल्पना भी नहीं कर सकते थे ।

परवर्ती मुस्लिम शासकों में से अलाउद्दीन खिलजी तथा मुहम्मद तुगलक ने केन्द्रीय शासन-सूत्र को सुदृढ़ बनाया तथा भारत में मुस्लिम साम्राज्य का अभूतपूर्व विस्तार कर उसे स्थायित्व प्रदान कर दिया । कुतुबुद्दीन ऐबक ने जहां बंगाल बिहार और कालिंजर को जीतकर गोरी द्वारा स्थापित साम्राज्य को विस्ता किया वहीं अलाउद्दीन ने सन् १२९५ ई० में शासनारूढ़ होने पर मालवा, महाराष्ट्र तथा गुजरात प्रदेशों को जीत लिया तथा इस्लाम का झंडा फहराया ।

अलाउद्दीन की नृशंसता की पराकाष्ठा का एक नमूना यह है — वह बड़ा क्रूर और रक्त-पिपासु था । हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार बड़ा ही कठोर था । अब्दुल वसाफ नामक इतिहासकार ने 'तजौउल असार' नामक इतिहास ग्रन्थ में लिखा है कि उसने खम्भात की खाड़ी पर स्थित खम्भातनगर को जीतकर वहां के हिन्दुओं को मार कर रक्त की नदियां बहा दी थी । कोई हिन्दू ६ महीने से अधिक का भोजन नहीं रख सकता है । इस बात के लिए कहा

जाता है कि उसके महल के सामने ४०,५० हिन्दुओं की लाशें पड़ी रहती थीं[१]।
जिस अलाउद्दीन की पैशाचिक नृशंसता से सारा देश थर्रा रहा था तथा जिसके तेज का सूर्य भारत-भूमि को समृद्धि प्रदान करने के स्थान पर उसे गौरवहीन तथा मर्यादाहीन करने में ही लगा रहा उसका अस्त उसके ही गुलाम मलिक काफूर ने उसकी हत्या करके कर दिया। अलाउद्दीन की मृत्यु ने भारतीय जन-जीवन को एक उसास लेने का अवसर दिया।

अलाउद्दीन खिलजी के पश्चात् १३ वीं शती के उत्तरार्द्ध में दिल्ली दिल्ली की कठोर शासन सत्ता में शिथिलता आई जिसके कारण स्वतंत्रता के लिए छटपटाते राजनीतिक जीवन में एक उसास आई। परिणामस्वरूप बंगाल की तुर्क सल्तनत तथा तिरहुत के कर्णाटक हिंदू राज्य स्वतंत्र हुये। किन्तु गयासुद्दीन तुगलक के रूप में मुस्लिम साम्राज्यवाद का सोया अजगर पुनः जाग्रत हुआ और उसने बंगाल तथा दक्षिण में आन्ध्र को निगल लिया। गयासुद्दीन की हत्या उसके ही पुत्र मुहम्मद तुगलक ने कर दी तथा राजतंत्र अपने हाथ में ले लिया। मुहम्मद तुगलक भी क्रूर, बर्बर तथा धर्मान्ध शासक था। महाराष्ट्र के महान संत नामदेव के प्रति उसने अत्यन्त दुष्टता पूर्ण व्यवहार किया था। भारतीय इतिहास में उसे 'पागल' की संज्ञा तक दी गई है क्योंकि वह निपट हठी तथा दुराग्रही था। उसके हठ के कारण राजधानी का दिल्ली से दौलताबाद को बदलना तथा उसका प्रत्यावर्तन जिसमें दीन-जनता के रक्त से अर्जित असंख्य रुपये बर्बाद हुए अब तक एक मुहावरे—दिल्ली से दौलताबाद—के रूप में प्रसिद्ध है।

मु० तुगलक के बाद फीरोज तुगलक बादशाह हुआ। एक इतिहासकार ने लिखा है कि उसने भिलसा नगर पर आक्रमण करके वहाँ के प्रसिद्ध मंदिरों की मूर्तियाँ तुड़वाकर दिल्ली में लाकर अपने महल के सामने डलवायी थीं। वह उनको हजारों हिन्दुओं के रक्त से स्नान करवाता था।

प्रसिद्ध इतिहासकार डा० अवधबिहारी पाण्डेय के अनुसार फीरोजशाह (१३५१-८८) अत्यन्त संकीर्ण विचार एवं कट्टर धर्मान्ध था। वह शासन में कुरान का अक्षरशः पालन करता था। ब्राह्मणों पर जजिया लगाया। उसने

१. जायसी का पद्मावत - डा० गोविन्द त्रिगुणायत, पृष्ठ-८४

अपने धर्मानुयायियों को आज्ञा दी थी कि जो लोग इस्लाम के सच्चे मत को स्वीकार नहीं करें उन पर अत्याचार हो । शासन का संचालन संकीर्णता ,पक्षपात एवं साम्प्रदायिकता के आधार पर होने लगा । फीरोज की धर्मान्धजनित क्रूरता की पराष्ठा तो वहाँ देखने को मिलती है जब कि उसने राजप्रासाद के सामने एक ब्राह्मण को जीवित जलवा दिया था, केवल इस आधार पर कि उसने अपने धर्म को इस्लाम से श्रेष्ठ बताया था तथा उसके विचारों एवं जीवन से प्रभावित होकर कुछ मुसलमान स्त्रियां हिन्दू हो गई थीं । इसके अतिरिक्त सुल्तान ने ज्वालामुखी और जगन्नाथ के मंदिरों की मूर्तियां उखड़वाईं, नए मंदिर गिरवा दिए तथा हिन्दुओं के धार्मिक मेलों पर रोक लगा दी ।[१]

फीरोज तुगलक के विषय में इतिहास मर्मज्ञ डा० ईश्वरीप्रसाद कहते हैं :-" कुरान की अनन्य भक्ति भावना भी इसे अपनी वासना से अलग नहीं कर पाई । जब ईश्वर के प्रतिनिधि सुल्तान का यह आचरण था तो उसके अनुयायियों का पतन स्वाभाविक ही था । हिन्दू प्रजा पर अनेकों अत्याचार होते रहे । राज्य की ओर से वे पूर्णत: नि:स्सहाय थे । मुसलमानशासक उनको जीवित रहने का अधिकार केवल इसलिए दिए हुए थे कि उनके मर जाने पर ज़जिया कर से कोष को खाली हो जाने का भय था ।"[२]

१३९८ में भारत पर तैमूर ने आक्रमण किया । इस आक्रमण ने भारतीय नीति को जर्जरित कर दिया । उसने अपने आक्रमण का वर्णन करते हुए लिखा है कि भारत पर आक्रमण करने में मेरा लक्ष्य काफिरों को दण्ड देना, उन्हें मार कर गाज़ी बनाना , मुजाहिब को प्रश्रय देना और मूर्तिपूजा का मूलोच्छेदन करना था । इतिहासकारों ने कहा है कि उसने कुल मिलाकर ६ लाख हिन्दू मारे थे ।

---

१. डा० अवधबिहारी पाण्डेय- पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास, पृ० २६१
२. डा० ईश्वरी प्रसाद - मैडिवल इण्डिया, पृ० २९०

तैमूर के प्रत्यावर्तन के उपरांत विक्रम की पन्द्रहवीं शती में अफगान साम्राज्य का आधिपत्य स्थापित हुआ । सिंकदर लोदी (१४८६-१५१७ ई०) ने शासन तंत्र में नवीन नवीन जीवन एवं उत्साह लाने का अथक परिश्रम किया । उसने गरीबों की आवश्यकताओं को समझा और उन्हें पूरी करने की चेष्टा की । किन्तु धर्म के मामले में इस शासक की उदारता भी कुंठित हो गई थी । उलमाओं के संकेत पर ही शासन की बागडोर चलती रही । हिन्दुओं पर बलात् इस्लाम धर्म लादा जाता था । मंदिर तुड़वाये जाते थे और वहाँ मस्जिदों का निर्माण होता था । उसके समय में धार्मिक पक्षपात अपनी चरमसीमा पर था -" तारीख ए दाउदी" में लिखा है " कि मूर्त्तियों को उसने कसाइयों को दे दिया जिसको उन्हों ने मांस तौलने की बाट बना लिया था[१] । कहते हैं कि उसने वृद्ध ब्राह्मण को केवल इतना कहने पर कि उसका हिन्दू धर्म भी इस्लाम के समान ही महान् है जीवित ही जलवा दिया था । संत कबीर के प्रति किए गए अत्याचारों की कहानी तो भारतीय लोक में आज तक प्रचलित है ।

लोदी वंश के शिथिल पड़ने पर दिल्ली का शासन सूत्र छिन्न-भिन्न हो गया । भारतीय राजनीति की सरिता शत शत धाराओं में विकीर्ण हो विशृंखल हो गई । इस अवसर का लाभ उठाकर तैमूर का वंशज बाबर सन् १५२६ ई० में भारत पर आक्रमण कर दिल्ली की सत्ता को हस्तगत कर भारत का सम्राट बन बैठा । उसने पानीपत में इब्राहीम लोदी तथा कन्वाहा में राणा सांगा को पराजित कर मुगल साम्राज्य की नींव भारत भूमि पर जमा दी । बाबर वैसे तो योग्य और प्रतिभाशाली शासक था किन्तु हिन्दू और हिन्दुस्तान से उसे घृणा थी । यही कारण है कि उसने भी हिन्दुओं के प्रति दुर्व्यवहार किया था । उसकी नृशंसता का संकेत करते हुए संत नानक ने लिखा है -" आज का युग तलवार का युग है । बादशाह कसाई है । हिन्दू जानवर हैं । न्याय, पर लगाकर उड़ गया है । असत्य के महान अन्धकार में सत्य का सूर्य नहीं दिखाई पड़ता है[२]।"

---

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय - डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल,पृ० २७४
२. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा , पृ० ७६

बाबर के बाद कुछ दिनों तक भारत की भव्य भूमि पर शेरशाह का सूर्य चमका। सन् १५४० में शेरशाह ने हुमायूँ को हराकर मुगलों से पानीपत की हार का बदला ले लिया तथा दिल्ली पर अधिकार कर लिया। शेरशाह एक योग्य शासक और मानव मात्र का उपासक बादशाह था। उसने युग-युग से चौड़ी होती हुई हिन्दू मुसलमानों की खाई को अपनी योग्यता और मानवता के सहारे भरने की सफल चेष्टा की थी किन्तु वह सूर्य अधिक दिन नहीं चमक सका। उसके बाद उसके उत्तराधिकारी उसके द्वारा उपार्जित साम्राज्य की रक्षा न कर सके। वह अकबर के हाथ में चला गया। जायसी ने इसी राजनीतिक पृष्ठभूमि में शेरशाह के शासनकाल में पद्मावत की रचना की। उस समय भारतीय राजनीति तलवार के आधीन थी। दिल्ली का सिंहासन उसी का होता था जिसकी तलवार प्रबल और तीक्ष्ण होती थी। इस भावना की अभिव्यक्ति जायसी ने "तिरिया भूमि खड्ग के चेरी" लिखकर की है।

सन् १६५५ में हुमायू ने, जो शेरशाह से हार कर अफगानिस्तान भाग गया था, ईरान के शाह तहमास्प की सहायता से शेरशाह को पराजित कर पुनः दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। शेरशाह की पराजय के उपरान्त पठानों ने कभी जमकर सिर नहीं उठाया। उनकी रही-सही शक्ति को अकबर ने सन् १५५६ में हेमू को पानीपत में हराकर सदा के लिए समाप्त कर दिया। अकबर चतुर एवं कूटनीतिज्ञ था। उसने देश भर में बिखरे हुये छोटे-बड़े हिन्दू-मुसलमान प्रादेशिक शासकों को हराकर एक दृढ़ एवं सशक्त मुगल साम्राज्य की स्थापना की। उसने उदारवादी नीति का सहारा लिया तथा शांति और व्यवस्था स्थापित की। समस्त उत्तर भारत तथा गोदावरी तक दक्षिण भारत पर एकाधिकार कर लेने पर भी वह एक उदार तथा सहिष्णु शासक कहलाता रहा। अकबर का समय अपेक्षाकृत राजनीतिक स्थिरता तथा धार्मिक सहिष्णुता का था जिसमें देश ने सर्वांगीण विकास किया। जहाँगीर ने अपनी न्यायप्रियता के द्वार को सर्वसाधारण के लिए सर्वदा खुला रख कर देश में "जहाँगीरी-न्याय" का कीर्तिमान स्थापित किया तथा शासकों की न्याय-प्रवंचना से जूझती जनता के हृदय में शासन से न्याय की अपेक्षा की आशा का पल्लवन किया।

अकबर से लेकर शाहजहाँ तक के न्याय-प्रियता, धर्म सहिष्णुता तथा समृद्धि के कीर्तिमान को एक बार पुनः औरंगजेब ने ध्वस्त करके रख दिया । वह एक महान धर्मान्ध तथा साम्प्रदायिक शासक था । उसके मन्दिरों को तोड़-फोड़ कर मस्जिदों की स्थापना तथा अन्य कट्टर इस्लामी कृत्यों से हिन्दूजनता के मन में एक बार पुनः भय, संशय, अस्थिरता तथा अरक्षा का भावोदय हो गया ।

इस प्रकार मध्ययुग की राजनैतिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों के सर्वेक्षण से प्रकट है कि पूरे युग में हिन्दू शासकों को निरन्तर अपनी स्वाधीनता के लिये तथा अपने सामाजिक एवं धार्मिक अधिकारों के लिये संघर्ष करना पड़ा ।

जब शासकों में स्वयं इस प्रकार के संशय तथा प्रवंचना की दुभाविनायें व्याप्त रही, वहाँ शासितों में कहाँ से शान्ति तथा सुरक्षा की भावना रहती । हिन्दू प्रजा पर तो निरन्तर वज्रपात होते रहे । इस्लाम में विधर्मियों अर्थात् काफिरों के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं है, अतः तलवार की नोंक पर इस्लाम का प्रचार करने वाले मुस्लिम शासक हिन्दू राजाओं को उनके आपसी विद्वेष की स्थिति में शनैः शनैः पराभूत कर हिन्दुओं को बलात् इस्लाम स्वीकार करने को विवश करते रहे । इन राजाओं के पतन के उपरांत हिन्दू प्रजा बेसहारा नौका की भाँति थी जो नाविक के सहसा डूब जाने पर झंझावाती समुद्र के भंवर जाल में डूबती उतराती हो तथा सुरक्षित दिशा की प्रत्याशी हो ।

डा० रामकुमार वर्मा का यह कथन सत्य की सीमा का स्पर्श करते हुए ही मुखरित हुआ है कि इस समय राजनीति कटी हुई पतंग की भाँति पतनोन्मुख हो रही थी । जो उसकी घिसटती हुई डोर पकड़ लेता, वह उसे भाग्याकाश की ऊँचाई तक खींच ले जाता । राज्यों के उत्थान-पतन होते रहे और जनता प्रेक्षक की भाँति सारे दृश्य बिना किसी "आह" और "वाह" के साथ देखती रही ।[1]

इस युग की राजनीति धर्म का अविभाज्य अंग बनी रही एवं शासन-

[1] अनुशीलन — डा० रामकुमार वर्मा - पृष्ठ - 103

तन्त्र कुरान की धर्म विधियों-भले ही वे देशकाल परिस्थिति के अनुसार जीवनी-शक्ति से हीन हो चुकी हों --से संचालित होता रहा । धर्मान्धता के नशे में आकर ही उदार बादशाहों को अपनी नीति में अनिच्छापूर्वक परिवर्तन करना पड़ा । इस प्रकार दिल्ली का सिंहासन चपल राजलक्ष्मी की भाँति किसी भी राजवंश के अधिकार में नहीं रहने पाता था । कभी-कभी तो एक वर्ष में दो-दो , तीन-तीन सुल्तान सिंहासनारूढ़ हो जाते थे । प्राय: सभी बादशाह स्वेच्छाचारी होते थे ।

हिन्दुओं की व्यवस्था बड़ी विशृंखल और निरीह थी । वे आत्ममान-हानि को अपनी आँख के सामने देखकर भी सहन करते थे जिससे उनमें जीवन के प्रति विरक्ति जागृत हो गई थी । किन्तु वे शृंगार भावना का भी पूरा परित्याग नहीं कर सकते थे । अत: आसक्ति और विरक्ति दोनों के मिश्रित मार्ग की खोज में थे । सूफियों ने एक ऐसे ही मार्ग का प्रवर्तन किया था जिसके फलस्वरूप हिन्दुओं की अभिरुचि भी सूफ़ी काव्यों के प्रति जागृत हो रही थी ।

वह युग क्रूरता, कठोरता, और नृशंसता का युग था उससे हिन्दू और मुसलमान दोनों ही ऊब उठे थे । अत: वे सामान्य प्रेममार्ग की खोज में थे । सूफियों ने ऐसे ही साधारण प्रेम मार्ग का प्रवर्तन किया था । अत: वह उस युग में दोनों में समादृत हुआ था । सूफी कवियों ने अपने युग की प्रवृत्ति को पहचान कर ही हिन्दू और मुसलमान दोनों की मिश्रित प्रणय भावना को कथा में बाँधने की चेष्टा की थी ।

इन्हीं परिस्थितियों में भक्तिकाल का आविर्भाव हुआ जो राजनैतिक अव्यवस्था तथा सांस्कृतिक द्वन्द्व के उस काल में एक वरदान बन कर आया । तत्कालीन पराभूत जनमानस के समक्ष भक्ति आन्दोलन चरम आदर्श के रूप में सहज ही प्रतिष्ठित हो गया ।

वास्तव में इस भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात महान् सुधारक शंकराचार्य ने किया था जिन्होंने सफलतापूर्वक बौद्धधर्म से लोहा लिया और हिन्दू धर्म को एक ठोस दार्शनिक पृष्ठभूमि पर ला रक्खा । उन्होंने तर्कपूर्ण ढंग से अद्वैतवाद को

स्थापना की और मोक्ष के तीन साधनों अर्थात् ज्ञान, कर्म तथा भक्ति में से ज्ञान-मार्ग पर बल दिया । किन्तु जन साधारण को आकृष्ट करने में वह उतना अधिक सफल न हो सके । जन साधारण का ध्यान हिन्दू धर्म की ओर आकर्षित करने की चिन्ता में और उसको जीवन्त बनाने और क्रियात्मक बल देने में हमारे मध्य-युगीन धार्मिक विचारकों ने तीसरे साधन अर्थात् भक्ति पर अधिक बल दिया । चूंकि बहुसंख्यक हिन्दू विदेशी शासन में भौतिक, राजनीतिक, एवं सांस्कृतिक प्रगति नहीं कर सकते थे इसलिए (पलायनवाद) भक्ति आन्दोलन का प्रमुख अंग बन गया । जनसाधारण और यहां तक कि इस आन्दोलन के नेताओं ने भी तत्कालीन सामाजिक दुरवस्था एवम् विवशता में अपने सभी कर्माकर्म तथा चित्तवृत्तियों को भगवदर्पण कर आत्मिक संतोष की सांस ली । डा० मुंशीराम शर्मा के अनुसार इस प्रकार हम जहां दिग्दिगन्त तक फैले हुये थे, वहां नियति के वशीभूत हो अपने तक भी सीमित न रह सके । विदेशियों ने अपने अमानुषिक आतंक द्वारा हमें झकझोर डाला । आपदाओं की जो क्रूर दृष्टि हम पर पड़ी, उसे हम ही थे जो सहन कर गये, अन्यथा ऐसी विकट परिस्थितियों में अनेक ऐतिहासिक जातियां समूल उन्मूलित होती देखी गई हैं । वैष्णवभक्ति ने हमें सम्हाला । हम पराधीन तो हो गये, पर अपने स्वरूप-संरक्षण में पराधीन होकर भी दत्तचित्त रहे ।"[१]

इस प्रकार यद्यपि भक्ति आन्दोलन भारतीय समाज के लिये सर्वथानूतन नहीं था फिर भी तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में उसके पुनराविर्भाव का अभूत-पूर्व स्वागत हुआ ।

वास्तव में भक्ति सम्प्रदाय इस्लाम धर्म से अधिक प्राचीन था । भक्ति की स्थापना उपनिषद् तथा भगवद्गीता के समय में हुई थी ।" सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणम् व्रज" द्वारा भगवान कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देकर भक्तिमार्ग की प्रतिष्ठा किया था । परन्तु आठवीं शताब्दी ईसवी में शंकराचार्य की ज्ञान-मार्गी शिक्षाओं के कारण भक्ति आन्दोलन की प्रगति में शिथिलता आ गई थी । बारहवीं शताब्दी में इस ज्ञान-मार्ग की प्रतिक्रिया के रूप में भक्ति आन्दोलन का पुनरुद्धार हुआ ।

---

१. भक्ति का विकास - डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० ३७६

भक्ति-आन्दोलन के पुनर्प्रादुर्भाव के निम्नलिखित कारण हैं :-

(१) आश्रय की खोज - देश की स्वतंत्रता की रक्षा का अधिकार रखने वाले राजपूत राजाओं के पराभव के कारण हिन्दू समाज निराश्रय-सा हो गया था। सल्तनत-काल की राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक विवशताओं के कारण हिन्दुओं ने भगवान का आश्रय लिया।

(२) क्रियात्मिका शक्ति का नियोजन - पराधीनता के पाश में आबद्ध हो जाने के कारण हिन्दुओं ने अपनी क्रियात्मिका शक्ति को किसी अन्य उपयोगी कार्य में लगा सकने में समर्थ न होने के कारण भगवद्भजन में ही नियोजित कर दिया जिससे भक्ति-भावना के प्रवाह में बल मिला।

(३) सूफी सम्प्रदाय का प्रभाव - सूफीमत इस्लाम धर्म का ही एक वर्ग विशेष था जो इस्लाम के साथ ही भारत में आया। सूफी भौतिकता के विरोधी होते थे तथा ईश्वर-प्रेम एवं मुक्ति का उपदेश देते थे। इस प्रकार ये वेदान्तियों के विचारों से साम्य रखते थे। जब हिन्दू इनके सम्पर्क में आये तो सूफियों के प्रभाव से ईश्वर की भक्ति पर उनकी आस्था सुदृढ़तर हुई।

(४) हिन्दू धर्म की जटिलता तथा वाह्याडम्बर का प्रभाव - इस काल में हिन्दू धर्म में कर्मकाण्डों तथा अन्य वाह्याडम्बरों का जाल बिछ गया था और साथ ही वह इतना जटिल हो गया था कि साधारण जनता के लिए दु:साध्य हो गया था। भक्ति आन्दोलन के प्रचारकों ने इन सब दोषों को दूर कर एक सर्व-ग्राह्य तथा लोकप्रिय धर्म प्रणाली का प्रचार किया।

(५) समन्वय की प्रेरणा - जब हिन्दुओं ने यह समझ लिया कि मुसलमान भारत के स्थायी नागरिक हो चुके हैं और उन्हें उनके साथ ही देश में जनजीवनयापन करना है तो हिन्दू तथा मुसलमान दोनों जातियों ने यह अनुभव किया कि उनका पारस्परिक द्वेष, ईर्ष्या, कटुता तथा वैमनस्य दोनों के लिये घातक है। अत: दोनों में सद्भावना आवश्यक है। उनकी इस सद्भावना का मार्ग भक्ति आन्दोलन के उन्मेष से प्रशस्त हुआ।

भक्ति आन्दोलन का भारतीयों के सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक जीवन पर समुचित प्रभाव पड़ा।

दक्षिण से प्रारम्भ भक्ति आंदोलन शास्त्रीय नहीं था । रामानुज ने उसे शास्त्रीय रूप दिया । आलवारों का भक्ति आन्दोलन केवल भावात्मक था । उसमें दैवी विभूतियों के प्रति आस्था एवं आत्मसमर्पण की भावना अधिक तीव्र थी । इसी का आधार लेकर दसवीं शताब्दी में यामुनाचार्य ने उसे शास्त्रीय रूप दिया । रामानुज ने उसे और भी शाखाओं-प्रशाखाओं में विभाजित करते हुए एक अत्यंत बोधगम्य रूप प्रदान किया । यह दक्षिण की भक्ति-धारा जब उत्तर की ओर अग्रसर हुई तो उसे दो सम्प्रदायों में विभाजित होकर भक्ति का व्यावहारिक रूप अधिक भाव-प्रवणता के साथ प्राप्त हुआ । ये दो, महानुभाव और वारकरी सम्प्रदाय थे । महानुभाव सम्प्रदाय केवल साम्प्रदायिक होकर सीमित रह गया किन्तु वारकरी सम्प्रदाय अधिक व्यापक हुआ जिसमें ज्ञानेश्वर एवं नामदेव ने इस भक्ति में नाम के महत्व को अधिक प्रतिपादित किया । इन आचार्यों ने उत्तर भारत की यात्रा की तो भक्ति के साथ नाम का महत्व अधिक प्रचारित हुआ । कालान्तर में वल्लभाचार्य एवं रामानन्द ने इस नाम को भक्ति का प्रमुख अंग समझ कर जनजीवन में प्रसारित किया।

ब्रह्म के दो स्वरूप आदि काल से ही चले आ रहे हैं। कभी उसके निर्गुण रूप को प्रश्रय मिला और कभी सगुण रूप को। इसके कुछ विशेष कारण रहे हैं। कभी हमारे धर्म एवं दर्शन पर तत्कालीन राजनीति एवं समाज का प्रभाव पड़ा तथा कभी दार्शनिकों एवं चिन्तकों के स्वयं के सोचने एवं समझने के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। किन्तु ये दोनों ही महत्वपूर्ण थे। यद्यपि इस चिन्तन की प्रक्रिया में अन्तर्निहित एक ही विचारधारा कार्य कर रही थी किन्तु कभी वह ज्ञान की गहराई से अपने इष्ट का स्वरूप खोजने लगता, कभी भक्ति के अतिरिक में अभिभूत हो उठता। दोनों ही भक्ति के आश्रय एवं आलम्बन थे। ज्ञानमार्गी निर्गुण ब्रह्म की परिकल्पना करके उसे शक्ति अथवा सत्ता के रूप में स्वीकार कर चुके थे। उस शक्ति अथवा सत्ता का आभास मात्र ही उसके अस्तित्व का द्योतक है। इसी अस्तित्व के ज्ञान के लिये चिन्तकों ने उसे विभिन्न नाम दिया। निर्गुण एवं निराकार को नाम द्वारा अभिहित करने में भी एक प्रकार अन्तर्विरोध का सामना करना पड़ा। उसे समझने के लिये उसके विभिन्न नामकरण हुये जो कभी सम्प्रदायगत कभी अन्य किसी आस्था विशेष के कारण हुये। ब्रह्म नाम की महिमा समझने के लिए भी कुछ आवश्यक उपकरणों की आवश्यकता थी जिनके माध्यम से उसके समीप तक आराधक जा सके। इसके लिए ज्ञानमार्गियों ने गुरु को उपदेशक एवं ज्ञानी के रूप में मार्गनिर्देशक स्वीकार किया और रूप, लीला, धाम तथा किसी भी प्रकार के विकार से रहित उस सत्ता का बोध ये ज्ञानी साधक कर सके। नाम को ही एकमात्र आधार मानकर अपनी साधना की परिणति स्वीकार किया।

इसके विपरीत भक्ति-मार्गी साधक नाम के साथ ही उसके तीन अन्य प्रमुख तत्वों को स्वीकार करके आगे बढ़े। उनका विश्वास था कि नाम उसी को दिया जा सकता है जिसका कोई रूप हो। निराकार का नाम और गुण क्या हो सकता है। अस्तु उनका आराध्य साकार व सगुण बनकर अपने भक्तों के समक्ष समय-समय पर विभिन्न रूपों में प्रकट होता है। वह विभिन्न चरित्रों का निर्वाह करता है। मानवीय स्तर पर उतर कर वह विभिन्न प्रकार के क्रियाकलापों को करता है। सगुण मार्गी कवियों ने नाम, रूप, लीला तथा धाम में यद्यपि स्वीकार चारों तत्वों को ही किया है किन्तु कभी एक तत्व उभर कर आ गया है और कभी दूसरा। राम भक्ति कवियों ने नाम तत्व को विशेष रूप से स्वीकार किया है। इसका कारण सम्भवतः रामानन्द का प्रभाव हो सकता है। इसके साथ ही निर्गुण-मार्गी कवियों

का प्रभाव भी स्वीकार किया जा सकता है । इसी प्रकार कृष्ण-भक्तों में रूप तथा लीला को विशेष स्थान प्राप्त है जो कि वल्लभाचार्य की पुष्टि-मार्गी भक्ति से प्रभावित है । किन्तु यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इन कवि भक्तों ने भी क्रमश: नाम को प्राथमिकता दी है । इस प्रकार नाम की महत्ता स्वत: ही सिद्ध हो जाती है ।

साधकों के लिए किसी न किसी आश्रय की आवश्यकता होती है जिसकी वे आराधना कर सकें अथवा जिस माध्यम से वे अपनी साधना को प्राप्त कर सकें । इसलिये उस अचिन्त्य को अचिन्त्य स्वीकार करते हुए भी उन्होंने उसे नाम देना अनिवार्य समझा । यही बात निर्गुणमार्गी कवियों के साथ भी है । उन्हें साधकों की कठिनाई को देखते हुए अपने अचिन्त्य को नाम के बंधन में बंधना पड़ा । उनका कथन था कि वह अव्याख्येय है, रहस्यात्मक है । नाम जो भी हो सदा अपर्याप्त एवं परिवर्तनशील होगा इसीलिए वैसटके,उन्होंने ब्रह्मवाची अनगिनत नामों को अपने काव्य में प्रयुक्त किया है, इससे उनका कुछ विशेष अर्थ सिद्ध नहीं होता । यह तो भाषा की विवशता मात्र है । प्रश्न यह उठता है कि बिना वस्तु के नाम कैसा ? 'राम' शब्द पर इतना बल देने का कारण सम्प्रदाय गत हो सकता है अथवा सगुण-मार्गी कवियों या साधकों का प्रभाव है । रामानन्द सम्प्रदाय में 'राम' शब्द को विशेष रूप से स्वीकार किया गया है । उनके आराध्य का स्वरूप 'राम में ही समाहित है । सम्भवत: इसी का परिणाम है कि 'राम' शब्दएक प्रकार से प्रतीक के रूप में आ गया है और सभी सम्प्रदायों में जो किंचित मात्र भी रामानन्द से प्रभा-वित हुए हैं, राम-नाम को स्वीकृति मिली है ।

उपासना-पद्धति और सगुण-मार्गी साधक —

सगुण-मार्गी साधकों की समस्त साधना जीवन के प्रति क्रूर एवं नृशंस अत्याचारों की स्वाभाविक प्रतिक्रिया स्वीकार की जा सकती है , भक्तिकालीन परिस्थितियों पर इससे पूर्व विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जा चुका है जिसमें इस बात का स्पष्ट संकेत है कि सगुण और निर्गुण दो धाराओं के विभाजन का क्या कारण था। सगुण मार्गी साधकों की काव्यप्रेरणा का आधार अथवा स्रोत भी यही परिस्थितियां मानी जा सकती हैं । रामनाम का महापोत इसी दुख के भवसागर को पार करने

के लिए साधकों ने निर्मित किया था । भक्तों ने ब्रह्म के अवतारी रूप को आश्रय-दिया है तथा उसके नाम, रूप, लीला तथा धाम की विस्तार पूर्वक विवेचना की है । सगुण-साधकों का सम्पूर्ण साहित्य लोक-मंगल की भावना से ओत-प्रोत है । कलिकाल से संतरण के लिये इन कवियों ने एक मात्र भगवान् के नाम को स्वीकार किया ।

इस उपासना पद्धति में वैदिक तथा अवैदिक दोनों तत्वों का समावेश हुआ । यही कारण है कि इसमें सरलता तथा सर्वग्राह्यता के गुण के साथ ही उच्च कोटि का चिन्तन और अभ्यास भी प्राप्त होता है । प्राय: वैष्णव-भक्त कवि पूर्व-काल से चले आते देवी-देवताओं की उपासना पर ही अधिक बल देते हैं । परिणाम-स्वरूप विभिन्न प्रकार की पूजा पद्धतियों को स्वीकार करना पड़ा और भक्ति, कर्म, ज्ञान, योग, जप, तपादि सभी तत्वों को महत्वपूर्ण माना है । वैष्णवों की उपासना पद्धति के इस स्वरूप के निर्माण में रामानन्द का प्रमुख रूप से स्थान है । उन्होंने ही सर्वप्रथम राम नाम का प्रचलन साधारण जन समुदाय के समक्ष किया । अपनी साधना को और भी जनप्रिय बनाने के लिए राधा-कृष्ण तथा सीता-राम की विविध प्रकार की लीलाओं तथा उनके गुणों का भी प्रसार किया । कृष्ण सम्प्रदाय में तो ध्यान के रूप में कृष्ण की विविध लीलाओं को ही साधना का सर्वस्व मान लिया । साधना का स्वरूप अधिक से अधिक आकर्षक एवं सरल बनाने की चेष्टा सर्वत्र परिलक्षित होती है । कवित्वमयी शैली में संगीतात्मकता की विशेषता के साथ इन साधकों ने अपने गीत गाए-जिसका प्रभाव सम्पूर्ण जन समुदाय पर पड़े बिना नहीं रह सका । नाम का प्रभाव इतना अधिक स्वीकृत हुआ कि भगवान् के भक्त ही नहीं पापियों का उद्धार भी एक बार नाम स्मरण से हो जाता था ।

इस साधना में कर्म के साथ ही साथ भगवान के अनुग्रह पर भी विशेष बल दिया गया है । तुलसी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि " भाव, कुभाव, अनख आलसहूँ, नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ " और यदि निष्ठा पूर्वक नाम स्मरण किया जाय तो स्पष्ट है कि उसका फल क्या होगा । यह साधना को सरल बनाने का एक मार्ग था जिससे साधक धर्म पर आरूढ़ रह कर अपनी भक्ति को सुरक्षित रख सका । राम और कृष्ण का तो मुख्य रूप से नाम साधना के संदर्भ में उल्लेख मिलता है ।

किन्तु कहीं-कहीं हनुमानादि की नाम साधना का भी संकेत मिलता है। कलिकाल में तो नामस्मरण से ही मुक्ति मिल जाती है। ज्ञान, योग, तप की उतनी अधिक आवश्यकता नहीं होती। यद्यपि राम भक्तों ने योग को स्वीकार किया है किन्तु नाम साधना से अधिक उसको महत्त्व नहीं प्रदान किया।

वैष्णव कवियों का राम और कृष्ण, विष्णु का ही अवतार है। उसको रूप, नाम, गुणादि के बंधनों में बाँध लिया है। इसका एकमात्र कारण है कि साधक इस सरल रूप का ध्यान कर सके। तुलसी, मीरा, सूर तथा अन्य सभी सगुणमार्गी कवियों में इसी भावना की पुष्टि मिलती है। मुख्य रूप से विनयपत्रिका तथा सूरसागर साधनात्मक दृष्टि से उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। इन कवियों ने रूपकी कल्पना साधना के लिए आवश्यक मानी है और उस स्वरूप के प्रति भक्ति भावना को स्थिर रखने के लिए मन्त्र, जप, यंत्र, योग तथा पूजा, उपासना आदि पर बल दिया है।

वैष्णव उपासना के भी प्रकारान्तर से दो विभाग हो जाते हैं एक तो कृष्ण के नाम, रूप, लीला तथा धाम के उपासक साधक, दूसरे राम - नाम रूप के उपासक भक्त कवि। कृष्ण काव्य के प्रचार एवं प्रसार में आचार्य वल्लभ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके अनुसार ब्रह्म अपनी सर्वज्ञता और शक्तिमत्ता से जगत् की रचना में समर्थ है। वह स्वेच्छा से ही जगत एवं जीव का रूप धारण करता है। वल्लभ ने ब्रह्म के क्रीड़ाशील रूप को अधिक महत्त्व दिया है। यही कारण है कि इस परम्परा में आने वाले बाद के कवियों ने कृष्ण की लीला को अत्यधिक महत्त्व दिया। वल्लभाचार्य ने ब्रह्म के आनन्दमय रूप पर इतना बल दिया है कि लीला रहित निर्गुण ब्रह्म या अक्षर में आनन्द का ईषत तिरोभाव[1] मानकर उसे सगुण ब्रह्म से कम महत्त्व दिया है। इसी प्रकार कृष्ण-भक्ति-धारा के प्राय: सभी प्रमुख आचार्यों ने कृष्ण के लीला रूप पर अधिक तन्मयता से दृष्टिपात किया है। निम्बार्काचार्य ने भी ब्रह्म को सगुण और अनंत शक्ति सम्पन्न माना है। मध्वाचार्य ने भी ब्रह्म का ठीक इसी रूप से विवेचन किया है। सभी आचार्यों ने भक्ति को ही मुक्ति का साधन माना है और भक्ति के विविध साधनों में नामस्मरण को मुख्य रूप से प्रश्रय दिया। चैतन्य

---

1. संत वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव—डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० ३४६

की तो समस्त साधना ही भगवान की नाम-साधना है, उनके सम्प्रदाय में तो कीर्तन, स्मरण, ध्यान, जप आदि पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। उसका रूप शास्त्रीय न रह कर व्यावहारिक हो गया है।

वैष्णव कवियों का नाम-साधना का स्वरूप नितान्त नवीन नहीं है। इसका पूर्वरूप आगमों की मन्त्र-साधना में ही प्राप्त होता है। देश, काल तथा परिस्थितियों के अनुरूप कालान्तर में इसमें परिवर्तन आवश्यक हुआ है। वैष्णव भक्तों ने नाम के साथ रूप का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध माना है। भगवान् के ये नाम लौकिक नहीं वरन् चिन्मय हैं। इसमें अव्यक्त रूप से सत्-चित् तथा आनन्द की विशेषताओं का समावेश रहता है। साधना द्वारा उसका महत्व परिलक्षित होता है।

नाम-जप की भी विभिन्न स्थितियाँ होती हैं। अपनी पहली अवस्था में वह कीर्तन आदि के रूप में रहता है। जैसे-जैसे साधक की वृत्तियाँ आन्तरिक होती जाती हैं वैसे-वैसे यह जप भी ध्यान और मानसिक उपासना के स्तर पर आती जाती हैं।

कृष्ण-भक्ति में भी गुरु को अत्यधिक महत्व दिया गया है। भक्ति-काल की समस्त शाखाओं में गुरु को ब्रह्म के समानान्तर मानकर साधकों ने उसके महत्व को प्रतिपादित किया है। कारण बहुत स्पष्ट है -- गुरु ही ऐसी कड़ी है जो भगवान से साक्षात्कार कराता है। उसके नाम, तथा रूप से अवगत कराता है। सूर ने " भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो " कह कर अपनी आस्था व्यक्त की है। गुरु ही एक ऐसा साधन अथवा माध्यम है जो " अद्भुत राम नाम के अंक " का ज्ञाता होता है तथा उसी में वह शक्ति है कि वह अपने साधक शिष्य को इस राम-नाम के अंक का ज्ञान करा सके। यही कारण है कि गुरु गोविन्द एक समान ही हैं। छीत-स्वामी ने तो गुरु मुख के महात्म्य वर्णन में यहाँ तक कहा है कि वह 'अन्नदाता', पतितपावन, भवसागर तरिबे को आलम्बन', अनाथ के नाथ', 'भवसागर तरिबे को साधन, मयावाद-विनाशक और भक्ति विधायक है।

भक्ति के इस व्यावहारिक रूप का सम्यक विवेचन भक्त कवियों द्वारा हुआ है। कृष्ण की विविध प्रकार की लीला ही साधकों को सहज रूप से आकर्षित करती है। संयोग में सुख का अनुभव होता है किन्तु भक्तिभावना में उतनी अधिक दृढ़ता नहीं आ पाती जितनी वियोगावस्था में आ जाती है। संयोग के समय की

बाल तथा माधुर्य भाव से की गई लीलाओं का जिसमें भक्त निरन्तर प्रेम-संयोग के लिए आतुर रहता है, किन्तु भक्ति-भावना तथा आसक्ति की जितनी महानता कृष्ण के वियोग के समय में होती है उतनी संयोगावस्था में नहीं। वियोगावस्था में साधक निरन्तर कृष्ण के रूप का ध्यान करता है, नाम की उपासना करता है तथा उनकी लीलाओं का स्मरण करता है।

कृष्ण भक्ति के संदर्भ में ही मीरा का नाम उल्लेखनीय है। किन्तु अन्य कृष्ण भक्तों की अपेक्षा मीरा की साधना तथा आराधना एवं ब्रह्म के स्वरूप में किंचित अंतर हो जाता है। जहाँ एक ओर वे गिरधर को अपना पति मानती हैं, उसी को 'साँचो प्रीतम' मानकर उसके रूप तथा नाम के प्रति उनकी विशेष आसक्ति रहती है। वहीं दूसरी ओर उनपर संत कवियों के निर्गुण ब्रह्म का भी कहीं-कहीं प्रभाव मिलता है। परिणामस्वरूप कृष्ण में ही कभी-कभी राम के दर्शन भी कर लेती हैं। यह कहा जा सकता है कि मीरा को किसी भी सम्प्रदाय का बंधन स्वीकार नहीं था। वे अपने विचार तथा अपनी साधना में भी स्वतंन्त्र थीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कृष्ण भक्ति के विकास में निम्बार्क, चैतन्य, वल्लभाचार्य, हरिवंश तथा हरिदास आदि ने विशेष सहयोग प्रदान किया। इसके अतिरिक्त अष्टछाप के कवियों ने उस भक्ति को व्यावहारिक स्तर पर जनप्रिय बनाने का श्लाघनीय कार्य किया। इन सभी भक्तों ने कृष्ण के माधुर्य भाव को सर्वाधिक महत्व दिया और उसी के नाम स्मरण तथा लीला रूप और गुण के श्रवण तथा चिन्तन पर बल दिया। यहाँ तक कि इसे ही अपनी साधना पद्धति का अनिवार्य अंग माना।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यथार्थ में यद्यपि इस भक्ति मार्ग में भी सर्वत्र सम्प्रदायगत विभेद मिलता है किन्तु मूल मान्यता अथवा आस्था में कोई विशेष अन्तर नहीं है।" उन सब का समान रूप से एक ही उद्देश्य था — रस, आनन्द और प्रेम की मूर्ति श्रीकृष्ण और राधा की लीला का गायन।[१]

राम-भक्ति-धारा के विकास में प्रमुख रूप से तुलसीदास का नाम उल्लेखनीय है। तुलसीदास वैष्णवाचार्यों द्वारा प्रतिपादित भक्ति के स्वरूप कीतथा साथ ही

---

१. हिन्दी साहित्य, भाग २, पृ० ३५८

साथ ब्रह्म के स्वरूप को भी अधिक सहज तथा सरल बनाया । 'राम' की सगुण-साकार रूप में उपासना ही इन भक्तों का उद्देश्य था । रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित राम भक्ति के स्वरूप को तथा साथ ही साथ ब्रह्म के स्वरूप को भी अधिक सहज एवं बोधगम्य रूप रामानन्द ने प्रदान किया । उत्तरी भारत के भक्ति आन्दोलन का नेतृत्व करके उन्होंने अपनी भक्ति का रूप निर्धारित किया । यह भक्ति का ऐसा मार्ग था जो कि सभी के लिए खुला हुआ था । सभी धर्मों के अनुयायी राम को अपना इष्ट मान सकते थे तथा उनकी पूजा-उपासना कर सकते थे । यह धर्म का एक अत्यंत ही व्यापक स्वरूप था जिसमें सगुण-निर्गुण सभी उपासक समान रूप से भाग ले सकें । आगे चलकर राम के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या भक्त कवि तुलसी के साहित्य में उपलब्ध होती है । तुलसी के अतिरिक्त, भी कई अन्य कवि राम-भक्ति-शाखा में हुए, किन्तु तुलसी के व्यक्तित्व, ज्ञान तथा उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा के समक्ष साहित्य में अपना विशिष्ठ स्थान न बना सके । तुलसी की सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि उन्होंने आदिकाल से चली आती भक्ति तथा ब्रह्म के विविध स्वरूपों और धर्म को उसी रूप में ग्रहण करने के साथ ही साथ तत्कालीन परिस्थितियों की आवश्यकता तथा जनजीवन की अभिरुचि को भी ध्यान में रखा और अपनी भक्ति का एक समन्वित रूप प्रस्तुत किया जिससे किसी भी मतावलम्बी का कोई विरोध नहीं हुआ । यद्यपि इसमें भी संदेह नहीं कि अपने इष्ट स्वरूप के नाम-रूप के प्रति उनका जितना उत्कट अनुराग था उतना अन्य स्वरूपों के प्रति नहीं, फिर भी विनयपत्रिका के प्रारम्भ में ही उस समय प्रचलित जितने भी देवी-देवता थे सबकी वन्दना की है ।

इसी प्रकार तुलसी के काव्य में ज्ञान और योग का वह तिरस्कृत रूप नहीं मिलता[1] जैसा कि कृष्ण काव्य के कवियों में प्राप्त होता है । यह अवश्य है कि ज्ञान और योग के ऊपर सगुण ब्रह्म की भक्ति को प्रतिष्ठित करने में तुलसी ने अथक प्रयास किया है । कोई भी तत्व हो यदि उसका सगुण ब्रह्म से कोई विरोध नहीं है तो तुलसी ने उसे स्वीकार कर लिया है ।

तुलसी ने अपनी भक्ति के संदर्भ में मन्त्र- ~~संदर्भ में~~ अथवा नाम को विशेष रूप से महत्व ही नहीं दिया है वरन् उसे भक्ति प्राप्ति में सहायक तत्व स्वीकार किया

---

१. भगति ग्यान, बिग्यान बिरागा । जोग चरित्र रहस्य बिभागा ।।
जानब तैं सबही कर भेदा । मम प्रसाद नहीं साधन खेदा ।।
—उत्तरकाण्ड, दोहा ८५

है । मानस के प्रथम सोपान के प्रारम्भ में, विनयपत्रिका तथा दोहावली में राम-नाम के महत्व पर विशद रूप से प्रकाश डाला गया है । विनय पत्रिका में राम-तारक मंत्र तथा शिव के संदर्भ में ' ओं नम: शिवाय ' मन्त्र का उल्लेखकिया है किन्तु जहां महत्व प्रतिपादन की बात आती है वहाँ तुलसी, राम नाम को शिव से भी बड़ा मानते हैं । रामनाम की महिमा तो इतनी अधिक है कि वह उलटा जपने से भी महान् फल प्रदान करता है । तुलसी राम नाम के आगे तीर्थ, व्रत, तप आदि सभी को व्यर्थ समझते हैं ।[१]

इसके अतिरिक्त कृष्णाभक्ति शाखा की भाँति ही राम-भक्ति-शाखा के सभी कवियों ने गुरु की महिमा का गान किया है । मुख्य रूप से नाम के संदर्भ में ये साधक गुरु को विशेष महत्व प्रदान करते हैं । गुरु ही भक्तों को नीति, चेता-वनी, और नाम-साधना का उपदेश देता है । तुलसी का विश्वास है कि बिना गुरु के विवेक-ज्ञान की कोई सम्भावना नहीं ।[२] गुरु का स्मरण करते ही दिव्य दृष्टि की प्राप्ति हो जाती है । तुलसी के पात्रों की यह विशेषता है कि वे गुरु को महत्व प्रदान करते है । पार्वती, गरुड़, भारद्वाज आदि ने इसी निष्ठा के साथ शंकर काकभुशुंडि और याज्ञवल्क्य आदि से ज्ञान प्राप्त किया । स्वयं तुलसी यह अनुभव करते हैं —

' गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहि लगत राज-डगरो सो ।'[३]

इतना ही नहीं इसके स्मरण मात्र से हृदय की आँखे खुल जाती हैं और दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है ।[४] नाम यदि सद्गुरु द्वारा दिया गया हो तो गुरु शक्ति के

---

१. विश्वास एक राम नाम को, व्रत तीरथ तप सुनि
सहमत पचि मरे करे तन छाम को । — विनयपद — १५५

२. बिनु गुरु होई ....
— रामचरित मानस ७।८६ दोहा १३७

महामोह तम पुंज जासु बचन रविकर निकर — रा० १।१ सो० ५

३. विनय पत्रिका — तुलसीदास, १७३।५

४. श्री गुरु पद नख मनि गन जोती । सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ।
— रा० १।१।३

प्रभाव से नाम का संस्कार अपने आप हो जाता है। गुरु ही राम नाम का मन्त्र प्रदान करता है जिसकी साधना चलती रहती है।

तुलसी ने मानस के बालकाण्ड के प्रारम्भ में ही कह दिया है —

"बंदउं गुर पद कंज, कृपासिन्धु नररूप हरि
महामोह तप पुंज, जासु बचन रविकर निकर[1]।"

अर्थात् गुरु के चरण कमलों की वंदना करता हूं जो कृपा के समुद्र हैं, नररूप में "हरि" ही हैं और जिनके वचन महामोहरूपी समूह अंधकार समूह के नाश के लिए सूर्य किरण के समान हैं। इसी प्रकार स्थान-स्थान पर तुलसी ने कहीं कान्ति और सरसता, कहीं आर्द्रता और कोमलता और कहीं भगवान् के गुणों की उपमा गुरु के लिए प्रयुक्त किया है। गुरु को सूर्य और उसके वचनों को किरण समूह मानना ही अपने में बहुत महत्त्वपूर्ण है। गुरु के बचनरूपी बाणों से शिष्य का महामोह दूर हो जाता है। ईश्वर के नाम, रूप, चरित, धाम और गुण इत्यादि के प्रति साधक के मन में जो भ्रम रहता है उसे गुरु ही दूर करता है।

"जासु ज्ञान रवि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल विकासा"।

इस प्रकार गुरु हर दृष्टि से ज्ञानी है, श्रीमद्भागवत में गुरु के लक्षण बताते हुए लिखा है —

"तस्माद् गुरुं प्रपद्येत् जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्। शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्।"

अर्थात् उत्तम, श्रेयः साधन के जिज्ञासु को चाहिए कि वह ऐसे गुरु की शरण जाय जो शब्द-ब्रह्म में निष्णात अनुभवी और शान्त हो।" जीव के कल्याण के तीन मार्ग कर्म, ज्ञान, और उपासना हैं। इनका सही ज्ञान बिना गुरु के सम्भव नहीं।

इस प्रकार सभी मतों में गुरु के अमित महत्व को व्यंजित किया गया है।

---

१. रामचरित मानस — बालकाण्ड, सोरठा ५

उपासना-पद्धति और निर्गुण-मार्गी संत साधक —

मध्यकालीन भक्ति साधना के व्यावहारिक पक्ष पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि तत्कालीन परिस्थितियों के कारण कुछ विशेष प्रकार की सम्भावनायें काव्य तथा समाज में उद्भूत होती हैं। संत-साहित्य के आविर्भाव की सम्भावनायें भी कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण इस रूप में हमारे समक्ष आईं। संत-साहित्य के आविर्भाव के समय धर्म का वह रूप स्थिर नहीं रह सका जो प्राचीन काल से चला आ रहा था। इसका कारण, इससे पूर्व राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों पर विचार करते समय लिखा जा चुका है। परिणामस्वरूप "धर्म ऐसा रूप खोज रहा था जो केवल आचार्यों की शास्त्रीय विवेचना में सीमित न रह कर जन-जीवन की व्यावहारिकता में उतर सके और ऐसा रूप ग्रहण करे कि वह अन्य धर्मों के प्रवाह में समानान्तर बहते हुए अपना रूप सुरक्षित रख सके, वह रूप सहज और स्वाभाविक हो तथा अपनी विचारधारा में सत्य से इतना प्रखर हो कि विविध वर्ग और विचार वाले व्यक्ति अधिक से अधिक संख्या में उसे स्वीकार कर सकें और उसे अपने जीवन का अंग बना लें। स्वामी रामानन्द ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में धर्म को बहुत बड़ी सुविधा दी।[1]

इस दृष्टि से रामानन्द का दृष्टिकोण समन्वयवादी था। उनके शिष्य प्राय: निम्नवर्ग के थे जिन्हें पूर्ण रूप से यह स्वतन्त्रता थी कि वे किसी भी धर्म को स्वीकार करके चल सकते हैं। इसके अतिरिक्त सगुण-निर्गुण का भी कोई बंधन उनके भक्ति-मार्ग में नहीं था। उनकी भक्ति सहज अनुभूति को प्रधान मान कर चली थी। जाति बंधन की शिथिलता के साथ उन्होंने नामकी महत्ता को स्वीकार किया। साथ ही "राम" को अधिक उपयुक्त मानकर ब्रह्म के रूप में उनकी उपासना की। उन्होंने सगुण-निर्गुण दोनों पक्षों पुर जनता की आस्था को दृढ़ करने का प्रयत्न किया। नवधा भक्ति तथा भक्ति के सहज उपकरणों को मान्यतादेने के साथ ही साथ इन्होंने मानसिक पवित्रता पर भी उतना ही अधिक बल दिया।

यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि संत काव्य अथवा निर्गुण भक्ति धारा शास्त्रों की मान्यताओं के बंधन को स्वीकार करके कभी नहीं

---

1. हिन्दी साहित्य—संत साहित्य, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २०६

चली । इस की पुष्टि डा० रामकुमार वर्मा के इस कथन से होती है -" संतकाव्य की आधार शिला अनुभव-ज्ञान है । उसमें जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन है, इसलिए यह स्पष्ट है कि उसमें प्राचीन परम्पराओं की शास्त्र-सम्मत मान्यता का आग्रह नहीं है । संत काव्य के मूल में निगम-आगम, पुराण आदि का कोई महत्त्व नहीं है ।"[१] अपने इसी लेख में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है -" इन संतों की वाणियों में धर्म अथवा साधना की शास्त्रीय व्याख्या नहीं है, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में ढली हुई विवेक सम्पन्नता अवश्य है । इस भांति लौकिक और धार्मिक दृष्टिकोण का युक्ति संगत संतुलन इस संतकाव्य के आरम्भिक साहित्य में है ।[२]

इसके अतिरिक्त एक बात विशेष रूप से दृष्टव्य है । राम-भक्त कवियों अथवा कृष्ण-भक्त कवियों की भांति इनमें सम्प्रदायगत बंधन की स्वीकृति भी नहीं मिलती है । किसी विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय अथवा पूर्व प्रचलित या निर्धारित किसी मान्यता के ग्रहण करने से संत कवि आगे बढ़े हों ऐसा भी नहीं मिलता । इन संतों की समस्त साधना व्यक्तिगत थी । यद्यपि इन पर रामानन्द का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है तथापि अन्धानुकरण कहीं भी नहीं मिलता ।

इनकी भक्ति का स्वरूप भी रामानन्द के भक्तिमार्ग से निर्देशित हुआ है किन्तु उसी रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति कहीं नहीं मिलती । इन कवियों अथवा संत भक्तों की साधना निराकार के प्रति थी । उसी की खोज में इन्होंने अपने ज्ञान का प्रयोग किया है । उसके लिये सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता का निर्देश किया है । बिना इसके ईश्वर की अनुभूति प्राप्त ही नहीं की जा सकती । इस मार्ग में निर्देशक के रूप में गुरु को भी स्वीकार किया गया है[३]।

ईश्वर को प्राप्त करने के लिए मार्ग में जिन विभिन्न उपकरणों की समय-समय पर आवश्यकता पड़ी उसे इन संतों ने सदैव स्वीकार किया है किन्तु उसकी

---

१. हिन्दी साहित्य (द्वितीय खण्ड), पृ० १८६ (संतकाव्य—डा० रामकुमार वर्मा)
२. वही, पृ० २१०
३. सतगुरु है रंगरेज चुनरि मोरी रंग डारी । —कबीर

भी एक सीमा निश्चित कर दी थी । ये विभिन्न उपकरण ज्ञान, भक्ति, गुरु, जप ,अभ्यास, योग, तन्त्र, मन्त्र आदि थे । इन संतों पर रामानन्द का पूरा-पूरा प्रभाव था जैसा कि इससे पूर्व भी कहा जा चुका है । जिस समय कबीर का आविर्भाव हुआ उस समय तक रामानन्द की मान्यतायें पूर्ण रूप से स्वीकार की जाने लगी थीं । रामानन्द पर विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैतवाद दोनों का पूरा-पूरा प्रभाव था । यही कारण है कि रामानुजाचार्य की परम्परा में आने के साथ ही अद्वैतवादी भी इनसे दूर नहीं रह सके । दोनों विचार धारायें इनके साथ संबंधित हो रही थीं । परिणामस्वरूप तुलसी जैसे सगुण मार्गी भक्त कवि इनकी परम्परा में आये और साथ ही अरूप के साधक कबीर भी इनके शिष्य हुये । कबीर की तो सम्पूर्ण विचार धारा ही इनकी प्रेरणा से परिचालित हुई । उस समय प्रचलित शैवमार्ग तथा हठ योग आदि का भी पर्याप्त प्रभाव इन संत कवियों पर पड़ा । इस प्रकार कई विचार धाराओं का अभूतपूर्व संगम इन संत कवियों की बानियों में मिलता है । डा० वर्मा के शब्दों में —" किन्तु निर्गुणोपासना का कटा-छँटा सिद्धान्त और विवेचन उनके पास नहीं था । रैदास, धना,पीपा आदि निर्गुणोपासना का समर्थन करते हुए भी कभी-कभी मूर्ति-पूजा , छापा,तिलक, चंदन आदि में विश्वास रखते थे । हम उन्हें निर्गुणोपासना और सगुणोपासना की संधि मान सकते हैं उनके पास भक्त की ही भावुकता है ।"[1]

संत साधकों का ब्रह्म निर्गुण, निराकार, निरंजन और अलख तो है किन्तु साथ ही साथ उसमें वे सभी गुणों को आरोपित करते हैं जो सगुण रूप के लक्षण हो सकते हैं क्योंकि उसकी महिमा अनन्त है, अत: नाम रूप और गुणों की भी कोई सीमा नहीं । इस अनन्त रूप के कबीर के पदों में दृष्टान्त मिलते हैं । उनका एक पद है जिसमें उन्होंने ब्रह्म के सम्पूर्ण रूप, चरित अथवा लीला को मिथ्या बताते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है —" कि जो दीखता है वह तो `वह` नहीं है, और जो `वह ` है, वह कैसे कहा जा सकता है । विभिन्न प्रकार से संकेतों द्वारा भी समझाना गूँगे के गुड़ की भाँति ही होगा । आँख से दिखाई नहीं देता उसका विनाश नहीं होता , ऐसे लक्षण गुरु ने बताये हैं उस

---

1. हिन्दी साहित्य(द्वितीय खण्ड):संतसाहित्य- डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २१०

अचिन्त्य है के ।[1] इसलिये उसका सही रूप नहीं बताया जा सकता । अरूप को रूप की सीमा में कैसे बांधा जा सकता है किन्तु उसी अरूप को कबीर, कभी राम, कृष्ण, गोविन्द, केशव, माधव कह कर और कभी अलख, निरंजन, अल्लाह आदि कह कर सम्बोधित करते हैं । किन्तु मात्र नामों के स्वीकार करने से हम किसी साधक को सगुणवादी नहीं कह सकते । उन नामों के स्वीकार्य का अर्थ क्या है इसकी गहराई को देखना आवश्यक हो जाता है । डा० वासुदेव सिंह ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि "कबीरदास अपने ब्रह्म को यदा कदा राम, कृष्ण, गोविन्द, केशव, माधव आदि पौराणिक नामों से भी पुकारते हैं किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे सगुणवाद के समर्थक हैं अथवा ब्रह्म के सम्बन्ध में उनकी कोई निश्चित धारणा नहीं है । वस्तुत: किसी भी प्रकार की संकीर्णता उनको मान्य नहीं । वे अपने इष्टदेव को किसी भी नाम से, चाहे, वह सगुणवादी हो या निर्गुणवादी, पुकारने में हिचक नहीं करते ।"[2]

ब्रह्म के स्वरूप के पश्चात् गुरु के महत्व पर विचार करना आवश्यक हो जाता है । गुरु को प्राय: सभी साधकों अथवा भक्तों ने ब्रह्म के समकक्ष ही महत्व प्रदान किया है । इसके अतिरिक्त 'उस शक्ति' के साक्षात्कार के लिए गुरु को एक पथ-प्रदर्शक के रूप में भी स्वीकार किया है । क्योंकि शिष्य में प्रेम अंकुरित करने का कार्य गुरु ही करता है और अनंत का साक्षात्कार करने वाले अनन्त-लोचन को गुरु ही खोलता है —

> सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार
> लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावण हार ।[3]

---

१. जो दीसै सो तो है वो नाहीं, है सो कहा न जाई
   सैना बैना कहि समुझावों, गूंगे का गुड़ भाई
   दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै, बिनसै नाहिं निमारा
   ऐसा ग्यान कथा गुरु मेरे, पण्डित करो बिचारा ।। —कबीर, पृ० १२६

२. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद — डा० वासुदेव सिंह, पृ० २३३

३. कबीर ग्रन्थावली —१।३
   इसी से सम्बन्धित कबीर का एक पद और है :—
   पूरे से परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि
   निर्मल कीन्ही आत्मा ताथै सदा हजूरि ।। —कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४

इन संतों की नाम-साधना भी अपने ढंग की है । इसके लिये प्राय: इन्होंने बाह्य उपकरणों का आश्रय नहीं लिया, उन्हें न तो माला, कंठा और तिलक की आवश्यकता पड़ी और न ही आसन लगा कर जप करने की प्रक्रिया को उन्होंने महत्त्व दिया । उनका जप हृदय की एक विशेष वृत्ति से सम्बन्धित था । वह किसी माध्यम अथवा साधन को कभी नहीं स्वीकार करते । यह जप की प्रक्रिया अन्त में अजपा जाप के रूप में परिवर्तित हो जाती है । एकाग्रता की इसी स्थिति को 'सहजसमाधि' भी कहा है । बिना किसी प्रयास के यह प्रक्रिया श्वास-प्रश्वास के साथ निरंतर अबाधगति से चलती है । किसी भी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं आने पाता । नाम-साधना को भी इसी प्रकार इन संतों ने एक प्रकार से योग के रूप में स्वीकार किया है । इसे 'शब्द साधना' भी कहा गया है । सभी प्रकार की योग तथा हठयोग आदि की प्रक्रियाओं को इन संतों ने नाम स्मरण के सहायक साधनों के रूप में स्वीकार किया है । संतों ने नामस्मरण को अक्षर की अनुभूति के रूप में माना है । यह अन्तिम स्थिति है । इसके बाद ही उस अलक्ष्य प्रियतम के दर्शन होते हैं । नाम में निष्ठा बढ़ते-बढ़ते वह नामी हो जाता है । मंदिर-मस्जिद की स्थिति को अस्वीकारने का एक कारण यह भी था । क्योंकि ईश्वर की स्थिति इन संतों ने सदैव हृदय में स्वीकार की है और बिना हृदय के शुद्ध हुए प्रियतम के दर्शन को असम्भव माना है । नाम ही वह शक्ति है जो एकमात्र 'सत्' है और वही उस प्रभु से मिलाता है । 'संतमत सद्गुरु निर्देशित वह साधना मार्ग है जिसका केन्द्र नाम अथवा शब्द है और जिसकी परिधि विश्व ब्रह्माण्ड का भी अतिक्रमण करती हुई असीम है । अर्थात् वह अस्ति-नास्ति से भी परे है ।'[1]

उपासना पद्धति और सूफी साहित्य —

यह स्वीकार किया जा सकता है कि सूफियों की भक्ति भावनाउनके ब्रह्म का स्वरूप तथा उसे प्राप्त करने के विविध उपकरण संतों और भक्त कवियों से नितान्त भिन्न नहीं थी । सूफी-भक्तों को निर्गुण मार्ग का अनुयायी स्वीकार किया जाता है क्योंकि इनका ब्रह्म भी नूर, शक्ति, अथवा तेज के रूप में प्रतिभासित

---

१. संतमत में साधना का स्वरूप--प्रताप सिंह चौहान, पृ० २७-२८

होता है । इनके कथानक और उसमें वर्णित पात्र लौकिक हुआ करते थे । किन्तु प्रतीकात्मक ढंग से वे विशुद्ध रूप में किसी अचिन्त्य शक्ति के द्योतक होते थे क्योंकि इन कवियों अथवा साधकों का उद्देश्य ऐसे गहन विषयों का स्पष्टीकरण करना था जिसे साधारण शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता था । इसके अतिरिक्त उस विशिष्ट शक्ति की प्राप्ति के लिए भी उन्होंने अत्यंत ही कष्ट साध्य मार्ग की ओर स्पष्ट संकेत किया है क्योंकि एक तो वह तत्व ही ऐसा है जिसके संबंध में कुछ भी दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता और उसकी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए उसे जितने भी नाम दिये जाते हैं वे भी कल्पना पर ही आधारित हैं । हम उसके अनेकानेक गुणों तथा विशेषताओं की चर्चा करते हैं किन्तु जब उसके प्रत्यक्ष व्यवहार अथवा स्वरूप का प्रश्न उठता है तो हम चुप रहने पर विवश हो जाते हैं । सूफियों की तो समस्त साधना ही उसी अनिर्वचनीय के प्रति की गई प्रेम-साधना है और उसी से तादात्म्य स्थापित करने के लिए साधक सर्वदा गतिशील रहता है । अतएव इस मार्ग में उसे अनेकों कष्ट उठाने पड़ते हैं । सूफियों ने लौकिक पात्रों के माध्यम से अलौकिक तत्व को प्राप्त करने की चेष्टा की है । परिणाम स्वरूप वियोग की स्थिति पर अधिक बल दिया गया है । इस साधना पद्धति में विरह पक्ष को महत्व मिलने का एकमात्र कारण यही है कि विरह की दशा में वस्तुत: साधक की मन: स्थिति इस प्रकार बन जाती है कि वह अपने समस्त जीवन को अपने आराध्य के प्रति नितान्त एकनिष्ठ बना देता है । संयोग के समय अनुभव और लक्ष्य की प्राप्ति के प्रति सचेष्टता भी अपनी उस तीव्रता में नहीं रह जाती ।

इस्लाम केवल एक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है । अनेक देवी देवताओं की स्थिति उसे सदैव ही अमान्य रही है । उसी एक तत्व का व्यक्तित्व विलक्षण है । उसमें सृष्टि, संहार, तथा रक्षा सभी प्रकार के गुणों का समावेश है । ईश्वर केवल एक है, शाश्वत है, उसका कोई पुत्र नहीं है और न ही वह किसी की संतान है । उसके सदृश अन्य कोई दूसरा है भी नहीं । इस प्रकार वह सद्गुणों तथा समस्त ऐश्वर्यों का समाहार है । डा० सरला शुक्ल ने अपने शोध-प्रबन्ध में सूफियों की भक्ति-पद्धति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि " सूफियों पर यद्यपि इस्लाम का प्रभाव पड़ा किन्तु उनकी भावना किंचित उदार थी इस दिशा में ।" अल्लाह के एकत्व से अनेकत्व की स्थिति प्राप्त होने तक सूफियों ने कई स्वरूपों की कल्पना की है । शुहुद (चेतना) नूर (ज्योति) इल्म (ज्ञान) एवं वजूद(अस्तित्व)

उसके ऐसे ही स्वरूप है ।"[१] नव अफलातूनी (Neo Platonism) मत के अनुसार सूफीमत में भी एकत्व से अनेकत्व तक की उद्भावना के तीन प्रधान स्वरूप हैं । अपनी सर्वप्रथम अवस्था में वह केवल एक मात्र सर्वगुण, राग तथा सम्बन्ध रहित स्थित था । जिली ने अपने ग्रन्थ इन्सान ए- कामिल में इसे स्पष्ट भी किया है । केवल वह नाम, रूप, गुण तथा सांसारिक सम्बन्धों से विमुक्त है । .. .. बुद्धि की गति वहां तक नहीं और इसी अगम्य अवस्था को 'अमा' कहते हैं । जब यही तत्व व्यक्त होने की भावना से अग्रसर होता है तो 'अहद्' हो जाता है[२]।" इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि सूफियों ने अपनी साधना पद्धति के इस क्रमिक विकास में उस परमतत्व की कल्पना पहले तो एकदेववाद के रूप में की और आगे चल कर वह अद्वैतवाद ~~तक~~ तक पहुंच गए । इसमें निरन्तर अनेकों तत्व मिलते गए परिणामस्वरूप उसकी शक्ति तथा उसके ऐश्वर्य में भी वृद्धि होती गई वह समस्त सृष्टि में परिव्याप्त माना गया । ब्रह्म द्वारा इस सृष्टि का निर्माण हुआ ।

उस परम सत्ता को सूफियों ने वर्णनातीत तथा आश्चर्यमयी शक्तियों का सम्मिलित स्वरूप माना । सूफियों ने स्थान-स्थान पर उसे परमसत्ता, अलख, अरूप, एवं वर्णनातीत माना है । जायसी ने तो उसके स्मरण पर स्थान-स्थान पर बल दिया है ।[३] नाम स्मरण के साथ ही जायसी ने उसके रूप का भी आवाहन किया है यद्यपि वह केवल नूर है, तेज है, अथवा एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति है जिससे यह समस्त सृष्टि आलोकित होती है । यह महान् स्रष्टा, संहारक एवं पालनकर्ता है । जायसी ने अखरावट में —" तुम करता बड़ सिरजनहारा, हरता धरता सब संसारा " कह कर उसके स्वरूप तथा गुणों पर प्रकाश डाला है । इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं जायसी ने उसके सगुण-निर्गुण दोनों रूपों की चर्चा किया है । पद्मावत में इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति करते हुए लिखा है कि " वह अल्लाह विरोधी तत्वों का समाहार है । निर्गुण निराकार होते हुए भी वह सबसे अधिक शक्ति, शील और सौन्दर्य का

---

१. हिन्दी सूफी कवि और काव्य —डा० सरला शुक्ल, पृ० ३३

२. वही, पृ० ३३

३. सुमिरौं आदि एक करतारू । जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू ।

—पद्मावत — जायसी

पुंज है । अत: उसके रूप एवं आकार के संकुचित क्षेत्र से बहुत ऊपर की सत्ता मानना अभीष्ट है । ज्ञानी उसे इसी प्रकार पहचानते हैं ।[१]

इस प्रकार सूफियों ने एक ही परमसत्ता को विविध रूपों में आभासित किया है । उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए कुछ व्यक्ति नामों का आश्रय ग्रहण किया तथा उसके गुणों पर प्रकाश डाला । यद्यपि शुद्ध सत्ता नाम एवं गुण रहित है तथापि जब वहीं अभिव्यक्ति पाती है तो नाम, रूप, गुण,की विभिन्न उपाधियों से विभूषित हो जाती है ।

इसी संदर्भ में सूफियों की साधना पद्धति पर भी विचार किया जा सकता है । यद्यपि इन पर इस्लाम का प्रभाव है तथा उन्हीं की भांति ये भी नमाज आदि पर विश्वास करते हैं किन्तु इनमें प्रकारान्तर से कुछ परिवर्तन आ गया है । भक्ति साधना के कुछ बाह्य उपकरणों को इन सूफियों ने प्राय: सगुणमार्गी कवियों की भांति ही स्वीकार कर लिया है । यद्यपि इनका ब्रह्म शुद्ध रूप में अलौकिक है किन्तु पूजा-उपासना के विधि-विधानों के बंधन को इन्होंने सर्वत्र स्वीकार किया है । प्रार्थना के रूप में नमाज पर बल दिया है । इसके लिए भौतिक इच्छाओं का दमन, हृदय की शुद्धता तथा एकान्त चिन्तन आवश्यक है तभी उसके नाम और रूप के प्रति आसक्ति का जागरण हो सकता है । ~~सभी स्थानों पर~~ नमाज का स्पष्ट उल्लेख जायसी ने किया है । इसके अतिरिक्त कुरान पाठ, प्रार्थनाएं, जिक्र (स्मरण) फिक्र (चिन्तन) तथा समा (कीर्तन) आदि पद्धतियों को भी अपनी साधना के अन्तर्गत स्वीकार किया है । ये सूफी साधक उसी परम सौन्दर्यशाली के रूप गुण का चिंतन करते हुए उसी में उपस्थित हो जाने का प्रयास करते हैं । इस पद्धति में ये साधक उसके विभिन्न नामों का उच्चारण करते हैं तथा उसके रूप के प्रति आकर्षित होते हैं । सूफियों की यह जिक्र तथा फिक्र की पद्धति शुद्ध रूप में भारतीय भक्ति पद्धति के गुण, रूप तथा नाम-स्मरण के सदृश ही है । मध्ययुग की समस्त साधना ही एक प्रकार से इन्हीं तत्वों

---

१. एहि विधि चीन्हहु करहु गियानू । जस कुरान महँ लिखा बयानू
जीउ नाहिं पै जियै गुसाईं । कर नाहीं पै करै सवाईं ।
नयन नाहिं पै सब किछु देखा । कौन भांति अस जाइ बिसेखा
है नाहीं कोई ताकर रूपा । ना ओहि सन कोई आदि अनूपा ।।

— जायसी—पद्मावत, पृ० ३

पर आधारित है । इस प्रकार यह तो स्पष्ट ही है कि सगुण तथा निर्गुण सभी साधक इन साधनों का आश्रय ग्रहण करके ही आगे बढ़े हैं । इस ज़िक्र के भी कई रूप हैं । डा० सरला शुक्ल ने इनका स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया है -- ज़िक्र जली-की नाम स्मरण पद्धति में साधक के आसन का विशेष महत्व रहता है । साधक दाहिने बायें बैठते हुए अल्लाह के नाम का उच्चारण करता है । इस प्रकार के स्मरण को क्रमश: 'ज़िक्रे एक दर्बी, ज़िक्रे दो दर्बी, ज़िक्रे सी दर्बी, कहते हैं । दूसरी ज़िक्रे ख़फ़ी है । इस प्रकार का स्मरण अत्यंत मंद स्वर से नेत्र और मुंह बंद करके मन ही मन होता है ।[1] इसी प्रकार के नाम-जप पर जायसी ने प्रकाश डाला है । उनका कथन है कि साधक के लिये यही अपेक्षित है कि वह प्रकट रूप से तो सांसारिक क्रिया-कलाप करता रहे किन्तु श्वास-प्रश्वास के साथ उस परमशक्ति के नाम का स्मरण तथा जप करता रहे ।[2] परिणामस्वरूप इस मिथ्या संसार के प्रति विरक्ति की भावना का जागरण होने लगता है । और साधक सतत स्मरण तथा चिन्तन में लिप्त रहने लगता है । और अन्तत: साधक की साधना इसी निरन्तर जप से पूर्ण होती है । नूर मुहम्मद ने कहा है कि वे लोग धन्य हैं जो रात दिन प्रिय के चिन्तन में मग्न रहते हैं तथा जिन्हें संसार में स्मरण के अतिरिक्त और कुछ अच्छा ही नहीं लगता । अतएव साधक को परमात्मा का स्मरण करना चाहिए जिससे उसकी कृपा साधक के ऊपर हो जाय । स्मरण, चिन्तन साधना के लिए अत्यंत आवश्यक है ।[3] स्मरण की यह पद्धति सूफियों में सर्वत्र प्राप्त होती है । जायसी का पद्मावत इसका प्रमाण है । जायसी की पद्मावती रत्नसेन के नाम रूप तथा गुण को सुनकर ही व्याकुल हो जाती है । इसी प्रकार अन्य सूफी कवियों में भी नायक-नायिका के रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर उसका ही ध्यान स्मरण करने लगता है । इस प्रकार जहां

---

१. सूफी कवि और काव्य -- डा० सरला शुक्ल, पृ० ८४

२. परगट लोक चार बहु बाता ।
गुपुत लाउ मन जासों राता । --जायसी

३. सुमिरे ते सुमिरें करतारा, और बापुरा कौन बिचारा
सुमिरि सुमिरि करतार हिं सुमिरे तोहि
तोहि सिखौं सुमिरन, मानहिं मोहि । --नूर मुहम्मद, अनुराग बांसुरी, पृ०१५५

तक नाम-साधना का प्रश्न है वह किसी न किसी रूप में इन सूफी कवियों में विद्यमान है। अपनी साधना पद्धति के अनुरूप उसके स्वरूप में अवश्य परिवर्तन आ गया है किन्तु जहाँ तक भावबोध का प्रश्न है वह नितान्त समान है। सगुण-निर्गुण भक्ति तथा उसके स्वरूप में इसी स्थिति पर आकर एकत्व का दर्शन होता है जहाँ साधक रूपादि से ऊपर उठ कर केवल उसकी स्थिति का बोध करने वाले किसी भी प्रतीक का आश्रय ग्रहण करते हैं। वह प्रतीक कोई भी नाम हो सकता है जो कभी वह उस परम की शक्ति का बोधक होता है कभी सौन्दर्य का और कभी उसकी लीलाओं का आभास कराता है।

गुरु —

उपासना पद्धति के संदर्भ में गुरु के महत्व को आदिकाल से ही स्वीकार किया गया है। भक्तिकाल तक आते-आते वह उपकरण अत्यंत ही प्रमुख रूप में स्वीकार किया जाने लगा था। सगुण तथा निर्गुण दोनों मार्ग के साधकों ने ब्रह्म की प्राप्ति के लिये गुरु के उपदेश तथा उसके अस्तित्व को समान रूप से प्रश्रय दिया है। इसी प्रकार सूफी साधना के अन्तर्गत आने वाली उपासना पद्धतियों में गुरु की महिमा को प्रमुख स्थान प्राप्त है। सूफियों ने यह भावना सगुण-निर्गुण साधक संतों तथा भक्तों से ग्रहण की। साधना के महत्व , और प्रेम मार्ग में सतत अग्रसर होने के लिए साधक को गुरु की आवश्यकता पड़ती है। साधक पहले तो अपने गुरु के प्रति आकर्षित होता है, उसके ज्ञान और उपदेश को ग्रहण करता है। यह प्रवृत्ति क्रमशः, प्रौढ़ होती जाती है। कालान्तर में गुरु के प्रति उत्पन्न यही आकर्षण साधना में परिपक्व होता हुआ परमेश्वर के समक्ष पहुँच जाता है। सूफियों का विश्वास है कि जब तक साधक को गुरु के हाथ से माला या नामस्मरण का मन्त्र प्राप्त नहीं हो जाता तब तक उसे सिद्धि नहीं मिलती[1]। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि गुरु ज्ञानी हो, मार्ग निर्देशक हो, तथा परमेश्वर के विषय का ज्ञाता हो। सूफी साधक उसमान ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि गुरु से वियुक्त साधक अत्यंत दुःखानुभूति का अनुभव करता है। वह शारीरिक कष्ट सहता हुआ केवल नामस्मरण को ~~किया को ही~~ आधार मान लेता है। "मांउ अधार रहड —

---

१. गुरु बिनु मन्त्र न पावे कोई, केतिको ज्ञानी, ध्यानी होई —

—नूर मुहम्मद—अनुराग बाँसुरी, पृ० १२०

घर सांसा' द्वारा नाम भक्ति पर विशेष रूप से बल दिया है ।[१] इसके अतिरिक्त भी गुरु की कृपा आवश्यक है अन्यथा साधक चाहे लाख जोगियों और साधकों का रूप धारण करके सिद्धि प्राप्त करने की चेष्टा करे, सब निष्फल हो जाती है । "गुरु के वचनों का आंख में अंजन ~~की तरह~~ लगाकर , हृदय रूपी दर्पन परिमार्जित करके माया या ममता को भस्म करने के पश्चात् ही परम रूप का दर्शन सम्भव है ।"[२] अली-मुराद ने तो गुरु सम्मान में तोहि निहारों ' कह कर गुरु को ईश्वर के समकक्ष स्वीकार कर लिया है । एकाग्रचित्त द्वारा किया गया चिन्तन अधिक प्रभावशाली होता है । निरन्तर जप साधना द्वारा साधक अनहद ध्वनि का श्रवण करने योग्य हो जाता है । यह नाम जप की क्रिया ज्यों-ज्यों गहराई से साधक के हृदय में प्रविष्ट होने लगती है त्यों-त्यों उसका चित्त स्थिर हो जाता है और अन्त में वह स्वयं साध्य और साधक दोनों गतियों को प्राप्त कर लेता है ।

इस प्रकार सूफी साधक जहां प्रेमकी एकनिष्ठता, हृदय की शुद्धि तथा ब्रह्म में अलौकिक रूप अथवा उसके नूर या तेज का उपासक है वहीं वह विभिन्न प्रकार के कर्मकाण्डों पर भी विश्वास करता है । भक्ति के विविध उपकरणों में गुरु-ज्ञान, योग, जप, मन्त्रादि के प्रति भी उसकी विशेष रुचि है । इस अतिरिक्त ब्रह्म के प्रति प्रेम को संचित करने के लिये ज़िक्र, फिक्र, नमाज, जकात, रोजा, तिल-वत आदि क्रियाओं पर भी निष्ठा पूर्वक आचरण करता है ।

निष्कर्ष —

मान्यताएं युगानुरूप बनती बिगड़ती रहती हैं । प्राय: उनमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता । कुछ जुड़ जाता है, कुछ का परित्याग कर दिया जाता है । यही बात भक्ति तथा ज्ञान के क्षेत्र में भी दिखाई देती है । वेद, उप-निषद् , आदि में ज्ञान की पराकाष्ठा के दर्शन होते हैं । गीता में भी इसी की पुष्टि की गई है ।[३] संसार को असार मानकर चलने की प्रक्रिया इन दार्शनिकों में

---

१. ~~कुसमान~~ उसमान— चित्रावली, पृ० ५६

२. गुरु बचन मधु अंजन देहू, हिया मुकुर मांजन करि लेहू
माया जारि भसम कै डारौ, परमरूप मुतिबिम्ब निहारौ ।—उसमान-चित्रावली, पृ०६१

३. तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय: ।। —गीता ७।१७, पृ० २५१

बड़ी तीव्र थी । इसी परम्परा की अन्तिम कड़ी के रूप में हमारे समक्ष शंकराचार्य आते हैं । ज्ञान, तथा माया, जीव, जगत की अनित्यता के ऊहापोह में ही ये चिन्तक लगे रहे । जो समक्ष था उसे असत्य कहा और जो अदृष्ट था , अचिन्त्य था तथा इन्द्रियगम्य नहीं था उसे सत्य कहा । भाव-जगत की स्थिति में तो यह मान्यता स्वीकार की जा सकती थी किन्तु इसका व्यावहारिक पक्ष उतना सबल न हो सका कि साधारण जन-समाज इसे स्वीकार कर पाता । प्रयास करने पर भी वह जीव-जगत् , माया तथा ब्रह्म के वाद-विवाद में उलझ कर रह गया । परिणामस्वरूप योग-मार्ग का अभ्युदय हुआ । इसमें संसार के विरक्ति के साथ संयम, अनुशासन, शमन एवं नियमन आदि का विस्तार हुआ । किन्तु ये नियम भी इतने कठिन थे कि इनका निर्वाह भी पूर्ण रूप से न हो सका । धीरे-धीरे इनमें विकार आते गये तथा योग के साथ भोग की प्रवृत्ति अधिक तीव्र होने लगी । यह शाक्तों एवं शैवों द्वारा अपनायी गई प्रणाली थी । इनका विश्वास था कि निवृत्ति के लिए यदि विवृत्ति को स्वीकार करना पड़े तो कोई हानि नहीं है । इस प्रकार इनकी विवृत्ति इस हद तक पहुंची कि उसका विषय " श्रीसुन्दरी साधन तत्पराणां योगश्च भोगश्चकरस्य एव", ही बन गया । किन्तु आश्चर्य की बात यह थी कि इस मार्ग के अनुयायियों ने कभी यह अनुभव नहीं किया कि ये मन के सहज विकार मात्र हैं । इनके परिष्कार की ओर उनका कभी ध्यान नहीं गया । परिणामस्वरूप विषमतायें बढ़ती गईं , साधना के अन्तर्गत विकार आते गये और अन्त में योग तो नहीं पर सच्चे अर्थों में भोग-लिप्सा के निम्नतम स्तर तक इनकी "साधना" का पतन हुआ ।

सहज संवेदना मन की स्वाभाविक प्रक्रिया थी । वह कभी ज्ञान के रूप में कभी योग और भोग के रूप में तथा कभी भक्ति के रूप में प्रकट होती थी । ज्ञान

---

१. उदारा : सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्
आस्थित: स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।

— गीता ७।१८, पृ० २५१

की प्रतिक्रिया में योग और योग की प्रतिक्रिया में भोग का विस्तार देखने को मिला, किन्तु पूर्णता किसी में भी नहीं थी। किसी में एक का विस्तार हुआ किसी में दूसरे का। कोई मार्ग इतना सहृदय न था कि ज्ञान, योग तथा भोग इन सभी प्रक्रियाओं को अपने में समेट लेता।

परिणामस्वरूप भक्ति मार्ग का उदय हुआ। जिसमें इतनी विलक्षण शक्ति थी कि उसमें इन सभी को स्वीकार करते हुए इनका परिष्कृत रूप जन साधारण के समक्ष प्रस्तुत किया। भक्तिमार्गी साधक ने निषेध के स्थान पर स्थानान्तरण की प्रक्रिया अपनायी। संसार के प्रति मोह स्वाभाविक था। उसमें मोह को तो स्वीकार कर लिया किन्तु यह मोह संसार के प्रति न होकर ईश्वर के प्रति अनुरक्ति के रूप में तथा विरक्ति संसार के प्रति, ग्रहण करने की बात कही। इस प्रकार भक्ति मार्ग की यह अद्भुत विशेषता थी कि उसमें सब कुछ स्वीकार करते हुए भी किसी प्रकार के विकार को अपनी साधना में स्थान नहीं दिया। उसमें विचारों को स्वीकृति दी किन्तु उनका परिष्करण करने के पश्चात्। यही कारण है कि भक्ति-मार्ग इतना सर्वग्राह्य एवं सर्वप्रिय हो सका। ज्ञान-मार्ग की समस्त दार्शनिक विधाओं को उसने स्वीकार किया और यहाँ तक कहा कि भक्ति से भी ज्ञान श्रेष्ठ है किन्तु भक्ति इसलिए आवश्यक है कि बिना भक्ति के ज्ञान हो ही नहीं सकता। अतएव भक्ति आन्दोलन ज्ञान के विरोध में नहीं वरन् ज्ञान और योग की पूर्ति के रूप में उद्भूत हुआ। कर्मकाण्डों के अभावों की पूर्ति ज्ञान द्वारा हुई। ज्ञान का चरम उत्कर्ष मोक्ष में होता है। ज्ञान भी स्वत: में पूर्ण नहीं था, क्योंकि मनुष्य में केवल बुद्धि ही नहीं संवेदना भी है। अतएव भक्ति-मार्ग ही सर्वमान्य हुआ उसमें वह सभी कुछ था जो अब तक स्वीकार किया जा चुका था और उससे भी अधिक उसकी अपनी कुछ विशेषताएं थीं जिसके कारण वह स्वत: परिपूर्ण बन सका।

इस मार्ग की कुछ विशिष्टतायें थीं। भक्ति का स्वरूप निर्धारित करने में भक्ति मार्गियों ने उसी पूर्व परम्परा का अनुसरण किया है जो श्रीमद्भागवत्, शाण्डिल्य तथा नारद की भक्ति का स्वरूप था किन्तु समय-समय पर इनके स्वरूपों तथा मान्यताओं में परिवर्तन होते रहे हैं। नवधा भक्ति का जो स्वरूप भागवत में मिलता है वही भक्तिकालीन आचार्यों एवं भक्त कवियों में भी है। भक्ति के नौ

अंग माने गये हैं । इनमें कभी किसी ने एक अंग को प्रमुखता प्रदान की कभी दूसरे ने किसी अन्य अंग को स्वीकार किया है । किन्तु यह एक विशेष बात है कि नाम-भक्ति को एकस्वर से सभी आचार्यों द्वारा स्वीकृति मिली है । इसका एक कारण हो सकता है । इससे पूर्व भी इस ओर संकेत किया जा चुका है कि भक्ति के परिप्रेक्ष्य में चार प्रमुख तत्वों को स्वीकार किया गया है जो कि क्रमशः अपनी स्थिति के अनुसार नाम, रूप, लीला, धाम के रूप में आते हैं । इसमें सर्वप्रथम ब्रह्म के नामको स्वीकृति मिली है । क्योंकि सगुणमार्गी-निर्गुणमार्गी सभी संत एवं भक्त कवियों ने इसकी स्थिति स्वीकार की है । उनकी सम्पूर्ण साधना का एक प्रकार से नाम ही आधार रहा है । अपनी चिन्तन प्रणाली में नाम द्वाराही उन्होंने ब्रह्म की स्थिति को माना है । इसके अतिरिक्त भी मन की वृत्ति को केन्द्रीभूत करने के लिए यह नितान्त आवश्यक था कि कोई ऐसा आधार हो जिस पर मन टिक सके और सांसारिकता से दूर हट सके, अन्यथा निराधार मन भटकने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकता था ।

रूप को स्वीकार नहीं किया जा सकता था क्योंकि "मैं काजानो राम को मैना कभी न दीठ" । इस लिए उसके साथ चरित, लीला, अथवा धाम का प्रश्न उठाना निरर्थक था । किन्तु नाम तो दिया ही जा सकता था जो कि निर्गुणमार्गी कवियों ने किया । जैसा कि लिखा जा चुका है कि इस नामकरण की प्रक्रिया में सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ातथा कुछ विशेष साधकों एवं स्थान विशेष का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । किन्तु यहीं आकर सगुण तथा निर्गुण मार्गी कवियों में विशेष अन्तर हो जाता है । सगुण मार्गियों का यह कथन है कि जिसका कोई रूप नहीं उसका नाम भी क्या हो सकता है । नाम और रूप का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है और नाम को रूप विहीन स्वीकार करने के पक्ष में ये भक्त कवि नहीं हैं ।[१] इसके समाधान

---

[१] तुलसी ने कबीर के अलख की निंदा स्थान स्थान पर की है —

हम लखि लखहि हमार, लखि, हम हमार के बीच
तुलसी अलखहिं का लखहिं, राम नाम जपु नीच ।

क्योंकि तुलसी का तो दृढ़ विश्वास था कि —
अगुन अरूप अलख अज जोई
भगति प्रेम-बस सगुन सो होई ।

में संत अथवा निर्गुण भक्त कवियों ने नाम को एक प्रतीक रूप में स्वीकार करने की बात कही है।[१] उनका कथन है कि जो ब्रह्म-वादी नामउनके साहित्य में आये हैं उनका वह महत्व नहीं है जो महत्व तुलसी या सूर के राम-कृष्ण नाम कहने से प्रकट होता है। अपने उस परमतत्व को अवतारी राम या कृष्ण से अलग बताने के लिये ही कबीर ने कहा था -

" न दसरथ घरि औतरि आवा, न लंका का राव सतावा।
देवै कूख न औतरि आवा, न जसवै लै गोद खिलावा।।[२]

कबीर ने निर्गुण राम को जपने का उपदेश दिया है और बार-बार इस बात को दोहराया है क्योंकि किसी को यह शंका न हो कि वे दाशरथि राम के उपासक थे इसीलिए उन्होंने बार-बार निर्गुण राम का उल्लेख किया है।

इसके अतिरिक्त भक्त कवियों ने भक्ति के उपर्युक्त नौ साधनों को भी स्वीकार किया है। स्वीकार करने के साथ ही साथ उसे जन-जीवन में सहज रूप में ढालने का प्रयास भी किया है। उनकी भक्ति के उपकरण अथवा साधन केवल सिद्धान्त बन कर ही नहीं रह गए। यही इनकी भक्ति का व्यावहारिक पक्ष था जो कुछ भी कहते थे उसे कार्यरूप में परिणत करने में भी इनका विश्वास था। इसका एक कारण

---

१. (अ) To a great extent we are forced to use illustrations and similies, in the hope of conveying a correct impression of something, which is in its reality undefinable.

Arther.W. Hopkinson - Mysticism; Old and New page 27.

(क) संत कवियों का भगवान् सद् सद्विलक्षण, सगुण-निर्गुण तथा वाणी व्यापार की सीमा से परे हैं। यद्यपि वहाँ बैना की गति नहीं है, तथापि उसकी ओर संकेत करने के लिए सगुण भक्ति परम्परा में प्रयुक्त होने वाले कुछ नामों का प्रयोग किया गया है। ये नाम पूर्णतः सांकेतिक हैं। उनसे भगवान् के स्वरूप का ठीक ठीक परिचय नहीं मिल सकता, पर बिना उसके प्रयोग के दूसरा उपाय है भी नहीं। — हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा में भक्ति
डा० श्यामसुन्दर शुक्ल, पृ० २६८

और भी था । साधनात्मक विकास की प्रक्रिया पर ध्यान देने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि भक्ति के निरन्तर विकास में श्रद्धा, आस्था एवं निष्ठा को अधिक से अधिक प्रश्रय मिलता गया । जिसके परिणामस्वरूप वह शास्त्रों तक ही सीमित न रह कर जन जीवन के अधिक निकट आ सकी । उसका स्वरूप सर्वग्राह्य बनाने का श्रेय इन भक्त एवं संत कवियों को ही दिया जा सकता है ।

वैष्णव भक्ति साधना में कीर्तन, स्मरण तथा श्रवण को विशिष्ट स्थान दिया गया ।[१] शास्त्रों द्वारा निर्धारित नवधा भक्ति के विविध रूपों में से ही ये कुछ रूप भी थे । भगवान् के प्रति श्रद्धा, प्रीति एवं आत्मसमर्पण की भावना का उद्रेक साधक इन्हीं साधनों के द्वारा कर सका । किन्तु इस नवधा भक्ति के स्वरूप को स्वीकार करने वालों की भी क्रमशः दो कोटियां निर्धारित की जा सकती हैं — एक तो सगुण मार्गी कवियों की भक्ति दूसरी निर्गुणमार्गी संतों की भक्ति । भक्त कवियों ने उसी के द्वारा मुक्ति की कामना की[२] किन्तु संतों ने नवधा भक्ति को साधना रूप में स्वीकार नहीं किया । साधन रूप में उसे अवश्य ही स्वीकार किया है । उनका विश्वास है कि जिन साधनों द्वारा आराध्य प्राप्त हो जाय अथवा मन उस गहराई की स्थिति तक पहुंच गया जहां इन साधनों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती तो इनके अभ्यास से कोई लाभ नहीं है । दादू ने एक स्थल पर कहा भी है—

> ब्रह्म भगति जब ऊपजै , माया भगति बिलाय
> दादू निर्मल मन भया, ज्यूं रवि तिमिर नसाय[२]।

यह निश्चित है कि संतों की साधना भी भक्तिमूलक है तथा उनके आराध्य भी वही भगवान् हैं जो भक्तों के शरणागतवत्सल राम अथवा कृष्ण हैं ।

---

१. प्रथम भगति संतन कर संगा, दूसरि रति मम कथा प्रसंगा
गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान
चौथि भगति मम गुनगन करइ कपट तजिगान
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा । पंचम भजनु सो बेद प्रकासा । —तुलसी-रामच०

२. दादूदयाल की बानी, पृ० ४३

किन्तु इससे यह निश्चय नहीं कर लेना चाहिए कि ये संत कवि भी शुद्ध रूप में सगुण ब्रह्म के उपासक थे । यह उनकी सारग्राही एवं सामंजस्यवादी प्रवृत्ति थी जिसके परिणामस्वरूप उनकी मान्यताओं में वह सभी कुछ समाविष्ट हो गयाथा जो उस समय के समाज में, प्रचलित था । उन्होंने यह सिद्ध करने की सर्वत्र चेष्टा की है कि ब्रह्म समस्त जगत का मूलकारण होकर भी इन सबसे परे है, अलिप्त है, अमूर्त है तथा निर्गुण है । इसी मान्यता के कारण उसके विचित्र नामों की ओर बार-बार संकेत करना पड़ा जो उसके अभिव्यक्तीकरण के साधनमात्र स्वीकार किए जा सकते हैं ।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि भक्ति के आचार्यों और मनीषियों ने उपासना और उसकी साधना में जिन तत्वों का आकलन किया है वे शास्त्र से उद्भूत होकर एक विशिष्ट चिन्ता धारा का निर्माण कर सके हैं । किन्तु उन्हें जीवन में किस प्रकार से आचरित किया जा सकता है तथा उन विशिष्ट तत्वों का समावेश जीवन के आध्यात्मिक क्षेत्र में किस भाँति उतारा जा सकता है इसकी भी बहुत बड़ी आवश्यकता थी अतः शास्त्र सम्मत सिद्धान्तों को जीवन के व्यावहारिक पक्ष में किस प्रकार आचार और व्यवहार का रूप दिया जा सकता है इसकी ओर भी संतों की दृष्टि रही है । यहाँ यह दृष्टव्य है कि शास्त्रीयपद्धति किसीप्रकार भी विदूषित न हो, साथ ही उसकी उपयोगिता जीवन के कार्य-कलापों में सम्पूर्ण रूप से व्यवहृत हो सके । इस प्रकार मस्तिष्क और हृदय का सामंजस्य संतों की विशेष देन भक्ति-क्षेत्र में रही है । इस भक्ति का आश्रय प्रतीक रूप से 'नाम' के अन्तर्गत ही आ जाता है इसीलिए कर्मक्षेत्र में 'नाम' की संख्या विपुल हो गई है । उस भक्ति को नाम के किस विशिष्ट रूप से सम्बद्ध किया जा सकता है उसके लिए नाना प्रकार के नामों की सृष्टि भक्ति-क्षेत्र में सम्भव हुई और इस भाँति 'नाम' ने उस समस्त शास्त्रीय पद्धति का प्रतिनिधित्व किया जो कि आचार्यों के द्वारा प्रवर्तित की गई थी ।

चतुर्थ अध्याय

निर्गुण भक्ति-काव्य में नाम-साधना का विवेचन

कबीर की सम-सामयिक परिस्थितियां

कबीर का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ, जब हिन्दू एवं मुस्लिम विचार-धाराएं उग्र रूप धारण कर चुकी थीं। यही नहीं, इनके अतिरिक्त भी अनेकानेक छोटे-बड़े सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे। उनकी धर्म सम्बन्धी अपनी पृथक्-पृथक् मान्यताएं बनने लगी थीं। एकता अथवा समता का कहीं नाम-निशान तक न था। विभिन्न प्रकार के देवी-देवताओं की पूजा-उपासना प्रारम्भ हो चुकी थी। प्राय: लोग एक दूसरे के मत-मतान्तरों का खण्डन-मण्डन करने में ही सुख का अनुभव कर रहे थे। उस समय प्रमुख रूप से दो विचारधाराएं प्रचलित थीं, हिन्दू विचारधारा तथा मुस्लिम विचारधारा। किन्तु दोनों में भी शाखायें-प्रशाखायें हो चली थीं। थोड़े से सिद्धान्तों के हेर-फेर के साथ कई मतों की स्थापना हो चुकी थी। धर्म ही नहीं समाज एवं राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में इसी प्रकार की उथल-पुथल मची थी। तत्कालीन राजनीति से प्रभावित होकर भी इन परिस्थितियों को और अधिक उलझने का अवसर मिला। डा० रामजीलाल सहायक ने अपने 'कबीर दर्शन' नामक ग्रन्थ में लिखा है -' यह समय विषमता, नैराश्य, विश्वासघात, नृशंस नरसंहार, रक्तपात, आक्रमण तथा विध्वंस का था। समाज में कुत्सित विचारों, बाह्या-डम्बरों का प्राधान्य था। धर्म के ठेकेदार धर्म की आड़ में भांति-भांति के अनाचार करते थे। आर्थिक संकट से समान्य जनता की रीढ़ ही टूट गई थी। बहुसंख्यक मत-मतान्तरों के प्रचलन ने सच्ची मानवता को पीछे ढकेल दिया था।'[१]

ऐसे ही समय में कबीर ने एक नवीन युग का प्रवर्तन किया। तत्कालीन राज-नीति एवं समाज के प्रति यह एक प्रकार की क्रान्ति थी, किन्तु यह क्रान्ति-भावना घृणा, द्वेष और राग से परे-प्रचलित विचारधाराओं से संभूत रूढ़ियों से मुक्त अहिंसक क्रान्ति-भावना थी। कबीर ने एक ऐसे धर्म की प्रतिष्ठा की जो न मन्दिर में प्राप्य था और न जिसका मस्जिद से ही कोई सम्बन्ध था। किसी धर्म-

---

१. कबीर दर्शन - डा० रामजी लाल सहायक, पृ० ४६

विशेष की सीमा को भी उसने नहीं स्वीकार किया । हिन्दू-मुस्लिम की भावना से परे उन्होंने संत-मत की स्थापना की, जिसकी सहज ग्राह्यता ने शीघ्र ही सर्व-साधारण को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया । समाज में व्याप्त भेद-भाव, जाति-पाँति के बंधन एवं वर्णभेद सभी का खण्डन करके उन्होंने एक नवीन धर्म की स्थापना की जहाँ सभी को समान रूप से अपने धर्म का निर्वाह की स्वतन्त्रता थी । इसके अतिरिक्त सबको भगवद्भक्ति का समान अधिकार प्राप्त था । कबीर का धर्म आचरण-प्रधान था । वह आचरण की शुद्धता पर ही अधिक बल देता था । वहाँ बाह्याडम्बरों के लिए किंचित् मात्र भी स्थान नहीं था । कबीर ने तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रख कर ही साधना के सरल एवं जन-सुलभ रूप का प्रचार किया जिसके लिए यह भी आवश्यक था कि तत्कालीन जनता की मनोवृत्ति का परिचय प्राप्त हो । कबीर को इस क्षेत्र में सफलता मिली तथा उन्होंने उस समय प्रचलित ब्रह्म के सगुण-निर्गुण रूप से कुछ अलग ही निराले ब्रह्म की परिकल्पना की जिससे 'मन वाणी से अगम, अगोचर' होते हुये भी कुछ प्रतीकों के द्वारा सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता था । प्रतीकों के अतिरिक्त कबीर ने उसे 'नाम' के द्वारा स्मरण किया है । उस समय प्रचलित जटिल साधनाओं को दृष्टि में रखते हुए ही कबीर ने इस सरल मार्ग की उपलब्धि की जिसमें किसी प्रकार की कठिनाई की सम्भावना ही न थी ।

मध्यकालीन सम्पूर्ण साधना धर्म-साधना थी । परिणामस्वरूप इस काल में जो साहित्य रचा गया वह भी धर्म अथवा भक्ति के किसी न किसी पक्ष को लेकर ही रचा गया । किन्तु प्राचीन काल से चली आयी धर्म एवं दर्शन सम्बन्धी मान्यताओं से इसका स्वरूप भिन्न था । तत्कालीन साहित्य जन समाज का साहित्य था । किन्तु परिस्थितियाँ उतनी अनुकूल न थीं कि शान्त वातावरण में रह कर साहित्य-साधना की जा सके । राजनीतिक एवं सामाजिक अस्थिरता के कारण साधना का भी कोई विशेष रूप नहीं निश्चित हो पा रहा था । इस अव्यवस्था के कारण कवियों में एक प्रकार की क्रान्ति की भावना का जागरण सर्वत्र मिलता है । प्रमुख रूप से संत कवियों में इसकी चरम स्थिति देखने को मिलती है । सम्भवत: यही कारण था कि कबीर ने प्राय: दीर्घकाल से प्रचलित धार्मिक अंध-विश्वासों एवं सामाजिक रूढ़ियों का कठोर शब्दों में विरोध किया ।

कबीर द्वारा ब्रह्म-निरूपण की विशेषता —

जैसा कि पहले ही लिखा जा चुका है विभिन्न देवी-देवताओं की मान्यता के फलस्वरूप समाज कई विभागों में विभक्त हो गया था । धर्म एवं समाज की इसी विषम परिस्थिति ने विभिन्न वादों-प्रवादों को उद्भुत कर रक्खा था । सगुण-निर्गुण ब्रह्म के नाम-रूप-गुणादि को लेकर भी प्राय: वादों की स्थापना होने लगी थी । उस समय मुख्य रूप से ब्रह्म के दो रूपों की परिकल्पना हो चुकी थी । प्रथम तो ब्रह्म का सगुण, साकार रूप जो कि नाम-रूप-गुण से सम्बन्ध रखता था तथा दूसरा रूप ब्रह्म का वह था जो कि अद्वैत वादियों द्वारा प्रतिपादित किया गया था— जिसका न कोई रूप था न नाम और न ही गुण की कोई कल्पना थी । ब्रह्म के इस रूप को मानने वाले निर्गुण भक्त कहलाये । यह ब्रह्म का वह रूप था जो निर्गुण, निर्विशेष, निराकार तथा केवल ज्ञान का विषय था । अगम-अगोचर होने तथा अनुभवगम्य न होने के कारण उसके साथ किसी प्रकार का बंधन नहीं था । इन्द्रियों से परे होने के कारण वह केवल बुद्धि का ही विषय था । यही कारण है कि वह ~~दुरूहपूर्ण~~ अग्राह्य प्रतीत होता था । साधारण साधक की पहुंच से परे था । कबीर के शब्दों में केवल उसके तेज का ही अनुमान किया जा सकता था । निर्गुण ब्रह्म की इसी ~~दुरूहता~~ अग्राह्यता को ध्यान में रख कर कबीर ने उसे 'नाम' की परिधि में बाँधने की चेष्टा की थी । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मध्यकालीन समस्त साधना को 'नाम-साधना' कह कर इस मत की पुष्टि की है । 'जो भगवान् अचिन्त्य है उसका कोई नाम-रूप नहीं होता । ज्ञानी लोग उसे आत्मा या ब्रह्म जैसे एक ही नाम से समझा सकते हैं क्योंकि उनके मत में मनुष्य की आत्मा परब्रह्म से अभिन्न है । परन्तु ऐसे परमात्मा का नाम भी क्या और रूप भी क्या ? कुछ ऐसे ही भाव को बताने के लिए मौजी कबीर ने कहा था — " उसका नाम कहन को नाहीं दूजा धोखा होय ।" नाम रूप की अपेक्षा रखता है । जिस वस्तु का रूप नहीं होता उसका नाम भी नहीं होता । परन्तु मध्ययुग के भक्तों में भगवान के नाम का माहात्म्य बहुत अधिक है । मध्ययुग की समस्त धर्म-साधना को नाम-साधना कहा जा सकता है । चाहे सगुण मार्ग के भक्त हों चाहे निर्गुण मार्ग के , नाम-जप के सम्बन्ध में किसी को कोई संदेह नहीं है ।" [१]

---

१. मध्यकालीन धर्म साधना - डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १३

(क) सगुण-निर्गुण से परे ब्रह्म की स्थिति —

कबीर के ब्रह्म-निरूपण की दृष्टि अन्य भक्तिकालीन कवियों की अपेक्षा कुछ भिन्न थी। उनका ब्रह्म नाम रूपात्मक जगत से परे एक अव्यक्त एवं निर्गुण परम-सत्य का बोध कराता है। यही कारण है कि कबीर का ब्रह्म सगुण-निर्गुण की भावना से परे एक विशिष्ट रूप, आकृति एवं नाम का बोधक है। कबीर के ब्रह्म को इन बंधनों में बांधना कठिन है, वह इसे सर्वथा मुक्त रखते हैं किन्तु कहीं-कहीं उसमें व्यावहारिकता लाने के हेतु तथा जन साधारण के उसे समझने के लिए कबीर ने 'नाम' का सहारा लिया है। यहीं पर हमें कबीर के साहित्य में तत्कालीन प्रचलित मतों, वेदों, उपनिषदों एवं गीता का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। कबीर तत्कालीन प्रचलित ब्रह्म के रूप-निरूपण की शैली से सर्वथा वंचित न रह सके। यही कारण है कि उनका ब्रह्म सगुण भी है और निर्गुण भी और उससे परे अखण्ड-सत्ता-स्वरूप भी। यद्यपि कबीर ने ब्रह्म के सगुण-निर्गुण दोनों रूपों की व्याख्या की है किन्तु राम के निराकार स्वरूप पर अधिक बल दिया है और कहा है :—

निरगुन राम निरगुन राम जपहु रे भाई,
अविगति की गति लखि न जाई।[1]

यद्यपि कबीर ने निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना पर अधिक बल दिया है, क्योंकि उन्हें वैष्णव मत के अवतारी राम ने तनिक भी प्रभावित नहीं किया।[2] तथापि इसके अनन्तर भी कबीर ने अपनी अनुभूति के अनुसार भक्ति क्षेत्र में निर्गुण ब्रह्म में दिव्य गुणों का आरोप करके उसे सगुणत्व प्रदान किया है तथा अपने ब्रह्म को अजर-अमर, अलख, अकथ, अवर्ण, सर्वव्यापी, अनन्त एवं सर्वोपरि माना है। इस स्थिति पर पहुंच कर कबीर का ब्रह्म किसी भी प्रकार के बंधन को नहीं स्वीकार करता। वह समस्त सृष्टि एवं दृष्टि से इतर किसी भी सीमा में है भी और नहीं भी है। वह विश्व का आधार होते हुए भी अरूप है, अविनाशी एवं आनन्द-स्वरूप

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०८
२. दसरथ सुत कहुं और बखाना
राम नाम का मरम है आना।

है । उसका अनुभव करना अत्यन्त ही कठिन है क्योंकि —

बायें न दाहिनें आगे न पीछू
अरध न उरध रूप नहीं कीछू ।[1]

इसके अतिरिक्त भी —

अरचित अवगति है निरधारा
जाण्यां जाइ न वारा पारा ।[2]

वह गूंगे के गुड़ की भांति केवल अनुभव की वस्तु है । कहने में तो धोखा हो सकता है क्योंकि उसे शब्दों की सीमा में नहीं बांधा जा सकता और न तो उसे 'ऐसा है' 'वैसा है' के द्वारा ही स्पष्ट किया जा सकता है । उसकी समकक्षता में भी कोई नहीं है जिसका दृष्टान्त देकर उसे स्पष्ट किया जा सके । यदि उसके आकार का वर्णन करना चाहें तो वह निराकार लगता है । जन्म - मृत्यु के बंधन से मुक्त वह अविनाशी है और अन्त में कबीर को कहना ही पड़ता है कि उनके राम —

ल, बहु बिचारि करि देखिया, कोई न सारिख राम ।[3]

और भी —

यो है तैसा यो ही जानै, ओही आहि-आहि नहीं आनै ।[4]

अर्थात् कबीर के ब्रह्म की स्थिति साकार-निराकार से परे कुछ और ही है —जो है भी और नहीं भी । सगुण होते हुए भी वह निर्गुण है । उसकी स्थिति सर्वत्र अखण्ड है । सत्-चित्-आनन्द स्वरूप होने के कारण उसमें बिकार का समावेश होना असम्भव है । कबीर का ब्रह्म घट-घट में व्याप्त है उसे मंदिर-मस्जिद की परिधि में बांधना कठिन है ।[5]

---

१. क०ग्रं०, पृ० २४२
२. क०ग्रं०, पृ० २४८
३. क०ग्रं०, पृ० २४१
४. क०ग्रं०, पृ० २४२
५. खालिक खलक खलक मैं खालिक सब घट रह्या रमाई ।
— क०ग्रं० — पृष्ठ १०४

कबीर ने अनेक स्थलों पर शब्द-ब्रह्म की साधना की बात कही है[1]। इतना ही नहीं उसे दृष्ट, अनदृष्ट, ओंकार तथा समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का कारण बताया है। तत्व-नि:तत्व तथा आकार एवं निराकार सभी कबीर की 'शब्द' की सीमा के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसी शब्द ब्रह्म की साधना पर कबीर ने बल दिया है।[2]

पहले ही कहा जा चुका है कि कबीर का ब्रह्म रूप-अरूप से परे है अर्थात् अनिर्वचनीय है। वह एक ऐसा तत्व है जो समस्त बंधनों से मुक्त है – इन्द्रिय गम्य कदापि नहीं है। और न तो उसका वर्णन इन्द्रियों द्वारा हो सकता है। वह केवल समझने की वस्तु है, उसके विषय में कुछ भी कह सकना असम्भव है। कुछ कहना एक प्रकार से उसके महत्व को कम करना है। वह ऐसा तत्व है:—

जाके मुँह माथा नहीं नाहीं रूप अरूप
पुहुप बास थैं पातरा ऐसा तत्त अनूँप।[3]

फिर उसे बताया भी कैसे जाय? ऐसा ही कबीर का अनिर्वचनीय ब्रह्म है जिसकी सत्ता उन्होंने ब्रह्म के किसी भी रूप से परे मानी है। वह परात्पर ब्रह्म है।

राम-नाम की स्वीकृति और उसकी अभिव्यक्ति में प्रतीकों का आश्रय :—

भक्ति-भावना तथा व्यावहारिक दृष्टि से कबीर ने अपने ब्रह्म में अनेक विशिष्ट गुणों का आरोप भी किया। सम्भवत: तत्कालीन समाज को ब्रह्म की अद्वैत सत्ता के समझने की कठिनाई का अनुभव करके ही उन्होंने ऐसा किया। अपने निर्गुण ब्रह्म को सगुणत्व की भावभूमि पर उतार कर उसे 'राम' नाम द्वारा सम्बोधित किया। परिस्थितियों को देखते हुये ब्रह्म में कुछ विशिष्ट गुणों का होना आवश्यक था ताकि वह भक्तों को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। फलस्वरूप कबीर ने अपने

---

1. ऐसा ध्यान धरौ नरहरी। सबद अनाहद च्यंत न करी। —क०ग्रं०, पृ०१६८
2. साधो शब्द साधना कीजै
   जाहु शब्द ते प्रगट भये सब शब्द सोई गहि लीजै। —क०ग्रन्थावली, पृ० १११
3. क०ग्रं०, पृ० ६०

अपने आराध्य में नाना प्रकार के दिव्य गुणों की कल्पना की । यद्यपि भक्ति-कालीन सगुण मार्गी कवियों ने ब्रह्म के नाम-रूप-लीला-धाम इन चारों तत्वों की स्थिति को स्वीकार किया है, किन्तु कबीर ने इसमें से नाम को ही स्वीकार किया है तथा राम-नाम की साधना करते हुए नाम द्वारा ब्रह्म का बोध कराया है--

सत्त नाम है सबसे न्यारा । निर्गुण सगुण शब्द पसारा ।
निर्गुण बीज सगुण फल फूला । साखा ज्ञान नाम है मूला[१]।

कबीर ने ब्रह्म के सगुण रूप को निर्गुण की व्यावहारिक सत्ता माना है तथा दोनों की एकता पर बल दिया है और इन दोनों के परिचय के लिये नाम का आश्रय लिया है । कबीर में ब्रह्म के अनेकों नामों का प्रयोग मिलता है किन्तु राम-नाम की श्रेष्ठता पर उन्होंने विशेष रूप से बल देते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है --

राम-नाम सूं दिल मिली जन हम पड़ी विराइ ।
मोहिं भरोसा इष्ट का बंदा नरक न जाइ ।[२]

तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए मन की चंचलता का निराकरण किसी कठिन धर्म-साधना से सम्भव न था ।[३] यह आवश्यक था कि ब्रह्म की अनुभूति के लिए कोई ऐसा साधन हो जो जन सुलभ हो - अतएव कबीर ने नाम का आश्रय ग्रहण कर भक्ति-भावना को जाग्रत करने की चेष्टा की । कबीर का स्वयं का अनुभव भी था :--

कबिरा माता नाम का मद मतवाला नाहिं
नाम पियाला जो पिये सो मतवाला नाहिं ।[४]

---

१. कबीर-वाणी, कबीर, पृ० २७६

२. क०ग्रं०- सभा, पृ० ४६।११

३. " इहि चंचल मन के अधम काम ,
कह कबीर भज राम नाम ।" क०ग्रं०- डा० पारसनाथ तिवारी, पृ० ११५।१६८

४. क०ग्रं०-- डा० पारसनाथ तिवारी, पृ० १७७ साखी १२-४

यह मतवाला मन भी कुछ निराला ही है —इसी स्थिति पर पहुँच कर सम्भवत: साधक एवं आराध्य में बहुत कम दूरी रह जाती है । कबीर ने सगुण-निर्गुण की संधि 'नाम' द्वारा कराई है और इस नाम की परिकल्पना में उन्होंने जिस शब्द को प्रमुख रूप से प्रश्रय दिया वह 'राम' है । यद्यपि उस समय ब्रह्म के अनेकों नाम प्रचलित थे किन्तु कबीर के नाम सम्बन्धी पदों में राम-नाम का ही अधिकता से प्रयोग मिलता है ।

नाम के अतिरिक्त कबीर ने प्रतीकों का आश्रय भी लिया है । सम्भवत: नाम की अभिव्यक्ति के माध्यम-स्वरूप ही ये प्रतीक प्रयुक्त हुए हैं । इन्हीं प्रतीकों के सहारे कबीर ने ब्रह्म से विविध नाते जोड़े हैं — जो कभी पिता और बालक के रूप में प्रयुक्त हुआ है तथा कभी इसी सम्बन्ध को अधिक गहराई में लाने के लिए वह ब्रह्म, को राजा, स्वामी, ठाकुर आदि सम्बोधनों के द्वारा अभिव्यंजित करते हैं । जहां इससे भी काम नहीं बना वहां, वह पति और प्रेमी के रूप में अभिव्यक्त हुआ है । जहां कहीं इस प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग कबीर में हुआ है वे स्थल अत्यन्त ही मार्मिक तथा हृदय को छूने वाले हैं । प्राय: कबीर की भक्ति साधना में प्रेमी-प्रेमिका अथवा पति-पत्नी के सम्बन्धों की चर्चा अधिक मिलती हैं क्योंकि विरह में प्रेमी-भक्त प्रभु को पाने में अधिक कटिबद्ध दिखाई देता है । वास्तव में विरह की चरम स्थिति वास्तविक भक्ति की उपलब्धि है —जीवात्मा ब्रह्म से मिलने के लिये व्याकुल हो उठती है— और वह किसी न किसी सम्बन्ध द्वारा ब्रह्म से दर्शन देने के लिए प्रार्थना करती है । ये प्रतीक मूर्त एवं अमूर्त दोनों प्रकार के होते हैं । इन्हीं प्रतीकों के द्वारा कभी वह अपनी भावनाओं को आराध्य में संयुजित करती है और कभी वह जीवात्मा-परमात्मा के नातों का स्मरण दिलाती है तथा विरह में कभी कभी वह इतनी अधिक विकल हो उठती है कि परमात्मा से दूर एक पल भी रहने में वह अपने को असमर्थ पाती है । उसके वियोग में व्याकुल होकर विनय करती है —

अब मोहि लै चल ननद के वीर अपने देसा ।
इन पंचनि मिलि लूटी हूं कुसंग आहि बदेसा ।[1]

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पद १४, पृ ६२

उसके विरह में विरहिणी की स्थिति अत्यन्त ही शोचनीय हो जाती है :-

पीलक दौड़ी साइंया लोग कहैं पिंड रोग,
छानैं लंघन नित करै राम पियारे जोग ।[१]

" हे प्रभु तुम्हारे वियोग में पीड़ित होकर मेरा शरीर दिन-प्रतिदिन पीला पड़ता जाता है । सब यह कहते हैं कि इसे पीलिया हो गया है ।" यदि अब भी वह निष्ठुर अपना दर्शन नहीं देता तो मृत्यु निश्चित है ।[२] क्योंकि विरह सीमा पार कर चुकी है । इसीलिए तो वह "ननद के वीर" से मिलने के लिए व्याकुल है । कबीर का पातिव्रत भाव राम के अतिरिक्त अन्य किसी ओर जाता ही नहीं है । वे अपना सर्वस्व राम के चरणों में समर्पित करने को आतुर हैं । उनके विश्वास में अनन्यता एवं निष्ठा का भाव मिलता है । चाहे जितने भी कष्ट आयें वह सहने को प्रस्तुत हैं क्योंकि उसे भी वे हरि का अनुग्रह ही मानते हैं । कबीर की आत्मा में भगवान के प्रति अनुरक्ति है —

कबिरा रेख सिंदूर की काजर दिया न जाय।
नैन रमइया रमि रह्या दूजा कहाँ समाय ।[३]

भक्ति अथवा प्रीति की यह चरम स्थिति है जहाँ एक आराध्य के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रह जाता सर्वत्र उसी का अस्तित्व दिखाई देता है ।

इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं कबीर ने ब्रह्म एवं आत्मा का पति-पत्नी का सम्बन्ध भी स्वीकार किया है — जैसे प्रस्तुत पद में — दुलहिनी गावहु मंगलचार, हम घर आये राजा राम भरतार" कह कर प्रत्यक्ष रूप से स्वयं को पत्नी एवं "राम" को पति रूप में चित्रित किया है ।

---

१. क०ग्र०, पृ० ५१।२९।१०

२. विरहिनि उठै भी पड़ै दरस कारनि राम।
मूवाँ पीछे देहुगे सो दरस न किहि काम । —क०ग्र०- डा० पारसनाथ तिवारी, पृष्ठ ३१।१४५

३. कबीर ग्रन्थावली, डा० पारसनाथ तिवारी, १७६।११-१३

कबीर एवं ब्रह्म का सम्बन्ध मात्र प्रेमी-प्रेमिका एवं पति-पत्नी तक ही सीमित नहीं है । इसके अतिरिक्त भी उनके ब्रह्म से अनेकों नाते हैं जहां कभी तो वे ब्रह्म को हरि, ठाकुर और स्वामी आदि सम्बन्धके द्वारा स्मरण करते हैं [1] और कभी ब्रह्म को अपना पिता एवं माता के रूप में स्वीकार कर उससे अपने समस्त अपराधों की क्षमा-याचना करते हैं :-

(१) बाप राम सुनि विनती मोरी, तुम्ह सूं प्रगट लोगनि संग चोरी [2]।

(२) हरि जननी मैं बालक तोरा । काहे न अवगुन बकसहु मोरा ।[3]

निष्कर्षतः देखा जा सकता है कि कबीर ने आत्मा एवं परमात्मा के सम्बन्ध को सर्वत्र किसी न किसी प्रतीक के माध्यम से स्वीकार किया है, किन्तु इन सभी सम्बन्धों में मिलनोत्कंठा की विकलता की भावना का निरूपण कबीर की विरहिणी आत्मा द्वारा हुआ है । उसके पश्चात् कबीर द्वारा कहे गये दास्य-भाव के पदों में भी भक्ति की चरम भावना मिलती है ।

गुण की अपेक्षा तेज और तेज की अपेक्षा नाम का महत्त्व —

राम के प्रति कबीर की आसक्ति का आधार रूप नहीं था । अनुभूति तत्त्व की प्रधानता होने के कारण कबीर की भक्ति का मुख्य आधार `नाम` था । यद्यपि कबीर ने इस `नाम` के साथ कुछ विशिष्ट गुणों का समावेश भी किया किन्तु कबीर का ब्रह्म तो निर्गुण निर्विकार एवं निराकार है, न तो वह अवतार ग्रहण करता है और न ही उसका सूर के शब्दों में कोई 'रूप, रेख, गुन' ही है । कभी तो मन निरालम्ब होकर इधर-उधर भटकता है । अतएव भक्ति की स्थिरता के लिये यह आवश्यक था कि कोई न कोई आधार हो जिसका आश्रय ग्रहण कर मन को किसी विशेष केन्द्रबिन्दु पर स्थिर किया जा सके अन्यथा गन्तव्य की प्राप्ति दुर्वह थी ।

---

१. जो सुख प्रभु गोविन्द की सेवा सो सुख राज न लहिये ।। —क०ग्रं०, २६५

२. क०ग्रं०, पृ० २०७

३. क०ग्रं०, पृ० १२१

अतएव कबीर ने अपने निर्गुण ब्रह्म को सगुणात्त्व की भावभूमि पर उतारने के लिए इसमें एक विशिष्ट गुण का समावेश किया और वह था ब्रह्म का तेजमय रूप । कबीर के राम में वर्णनात्मकता का अभाव था क्योंकि उन्होंने ब्रह्म के रूप को अस्वीकार किया था –यही कबीर के राम की विशेषता थी । वह अगम-अगोचर होते हुए भी ज्योतिर्मय था ।[1] शब्दों की परिधि से परे होने के कारण उसकी शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता था । तभी तो कबीर ने कहा है –

पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान ।
कहिबे कू सोभा नहीं देख्या ही परवान ।[2]

माया जनित आकर्षणों से विरक्त मन की उन्मनी अवस्था का वर्णन करते हुए कबीर ने कहा है कि मन उन्मनी अवस्था में प्रवृत्त होकर शून्य में जा पहुंचा एवं वहां निराकार ब्रह्म के दर्शन किये । उस निराकार का सौन्दर्य अद्भुत कान्तिविकीर्ण कर रहा था । वह ऐसा ही था जैसा कि चन्द्रमा के बिना मानों चन्द्रज्योत्स्ना छिटक रही हो । अर्थात् उस अशरीरी का भी अद्भुत सौन्दर्य था ।[3] एक अन्य पद में कबीर ने कहा है कि मैंने उस ब्रह्म को दत्त चित्त होकर देखा है । उसकी सौन्दर्य-महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता । वह अमित प्रकाशवान् एवं पारस के समान है जो दूसरों को भी अपने प्रभाव से कंचन बना देता है । ऐसा अद्भुत ब्रह्म मेरे नेत्रों में समाया हुआ है ।[4] अस्तु कबीर ने ब्रह्म को सामान्य अनुभूति के धरातल पर लाने का प्रयत्न किया है ।

---

१. अगम अगोचर गमि नहिं तहां जगमगै ज्योति ।
जहां कबीरा बन्दिगी, तहां पाप पुण्य नहीं छोति । क०ग्रं०,पृ०१०।४

२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०।३

३. मन लागा उन्मन सौं गगन पहुंचा जाइ ।
देख्या चंद बिहूणां चांदिणां । तहां अलखनिरंजन राइ ।
–क०ग्रं०,पृ० १०।१५

४. कबीर देख्या एक अंग महिमा कही न जाइ ।
तेज पुंज पारस धणीं नैनूं रहा समाइ ।। क०ग्रं०,पृ० ११७

। कबीर ने अपने ब्रह्म को सामान्य अनुभूति के धरातल पर लाने के लिए दो साधन अपनाये । प्रथम तो उसके तेजमय रूप का वर्णन किया जिसमें असीम आकर्षण था और दूसरा उसे नाम के बंधन में बांधा । इस नाम की अभिव्यक्ति में उन्होंने 'राम' शब्द का प्रयोग अधिक किया है किन्तु कबीर के राम-नाम का मर्म दूसरा ही था — समाज में प्रचलित दशरथ-सुत से सर्वथा भिन्न ।

कबीर ने राम-नाम की महिमा पर बहुत बल दिया है । सम्भवत: तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए ही कबीर ने भक्ति के इस मार्ग को ग्रहण किया है । यद्यपि कबीर ने अव्यक्त ब्रह्म को ही रसानन्द रूप कहा है किन्तु उसे विभिन्न नामों से सम्बोधित भी किया है । नाम को ही उस दिव्य ज्योति का आधार माना है । कबीर ने साधक की साधना की सफलता उस चरम दिव्य ज्योति में अपने को विलीन करने में ही मानी है । उसी को प्रेम की सार्थकता भी प्रदान की है । कबीर ने राम-नाम में अद्भुत शक्ति स्वीकार की है किन्तु ऊपरी मन से जप करने पर उन्होंने कभी बल नहीं दिया । नाम-जप में तल्लीनता पर बल देते हुए श्वास की प्रत्येक - क्रिया के साथ नाम-जप का होना आवश्यक माना है । कबीर का मत है कि यदि शून्य शिखर पर राम-नाम में व्यक्ति की वृत्तियां केन्द्रित हो जायें तो जन्म और मृत्यु का बंधन छूट जाता है । अर्थात् मुक्ति मिल जाती है । नाम-महिमा का प्रतिपादन करते हुए एक दूसरे पद में कहा है कि मुझे ईश्वर नाम का वह अमूल्य धन प्राप्त हो गया है जिसे गांठ बांधकर रखने की आवश्यकता नहीं है । इसका चाहे जितना अपव्यय किया जाय वह कम न होगा । कबीर तो अपना सर्वस्व राम-नाम को ही मानते हैं तथा एकमात्र उसी की शरण में अपना जीवन निर्वाह करना चाहते हैं । नामस्मरण को ही कबीर ने अपनी भक्ति, पूजा, अर्चना सब कुछ माना है । मृत्यु के समय भी नाम स्मरण, मोक्ष प्रदान करता है । कबीर ने नाम को एक अमूल्य निधि के रूप में स्वीकार किया है जिसकी तुलना में वे अन्य सब कुछ तुच्छ मानते हैं तथा उसकी प्राप्ति में ही चरम सुख का अनुभव करते हैं ।[1]

---

१. सो धन मेरे हरि का नांउ, गांठि न बांधौं बेचि न खांउ ।
नांउ मेरे खेती नांउ मेरे बारी । भगति करौं मैं सरनि तुम्हारी ।
नांउ मेरे सेवा नांउ मेरे पूजा, तुम्ह बिन और न जानौं दूजा ।
नांउ मेरे बंधव नांउ मेरे भाई । अंत की बिरियां नांउ सहाई ।
नांउ मेरे निरधन ज्यूं निधि पाई । कहै कबीर जैसे रंक मिठाई ।
कबी० ग्रं० पृ० २०५-२३६

डा० मुंशीराम शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भक्ति का विकास' में लिखा है कि "नाम की महत्ता यही है कि वह साधक को विशिष्ट भावापन्न बनाता हुआ उसे नामी की ओर ले चले। अत: नामविशेष का महत्व भी साधना में स्वीकृत हुआ है।"[1] कबीर ने कहा भी है -

"राम नाम रंग लागो कुरंग न होई, हरि रंग सौं रंग और न कोइ[2]।"

कबीर भगवान के नाम को मुक्ति तथा अभय का प्रदाता भी मानते थे। इसके अतिरिक्त भी कबीर ने नाम का महत्व बताते हुए उसे मानसिक पवित्रता के लिए आवश्यक कहा है।[3] कहीं-कहीं कबीर ने नाम महिमा का वर्णन उपदेशात्मक रूप में भी किया है :-

कबीर नाम ध्याइ लै जिभ्या सौं करि मंत।
हरि सागर जिनि बीसरै छीलर देखि अनंत।[4]

सांसारिक आकर्षणों में पड़कर प्राय: मनुष्य भगवान को भूल जाता है। उसे यह स्मरण नहीं रह जाता कि ये सुख के क्षण अल्पकालीन हैं। संसार नश्वर है तथा उसमें प्राप्त सुख भी क्षणिक एवं नश्वर हैं। अविनाशी केवल रामका नाम है जो अथाह एवं अगम्य है। उसमें डूब जाने की आवश्यकता है। तभी सच्चे सुख की प्राप्ति सम्भव है। कबीर ने तो उस जीवन को निरर्थक कहा है जो राम-नाम का जप न करे :-

कबीर जग महि चेतिओ जानि कै जग महि रहिओ समाइ।
जिन हरि नाम न चेतिओ, बादहि जनम आइ। [5]

---

१. भक्ति का विकास- डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० ४५२
२. क०ग्रं० वही
३. अहनिसि एक नाम जो जागे। केतक सिध भये लिव लागे।
साधक सिध सकल मुनि हारे, एक नाम कलिय तर तारे।
जो हरि हरे सु होय न आना, कहि कबीर राम नाम पछाना।
४. क०ग्रं०, पृ० ६।३०
५. संत कबीर - डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २५८।१४

कबीर ने नाम-भक्ति को 'ततसार' कहकर उसके महत्व को प्रतिपादित किया है। इसी ततसार का साक्षात्कार करके मनुष्य अपने आत्मस्वरूप से परिचित हो जाता है। राम-नाम ही इस संसार सागर से तरने हेतु नौका सदृश है। इसी से आवागमन के बंधन से मुक्ति मिलती है। अनायास ही यह खल, पातकी तथा अधर्मों को तार देता है। कबीर का तो विश्वास है तथा अनुभूति द्वारा भी उन्होंने स्वीकार किया है कि 'राम-नाम' के रस की भांति मीठा और कोई भी रस नहीं है। डा० सरनाम सिंह शर्मा ने अपनी पुस्तक 'कबीर एक विवेचन' में लिखा है' साधक के रक्षा की जितनी अमोघ शक्ति राम-नाम में है उतनी और किसी में नहीं है। किन्तु कबीर राम-मन्त्र के जप से अधिक उसके ध्यान पर बल देते हैं जिससे मन राम में रम जाये। भक्ति की यह भूमिका भी बड़ी मोहक है क्योंकि कबीरको नाम के सिवा और किसी में अस्तित्व ही नहीं दिखाई देता :-

'आसति कहूं न देखिहूं बिन नांव तुम्हारे।'[1] नाम का महत्व प्राय:विभिन्न दृष्टियों से स्वीकार किया गया है। नामको दुष्कर्मों का नाश करने वाला माना गया है, कबीर ने अपनी नाम-भक्ति में इसे स्वीकार किया है तथा उदाहरण देकर इसकी पुष्टि भी की है। इसका प्रमुख गुण नाम में पापियों को पावन करने का भी है। भवसागर से तरने के लिये यह नाव का कार्य करता है। सभी पुण्यों की सम्मिलित शक्ति से भी इसकी शक्ति बड़ी है, तथा यह अशरण को शरण देने वाला है। निम्न पदों में इन्हीं भावों को अभिव्यक्ति मिली है :-

जबहिं नाम हिरदय धरा, भया पाप का नास।
मानो चिनगी आग की परी पुरानी घास।
कबीर निर्भय रामजपि, जब लगि दीवै बाति।
तेल घट्या बाती बुझी,(तब) सोवंगा दिन राति।।[2]

उपर्युक्त सिद्धान्तों को लेकर ही हिन्दी भक्ति-काव्य चला है। कबीर की नाम-भक्ति में हम इनका पूर्ण समावेश पाते हैं :-

---

१. कबीर एक विवेचन - डा० सरनाम सिंह शर्मा, पृ० ४४२

२. क०ग्रं०,पृ० ४।१०

राम-नाम की महिमा का वर्णन करते हुए कबीर ने कहा है :—

कोटि क्रम पेलै पलक मैं जे रंचक आवे नांउ ।
अनेक जुग जे पुन्नि करै नहीं राम बिन ठांउ ।[१]

अस्तु कबीर तत्कालीन प्रचलित साधना परक दृष्टिकोण से सर्वथा अलग न रह सके , वरन् उन्होंने उसके साथ सामन्जस्य स्थापित किया । परन्तु उनकी दृष्टि में भेद अवश्य था जो प्रारम्भ से अंत तक हमें मिलता है ।

नाम के आश्रय से ही जीव-जगत के संदर्भ में साधनागत आत्मनिवेदन —

कबीर का नाम के आधार पर किया गया आत्मनिवेदन प्राय: दो रूपों में मिलता है । प्रथम तो वह है जहां कबीर की आत्मा सांसारिक अथवा लौकिक भाव-भूमि पर अपने को ब्रह्म के समक्ष पापी, नीच, कुटिल इत्यादि कहकर माया से मिली प्रतारणा से मुक्ति की याचना करती है । कबीर ने जीवन के संताप के निवारणार्थ राम-नाम का आधार ग्रहण किया है । उनका विश्वास है कि राम से विमुख होने पर ही नाना प्रकार के सांसारिक कष्ट सहन करने पड़ते हैं तथा मनुष्य भव-जाल में पड़ा सांसारिक यातनाओं को सहता रहता है । माया का आकर्षण ही कुछ ऐसा होता है कि साधारण मनुष्य उससे अपने को मुक्त नहीं कर पाता । अतएव कबीर ने स्थान-स्थान पर भगवान से यही निवेदन किया है कि वह उन्हें सांसारिक प्रलोभनों से दूर रक्खे , क्योंकि माया बड़ी सम्मोहक है जिसने अपनी घानी में समस्त संसार को डाल रक्खा है । कोई विरला व्यक्ति ही जिसने संसार की स्वाभाविक परम्परा का परित्याग किया हो, इसके जाल से बच पाता है ।[२] माया ऐसी आकर्षक है कि साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या बड़े-बड़े ज्ञानी इसके आकर्षण से सम्मोहित हो जाते हैं । यदि कोई इससे भाग कर विमुक्त होना चाहे तो असम्भव है

---

१. क० ग्रन्थावली, ~~पृ० ६~~ डा० पारस नाथ तिवारी - छ १५०/३-११

२. कबीर माया मोहनी, सब जग घाल्या घाणि ।
कोई एक जन ऊबरै जिन तोड़ी कुल की काणि ।

— क०ग्र० सटीक, ~~पृ० १६३~~ छ २५-६

क्योंकि यह तान-तान कर मोहक वाणों की वर्षा कर व्यक्ति को अपने जाल में फंसा लेती है :—

कबीर माया मोहणी मोहै जाण सुजाण ।
भागा ही छूटै नहीं भरि भरि मारै वाण ।[१]

इसीलिए कबीर अपने राम से प्रार्थना करते हैं कि मुझे इस बंधन से मुक्त कीजिये क्योंकि माया ऐसी पापिन है कि जीव को विमुख कर देती है । यह जीव के मुख से कड़वी वचनावली का निरन्तर उच्चारण करा कर राम-नाम कहने का अवसर नहीं देती । अर्थात् यह प्रभुभक्ति में बाधक है ।[२]

कबीर द्वारा किये गये आत्म-निवेदन का दूसरा रूप साधना परक है जो कहीं-कहीं रहस्यवाद के अन्तर्गत आता है । कबीर ने ब्रह्म के भावात्मक गुणों का समावेश करके उसकी शोभा, कान्ति, तेज एवं निर्मलता का वर्णन किया है जो कि सम्भवत: सत्-चित्-आनन्द के अभिव्यक्ति का प्रयास है । विभिन्न प्रतीकों द्वारा ब्रह्म से साक्षात्कार करने की चेष्टा कबीर में सर्वत्र मिलती है ।

कबीर की भक्ति में अनन्यता थी । सर्वस्व समर्पण के साथ-साथ अपने अस्तित्व को साध्य में लीन करने की उत्कट भावना भी कबीर में परिलक्षित होती है ।[3] भक्ति-भावना की इसी अनन्यता ने कबीर की नाम-साधना को उत्कृष्ट रूप प्रदान किया है । आत्मनिवेदन की इतनी मार्मिक उक्ति और क्या हो सकती है जहां भक्त भगवान के समक्ष इतना सरल हो जाय :—

" कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाउं ।
गले राम की जेवड़ी जित खैंचे तित जाउं ।[४]

---

१. क०ग्रं०, सटीक, पृ० १६२ ह २५-६
२. वही, पृ० १६२
३. कबीर की भक्ति की पद्धति — डा० गोविन्द त्रिगुणायत
४. क०ग्रं०, पृ० २० १५-१४

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है — "निरीह सख्य का यह चरम दृष्टान्त है, आत्म समर्पण की यह हद है। इतने पर भी मन को यह प्रतीति नहीं होती कि यह प्रेम-रस पर्याप्त है, क्या जाने उस प्रियतम को कौन-सा ढंग पसन्द हो, कौन सी वेश-भूषा रुचिकर हो ? हाय ! उस मस्ताने प्रिय का समागम कैसा होता होगा ?" आत्मसमर्पण की इसी भावना को लेकर कबीर का आत्म-निवेदन अधिक मार्मिक एवं व्यंजक बन पड़ा है। कबीर का आत्मनिवेदन भक्त हृदय का आत्मनिवेदन है। एक ऐसे आराधक का आत्मनिवेदन है जो अपने आराध्य को सतत सर्वत्र देखता है, अनुभव करता है और जिसके भीतर समाहित हो जाने के लिए व्यग्र, उत्कंठित रहता है। अपने को मिटाकर अपने सब कुछ को समाप्त करके तन्मय हो जाने का उल्लास ही उसके चरम का आनन्द है। प्राप्य की प्राप्ति ही उसकी साधना की सार्थकता है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए कबीर ने कहा है :-

इक मन इक चित ह्वै रहौं, रहौं नाम लव लाय।
पलक न तुमैं बिसारिहौं यह तन रहै कि जाय।[१]

'यह तन रहै कि जाय' कह कर कबीर पार्थिव शरीर की तुच्छता, समस्त माया-मोह की निस्सारता तथा संसार के प्रति विमुखता और अनासक्ति की बात करते हैं — क्योंकि यह सांसारिक आकर्षण-विकर्षण सभी कुछ अनित्य एवं असार है। सत्य केवल राम-नाम है। वही परम तत्व है। अत: उसी को प्राप्त करने का प्रयास एक मात्र कर्त्तव्य है। यह प्रयास एकनिष्ठा से ही सम्भव है। समग्र रूप से समस्त चिंतन एवं भावना को तदर्पित करके ही उस परम तत्व का साक्षात्कार किया जा सकता है। कबीर बार-बार एक निष्ठा की बात करके इसी बात पर बल देते हैं। इस मार्ग में यदि सब कुछ नष्ट हो जाय तो उसकी चिन्ता कबीर को नहीं है। राम-नाम का स्वीकार तथा अन्य वस्तुओं का तिरस्कार ही कबीर की आत्मनिवेदनात्मक-भक्ति की प्रमुख विशेषता है। इसी भावना को तुलसी ने भी "एक भरोसो एक बल एक आस विश्वास" की बात कह कर पुष्ट किया है।

कबीर की नाम-याचना में जहाँ इतनी कटिबद्धता है तथा आत्मविश्वास की भावना है, वहीं दीनता एवं कातरता के स्वर भी सुनाई पड़ते हैं। भक्त -

---

१. क०ग्रं०, पृ० २०

हृदय की ऐसी मार्मिक अभिव्यंजना, राम-नाम में निरन्तर लगी हुई लगन उनकी दैन्य-भावना को प्रकट करती है। बिना राम-नाम की प्राप्ति के उनकी विरहिणी आत्मा व्याकुल है। उन्हें कहीं भी विश्राम नहीं है। प्रेम की चरम स्थिति वही है जहाँ आत्मा परमात्मा के वियोग में इक्क पल भी जीवित न रह सके। कबीर की यह एक निष्ठा की भावना वहाँ चरम परिणति को प्राप्त करती है जहाँ पहुँच कर मन, हृदय, प्रेम सबकुछ एक हो जाता है :—

इक मन इकचित ह्वै रह्यो रहौं नाम लव लाय।
पलक न तुमैं विसारिहौं, यह तन रहै कि जाय।

कबीर की भक्ति में और विशेष रूप से उस स्थल पर जहाँ उनकी आत्मा अपने प्रिय से विरहिणी के रूप में आत्मनिवेदन करती है, भावों की सरसतम निधि प्राप्त होती है :-

बहुत दिनन की जोवती रटत तुम्हारे नाम।
जिव तरसै तुव मिलन को, मन नाहीं विश्राम[1]।

आत्मा से परमात्मा के मिलन की इस सतत प्रतीक्षा में विराम की कोई सम्भावना नहीं। कबीर का विश्वास है कि यदि विराम आ गया तो वह प्रेम व्यर्थ है। विराम तो आराध्यमय होने पर ही प्राप्त हो सकता है। और जब तक आत्मा का परमात्मा से मिलन नहीं होता वह इसी प्रकार विकल होकर उसे पुकारती रहती है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर की इसी विरह-भावना का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है –" कबीर दास का प्रियतम भी दुख का राजा है। उसका रास्ता देखते-देखते आँखों में झाँई पड़ गई है। नाम पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ गये हैं, रात-दिन आँखों से निर्झर झर रहा है, मुख से पपीहे की रट लगी हुई है, विरह-वेदना से सारा शरीर म्लान हो गया है। वह अजब दुख है। लोग इसे सांसारिक पीड़ा समझते हैं जो केवल कष्ट देती है तथाकेवल अभाव का प्रतिनिधित्व करती है। लेकिन यह पीड़ा अभावजन्य नहीं है वरन्भावस्वरूपा है। लोग जिसे दुख कहते हैं, उससे भिन्न है यह। यह जो परम प्रियतम के लिये रो-रोकर आँखें लाल हो गई हैं – वह भी एक अनिर्वचनीय आनन्द है – प्रेमकषायित नयनों की अद्भुत खुमारी है। प्रियतम इस दुख के मार्ग से आता है। वह हँसी को पसन्द

---

१. क०ग्रं०, पृ० १६

नहीं करता, सुख को नहीं चाहता और इसीलिए उस रोदन में एक प्रकार का उल्लास अनुभव करता है —क्योंकि यह प्रेमी के मिलन का मार्ग है :—

हँस हँस कंत न पाइया जिनि पाया तिन रोय।
जो हंसे ही हरि मिलें तो न दुहागिनि होय।[१]

जहां एक ओर कबीर के आत्मनिवेदन में दैन्य की चरम स्थिति मिलती है कि राम उन्हें जिस प्रकार भी रखें वे रहने को तत्पर हो जाते हैं, वहीं भक्ति-मार्ग की दुरूहता को स्वीकार करके अपने गन्तव्य की प्राप्ति में कटिबद्ध भी दिखाई पड़ते हैं। साधना का मार्ग अत्यन्त ही दुरूह है। इसमें पग-पग पर व्यवधान आते हैं। लौकिक आकर्षण साधक को साधना-पथ से विचलित करने लगते हैं। किन्तु कबीर ने इन सभी का दृढ़तापूर्वक सामना किया। सांसारिक आकर्षण-विकर्षण का त्याग कर उस परम प्रियतम की प्राप्ति में ही कबीर की विरहिणी आत्मा अपने जीवन का चरम आनन्द प्राप्त करती है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए समस्त आशाओं को विस्मृत करना पड़ता है। कबीर की भक्ति साधना की यही शर्त है। परमात्मा की प्राप्ति के लिए ही सर्वस्व समर्पण की भावना कबीर में सर्वत्र मिलती है। कबीर के आत्मनिवेदन में विह्वलता, विकलता, दैन्य एवं कातरता सभी स्वर एक साथ सुनाई पड़ते हैं। यही अनन्य भाव की भक्ति है, जहां पहुंच कर साधक विश्व में अपने आराध्य के प्रति प्रेम का व्यवहार करता है। अपना सर्वस्व उसी के चरणों में समर्पित करके उसी के विश्वास पर जीवित रहना चाहता है। अनन्य निष्ठावान् कबीर का रोम-रोम हरि-भक्ति में अनुरक्त है। इसका एक उदाहरण देखिये :—

मैं निहारों तुझको स्रवनन सुनों तुव नाउं।
बैन उचारहुं तुव नाम जी चरन कमल रिद ठांउ।[२]

---

१. कबीर — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ-२००

क. अखड़ियां झांई पड़ी पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियां छाला पड़या नाम पुकारि पुकारि। पृष्ठ २२/कबीर ग्रं०

ख. नैना नीझर लाइया रहट बसै निस जाम।
पपीहा ज्यूं पिउ-पिउ करौं कबहुं मिलहुगे राम। पृष्ठ २४/कबीर ग्रं०

ग. अंखियां प्रेम कसाइयां लोग जाणैं दुखड़ियां।
साईं अपणैं कारणैं रोइ-रोइ रातड़ियां। पृष्ठ २५/कबीर ग्रं०

२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९

कबीर की भक्ति-साधना में एक प्रकार का विरह है जो सबसे न्यारा है। उसकी समता में कुछ भी नहीं टिकता। भक्त यदि एक बार उस विरह का अनुभव कर लेता है तो उससे छुटकारा पाना असम्भव हो जाता है। कबीर के ही शब्दों में वह उसे कहकर नहीं प्रकट कर सकता, वह दुख झेलना केवल अनुभव जन्य होता है। उसे न दिन में सुख मिलता है न रात में, न सपने में, न जागरण में तथा न धूप में न छांह में। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर की भक्ति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है — "राम विरह का मारा भटक कर हरेक साधक से पूछता है कि वह कहां है, उसका प्रियतम किधर है? वह ठीक उस विरह से ऊबी विरहणी के समान होता है जो हर राहगीर से पूछती है कि उसके प्रियतम कब आयेंगे?"[१]

विरहिनि ऊभी पंथ सिररि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कह पीव का कबरु मिलैंगे आइ।[२]

कबीर सच्ची साधना राममय होने में ही मानते हैं। आत्मा-परमात्मा में इतनी निकटता आ जाय कि विभेद रह ही न जाय। आत्मा का परमात्मा से पृथक अस्तित्व ही न रहे। भक्ति-भावना की यही चरम स्थिति कबीर को स्वीकार थी :—

मेरा मन सुमिरै राम कू मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रहा सीस नवावौं काहि।[३]

यहां पहुंच कर भक्त को प्रत्येक सांस में भगवन्नाम सुनाई पड़ता है, विश्व के कण-कण में उसी की ज्योति प्रकाशित होती दिखाई देती है, प्रत्येक शब्द में राम-नाम की ध्वनि आती है, नेत्रों से केवल वही दिखाई पड़ता है, कान राम-नाम का

---

१. कबीर — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १६१
२. क०ग्र०, पृ० ६-८

चकवी बिछुटी रैणि की आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुरे राम से ते दिन के मिले न राति। वही छ- ६-२

— बासरि सुख ना रैण सुख न सुख सुपनै मांहि।
कबीर बिछुड़िया राम सूं न सुख धूप न छांह। वही छ- ६-४

३. क०ग्र०, पृ० ५

शब्द ही सुनते हैं, वाणी उसी के नाम का उच्चारण करती है तथा भक्त को भगवान के चरणों का आश्रय ही अभीष्ट होता है। भक्त अपने भगवान से इससे अधिक और कुछ नहीं चाहता। वह भगवान से भोग, विलास तथा ऐश्वर्य की याचना नहीं करता वरन शरणागति की भिक्षा मांगता है और इसी में अपने जीवन की सार्थकता का अनुभव करता है। इस स्थिति पर पहुंच कर भक्त अपनी समस्त दुर्बलताओं को स्वीकार कर लेता है। सच्ची भक्ति के लिये श्रद्धा, विश्वास तथा लगन की बड़ी आवश्यकता है जहां दुविधा है वहां भक्ति हो ही नहीं सकती। कबीर इसी प्रकार की भक्ति पर बल देते हैं।

भक्त की प्रमुख विशेषता उसकी विनम्रता में है। आत्मनिवेदन तभी सम्भव हो सकता है जब भक्त प्रभु के समक्ष विनम्र हो सके। और यदि तनमन से उस परम-तत्व की सच्ची साधना की जाय तो भक्त उत्तरोत्तर भक्ति की गहराई में उतरता जाता है —उसी की ओर लव में लीन हो जाता है। उसके नाम की लव एक बार लगी तो वह छूटती नहीं है वरन् जप्य की प्राप्ति की चेष्टा में द्विगुणा होती जाती है। भक्त सर्प के डसे की भांति विक्षिप्त हो जाता है, जिस पर किसी भी मंत्र का प्रभाव नहीं पड़ता। यदि किसी प्रकार वह जीवित भी रहा तो उसकी स्थिति बावलों जैसी हो जाती है। भक्त-हृदय की यह व्याकुलता जितनी अधिक बढ़ती है भक्ति उतनी ही परिपुष्ट होती है :—

> बिरह भुअंगम तन डसा मन्त्र न लागै कोय।
> नाम वियोगी न जिये, जिये तो बाउर होय।[१]

किन्तु कबीर के आत्म-निवेदन की यह विशेषता है कि भक्ति के अतिरेक में भी उन्होंने कभी अपने को पतित नहीं समझा। उनका मन जिस नाम रूपी मदिरा से मतवाला हुआ है उसमें मात्र भावुकता ही नहीं है वरन् हृदय की सच्चाई भी है।[२]

१- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ७-१८

१. क. कहा भयो तन बीछुरे दूरि बसे जे पास।
नैना ही अन्तर परा, प्राण तुम्हारे पास। —क०ग्रं०

ख. प्रीतम को पतिया लिखूं जो कहीं होय विदेस।
तन में मन में नैन में ताको कहा संदेस।। —वही १३ पृ०

२. कबिरा माता नाम का मद मत वाला नाहिं।
नाम पियाला जो पिये सो मतवाला नाहिं। कबीर ग्रं० डा० पारसनाथ तिवारी पृ० १६६

यही कारण है कि जहाँ वे एक स्थान पर भगवान के प्रति अतिशय विनीत एवं कातर दीखते हैं वहीं अन्यत्र चुनौती देते हुए भी देखे जाते हैं। किन्तु सभी अवस्थाओं में भगवन्नाम के प्रति उनकी अडिग आस्था है। उनमें आत्मविश्वास एवं अहैतुकी भक्ति है। कहा जा सकता है कि कबीर की सम्पूर्ण भक्ति-साधना ही नाम-साधना है। कबीर ने इसके अंकुर को प्रेम की धारा से सींचा है। धन्य है वह सुन्दरी जिसने वैष्णाव पुत्र को जन्म दिया, जिसने राम-नाम का सुमिरन करके निर्भयता पाली। सारी दुनिया भटकती रह गई। राम-नाम की महिमा अपरम्पार है। इस मंत्र को पाते ही कबीर केवड़े के फूल हो गये और भक्त लोग भौरों की भाँति इस सौरभशाली के चारों ओर एकत्र हो गये। जहाँ-जहाँ कबीर की भक्ति गई वहाँ-वहाँ राम-राम का निवास हो गया।

नानक की नाम-भक्ति--

वास्तव में निर्गुण ब्रह्म का वर्णन तो असम्भव है क्योंकि वहाँ तक न मन पहुँच सकता है, न वाणी और न इन्द्रियाँ। उसका केवल संकेत मात्र ही किया जा सकता है। परमात्मा की व्यापकता नाम-रूप, यश-गान आदि विविध उपाधियों से परे है। बुद्धि भी इन्द्रियातीत विषय होने के कारण उस तक पहुँचने में अपने को असमर्थ पाती है। पूर्णरूप से उस तत्व का कोई विचार नहीं कर सकता। साधक कि अनेक प्रकार की चेष्टाओं द्वारा उसके अस्तित्व का बोध करने का प्रयास करता है। परिणामस्वरूप वह उसकी शक्ति, सौन्दर्य अथवा तेज के अनुरूप उसका नामकरण कर डालता है। धीरे-धीरे इन विविध नामों से ही वह दैवी शक्ति का संयोजन करता है। परमात्मा को वह राम, कृष्ण तथा रहीम आदि मानकर अपनी साधना में व्यस्त हो जाता है। यद्यपि ये शब्द, मात्र उस शक्ति का आवाहन भर करते हैं किन्तु असीम के लिए प्रयुक्त होने के कारण ये शब्द भी सतावन बन गए हैं। नानक ने 'जपुजी' में नाम-श्रवण के माहात्म्य का विशद वर्णन किया है। उनका विश्वास है कि जिस पुरुष ने उसके नाम का श्रवण-स्मरण कर लिया हो उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह 'सत्य नाम' ऐसा है जो मननशील साधक को भी महान् बना देता है।

नानक की तो सम्पूर्ण साधना ही नाम-साधना प्रतीत होती है। प्राय: जितने भी पद उन्होंने लिखे हैं उसमें गुरु के माध्यम से अथवा सीधे-सीधे नाम-जप की महत्ता को स्वीकार किया गया है। नाम सम्बन्धी प्राय: सभी पदों में नाम के प्रति अपार श्रद्धा एवं भक्ति की अभिव्यक्ति की है।" उनकी दृष्टि में नाम, नामी का

प्रतीक है। 'सतिनामु' ही 'कर्तापुरुष', 'एक' और 'ओंकार' है। सारी सृष्टि की रचना नाम ही द्वारा हुई है। नाम ही समस्त स्थान बना हुआ है। अत: नाम के बिना स्थान का कोई महत्व नहीं है।[1] गुरु नानक की दृष्टि में नाम ही जप, तप, तथा संयम का सार है। दिन-रात राम-नाम के रंग में जिसकी रति हो वही सच्चा साधक है। जितने भी कार्य-कलाप हों सभी में उस प्रभु का नाम बसा हो, क्योंकि नानक का विश्वास है कि नाम के मनन से सभी रस प्राप्त हो जाते हैं। श्रवण में सलोना रस मिल जाता है, मुख से उच्चारण करने में खट्टे रसों की प्राप्ति होती है और कीर्तन करने में मसाले पड़ जाते हैं। मन को परमात्मा के चरणों में अनुरक्त कर देना लाल पोशाक है, सत्य और दान सफेद पोशाक है, हृदय की कालिमा को दूर करना ही नीली पोशाक है तथा हरी के चरणों का ध्यान बड़ा जामा है और हरी का नाम ही धन और यौवन है।[2]नानक का कथन है कि लाखों-करोड़ों कर्म और तपस्यायें नाम के सदृश नहीं हैं। सच्चे नाम की तिल मात्र बड़ाई भी वर्णनातीत है। कितनी भी उसकी बड़ाई की जाय किन्तु उसका मूल्यांकन करना बड़ा कठिन कार्य है[2]। जितनी ही उसकी प्रशंसा करते जायें उतने ही उसके गुण समझ आते जाते हैं।

राम-नाम के बिना तृप्ति नहीं मिल सकती और न ही साधक को इस भव-बंधन से मुक्ति ही प्राप्त हो सकती है। जप, तप तथा योग किसी की भी प्राप्ति बिना नाम के नहीं हो सकती। नानक ने कहा है -

नानक बिनु नावै जोगु कदे न होवै देखहु रिदै बीचारे।[3]

हरी के नाम के बिना सारा जगत् प्रपंच के धंधे में बढ़ा रहता है। कर्तार के नाम की ही कृपा से उसके सच्चे नाम की प्राप्ति होती है और उसी से प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। जब नाम अहर्निशि हृदय में आ बसता है तो उसकी कृपा से साधक संसार-सागर से पार हो जाता है।[4]

---

१. सभि रस मिठे मंनिऐ। सुणियै सालोणे।
खट तुरसी मुखि बोलणा मारण नाद कीए।
छतीह अमृत भाउ एकु जा कउ नदरि करे इ। (१)
रता पैनणु मनु रता सुपेदी सतु दानु
नीली सिआही कदा करणी पहिरणु पैर धियानु
कमर बंदु संतोख का धनु जोबनु तेरा नामु। (२) —नानकवाणी, जयराम मिश्र, पृ१०६

२. साचे नाम की तिलु वडिआई। आखि थके कीमत नहिं पाई। वही, सबद २, पृ०२४७

३. नानकवाणी, पृ० ५४६ (रामकली, सिध गोसटि-पउड़ी ६८)

४. हरि के नामु बिना जगु धंधा। जे बहुता समुझाईऐ भोला भी सो अंधो अंधा।।
सच नामि पति ऊपजै करमि नामु करतारु। अहनिसि हिरदै जे वसै नानक नदरी पारु।
—नानकवाणी, पृ० २७०

माया, मोह तथा काल रूपी यम के बंधनों में जगत बंधा हुआ है । इससे छुटकारा पाने का एक मात्र साधन नाम-जप ही है । इस दिशा में गुरु का महत्व-पूर्ण स्थान है । वही शिष्य को नाम की शिक्षा देकर माया-मोह से विरक्त करता है । नानक ने प्रार्थना करते हुए कहा है :-

नानक की अरदासि है सच नामि सुहेला ।
आपु गइआ सोझी पई गुर सबदी मेला ।[१]

मनुष्य नाम रूपी अमृत का पान कर इस संसार-सागर के आवागमन के चक्कर से छूट जाता है । इतना ही नहीं नाम में अनुरक्त होने से अहंकार नष्ट हो जाता है । साधक नाम में अनुरक्त होकर सत्य में समा जाता है । योग में सफलता मिलती है । मोक्ष का द्वार मिल जाता है । साधक के अन्दर परमात्मा की अखण्ड ज्योति व्याप्त हो जाती है । इसलिए नानक कहते हैं कि नाम में अनुरक्त होने से सदैव सुख प्राप्त होता है । नाम-साधना को ही शाश्वत तप भी माना है । नाम में अनुरक्त होने से ही गुण, ज्ञान और विचार प्राप्त होते हैं ।[२]

गुरु नानक ने ईश्वर के निर्गुण एवं सगुणवाची दोनों नामों का प्रयोग अपनी 'वाणी' में किया है । किन्तु नामों का प्रयोग सम्भवत: प्रतीकात्मक ही प्रतीत होता है । ब्रह्म के निर्गुण नामों में निरंजन, निरंकार तथा परब्रह्म, शब्दों का बहुतायत से प्रयोग मिलता है । इसके अतिरिक्त सगुणवाची माधव, केशव, राम, गोविन्द आदि नामों का प्रयोग है । कहीं-कहीं अलाह, रहीम तथा करीम का भी प्रयोग है । तथापि इन नामों के आधार पर ही हम उन्हें सगुणवादी नहीं कह सकते । नाम तो केवल हार्दिक भावों के प्रकाशन का संकेत है। परमात्मा के अस्तित्व का बोधक केवल 'सतिनामु' है जो सर्वव्यापी सत्ता है । नानक के सम्पूर्ण पदों में राम-नाम की आवृत्ति जितनी अधिक पाई जाती है उतनी और किसी भी नाम की नहीं है । राम के बाद हरि शब्द का प्रयोग भी अधिक हुआ है ।

---

१. नानक वाणी, पृ० ३०५, (डा० जयराम मिश्र)

२. नावै राते हउमै जाइ । नामि रते सचि रहे समाइ.........

बिनु नावै जीवै सभु बेकारु । नानक नामि रते तिन कउ जैकारु ।।३३।।
—नानक वाणी, पृ० ५४२

डा० जयराम मिश्र ने अपनी पुस्तक 'नानक वाणी' की भूमिका में नानक के नाम सम्बन्धी विचार व्यक्त किये हैं। उन्होंने नानक में नाम-जप के तीन प्रकार निर्धारित किये हैं :— प्रथम साधारण जप, दूसरा अजपा जप, और तीसरा लिव जप ।

जप की ये तीनों कोटियां क्रमश: नाम-जप के तीन सोपान हैं। प्रारम्भ में साधक साधारण जप का ही अधिकारी होता है। यह सतत गति से जिह्वा द्वारा होता है। यह नाम-साधना का प्रथम सोपान है। जहां नानक जप, तप एवं संयम की शिक्षा देते हैं[1]। साधारण जप से आगे बढ़ने पर अजपा जप की स्थिति आती है। यहां आकर जिह्वा का कार्य समाप्त हो जाता है और श्वास-प्रश्वास के साथ ही जप की प्रक्रिया भी चलती रहती है। इसी प्रकार के जप पर प्राय: समस्त संत कवियों ने बल दिया है। नानक ने भी इस जप कोनाम की साधना का मुख्य आधार माना है।

'अजपा जाप जपै मुखि नाम।'[2]

अजपा जप के बाद की स्थिति लिव-जप है। इसे जप-साधना का अन्तिम सोपान माना गया है। इस स्थिति पर पहुंच कर साधक की वृत्ति ही किसी जप हो जाती है। इसमें शरीर, जिह्वा, मन, आदि किसी का अलग अस्तित्व नहीं रहता। सभी एक हो जाते हैं। केवल अनुभूति द्वारा साधक में जप का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। नाम-साधना की यह चरम पराकाष्ठा है। किन्तु इस स्थिति तक पहुंचना प्रत्येक साधक के लिये सम्भव नहीं हो पाता। नानक ने लिखा है :—

गुरमुखि जागि रहे दिन राती, साचे की लिवगुरमति जाती ।[3]

साधक को एक आश्चर्यमयी अनुभूति होती है जिसका वह वर्णन नहीं कर सकता। वह अचिन्त्य ब्रह्म की भांति केवल अनुभूति गम्य है। यह स्थिति नाम-जप से

---

१. अलाहु अलख अगंम कादरु करणाहारु करीमु
सभी दुनी आवणि जावणी, मुकामु एकु रहीमु । ६ । —नानक वाणी,
—पृ० १६०

२. नानक वाणी — बिलावलु थिती, पहली, १६

३. वही, मारु, सोलहे — ५

ही प्राप्त होती है । यही कारण है कि नानक ने सहज रूप से नाम-जप द्वारा आराध्य का सामीप्य प्राप्त करने की सर्वत्र प्रेरणा दी है । इस मार्ग में गुरु को सच्चा पथ-प्रदर्शक माना है । अपने एक पद में उन्होंने कहा भी है —

राम नाम साधू सरणाई । सतिगुर वचनी गति मिति पाई ।
नानक हरि जपि हरि मन मेरे, हरि मेले मेलण हारा है ।[१]

अर्थात् "राम-नाम का आश्रय लेने से, साधु की शरण में जाने से एवं सद्गुरु के वचनों से शिष्य को गति प्राप्त हो सकती है । नानक का विश्वास है कि हरि-नाम जपने से हरी उनके मन में बस गया है और हरी ने उन्हें अपने में मिला लिया है ।" साधक की यह परमगति है जो नानक को प्राप्त है।यहां साध्य और साधक में कोई अन्तर नहीं रह जाता, वे एकाकार हो जाते हैं । साधक अपनी साधना में इतना तल्लीन हो जाता है कि वह अपना अस्तित्व पल मात्र भी उस परम-सत्ता से अलग नहीं देखता । नानक की "नाम-साधना" की यह चरम-स्थिति है ।

दादू और नाम-भक्ति —

संत कवियों का भगवान विलक्षण सगुण-निर्गुण तथा वाणी-व्यापार से परे है । किन्तु फिर भी निर्गुण साधकों ने कुछ सांकेतिक नामों का आश्रय ग्रहण किया है । वे नाम माध्यम मात्र ही हैं । उनसे अचिन्त्य के स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता । तथापि नाम-साधना का महत्व सम्पूर्ण संत साहित्य ने स्वीकार किया है । क्योंकि जहां निर्गुणकी निर्गुण और अरूप की अरूप के समान हम कल्पना नहीं कर सकते वहां हमें नामों का आश्रय लेना ही पड़ता है । संतों की नाम-साधना का सम्बन्ध सहज-साधना से अधिक है । "नाम" के साथ किसी विशेष बाह्याडम्बर को इन संतों ने प्रश्रय नहीं दिया । नाम का जप" सहज रूप से निरंतर श्वास के साथ होना चाहिए ।"[१/अ] इसे ही दादू ने परम जप भी कहा है :—

सतगुरु माला मन दिया, पवन सुरति सौं पोइ
बिन हाथों निस दिन जपै, परम जाप यूं होइ ।[२]

---

१ नानक वाणी - पृष्ठ ६२९

१/अ दादू नीका नांव है हरि हिरदै गाइ
सहुजै सुरति मन मांहैं बसै सांसै सास संभारि ।। — दा०द० की बानी, पृ० ३२

२. सं०बा०- सं०, भाग १, पृ० ६६

दादू ने सर्वत्र कहा है कि उनके रोम-रोम में प्रिय के नाम की प्यास समाई हुई है। उनका रोम-रोम नाम की रट लगाये है। यह रुदन भी असाधारण नहीं है। जब तक साधक साध्य में मिल नहीं जाता तब तक यही क्रम चलता रहता है। दादू की साधना में हृदय-पक्ष की प्रधानता है। यही कारण है कि इनके पद बड़े मार्मिक हैं। आराध्य के प्रति व्याकुलता और उसके नाम के प्रति लगन की एकनिष्ठा इनके साहित्य में दृष्टव्य है। राम के नाम के अतिरिक्त वे दूसरे किसी भी शब्द का उच्चारण करना पाप समझते हैं। इसीलिए साधारण जीव को चेतावनी देते हुए उन्होंने कहा है :—

> राम तुम्हारे नांव बिन जो मुख निकसे और।
> तो इस अपराधी जीव कों तीनि लोक कित ठौर।[१]

नाम सुमिरन का क्रम भी दादू ने निर्धारित किया है।[२] नाम सुमिरन में निरन्तर गहराई में उतरने की आवश्यकता है। पहले तो वह श्रवण की स्थिति में होता है जहां गुरु की आवश्यकता होती है।[३] इसके बाद साधक उसका जाप करता है — यह जाप धीरे-धीरे हृदय की गहराई में उतरता जाता है और उसमें चिंतन-मनन की आवश्यकता आती है। अन्त में वह इस तरह रोम-रोम में समाहित हो जाता है कि उसे पृथक किया ही नहीं जा सकता। इसीलिए कहीं-कहीं दादू ने चेतावनी के स्वर में कहा है —

> एक राम के नांव बिन जीव की जलनि न जाइ।
> दादू केते पचि मुये करि करि बहुत उपाइ।[४]

---

१. दादू दयाल की बानी, पृ० ३३

२. पहला श्रवण, द्वितिय रसन, तृतीये हिरदै गाइ।
   चतुर्दसी चिंतन भया, तब रोम रोम ल्यौ लाइ।
   — दा० द० की बानी, पृ० ३२१

३. साधों सास सम्हालता, इकदिन मिलि है आइ।
   सुमिरन पैंडा सहज का सतगुरु दिया बताइ।
   —दादूदयाल की बानी, पृ० ३३

४. दादूदयाल की बानी, पृ० ३४

नाम वह चिंतामणि है जो साधक की समस्त कठिनाइयों को दूर करती है क्योंकि नाम में अगाधता है। वह निर्गुण-सगुण किसी भी प्रकार की सीमा के बंधन से परे है। उसकी सर्वत्र स्वतंत्र सत्ता है। वह अविगत है, अनादि है। अतएव जो कुछ भी याचना करनी है वह नाम से ही करनी चाहिए क्योंकि वह पूर्ण है। दादू ने नाम के संदर्भ में किसी प्रकार का बन्धन स्वीकार नहीं किया है। उनका तो कहना है कि परब्रह्म के अनेकानेक नामों में जो अच्छा लगे उसी का जाप करना चाहिए —

दादू सिरजन हार के केते नाम अनंत।
चिति आवै सो लीजिये यों साधू सुमिरैं संत।[१]

नाम-साधना पर बल देते हुए दादू ने कहा है कि साधक विरक्त भाव से 'नाम' में अपनी लगन लगाए। यहाँ तक कि भगवन्नाम ही उसका जीवन-प्राण बन जाय। अन्त में जो साधक हद से बेहद की सीमा प्राप्त कर लेता है — दादू उसकी प्रशंसा करते हैं।[२] दादू ने नाम साधक की साधना की उत्कृष्टता वहीं मानी है जहाँ वह समस्त का त्याग कर नाम में अपनी आसक्ति लगा लेता है। वह अहर्निशि सोते, जागते, चेतन-अचेतन सभी अवस्थाओं में उसका जप किया करता है। दादू ने ऐसे साधकों की परीक्षा का मापदण्ड भी इस प्रकार निर्धारित किया है :—

दादू हरि का नांव जल मैं मीन ता मांहि।
संगि सदा आनंद करै, बिछुरत ही मरि जाहिं।[३]

---

१. दादू दयाल की बानी, पृ० ३६

(ख) दादू अपणीं अपनीं हद मैं सबको लेवे नाउं।
जे लोग बेहद सौ तिनकी मैं बलि जाउं।
—दादू दयाल की बानी, पृ० ४६

२. दादू अपणी अपणीं हद हैं सबको लेवे नांउ।
जे लोग बेहद सौ तिनकी मैं बलि जाउं।
— दादू दयाल की बानी, पृ० ४६

३. (क) दादूदयाल की बानी, पृ० ४६

(ख) हम जीवैं इहिं आसरै, सुमिरन कै आधार।
दादू छिटके हाथ थैं, तो हमको वार न पार।
वहीं, पृ० ४६

क्योंकि साहब के 'नावं' में ही दादू सम्पूर्णता की स्थिति पाते हैं।

साहिब जी के नांव मां सब कुछ भरे भंडार।
नूर तेज अनंत है दादू सिरजन हार ।।[1]

साहब के नाम में उपर्युक्त अनेकानेक विशेषतायें हैं किन्तु इन सबमें से दादू ने केवल नाम को ही ग्रहण करने की सलाह दी है।[2]

नाम-माहात्म्य पर भी दादू के अनेक पद मिलते हैं। नाम को वह अमोघ शक्ति मानते हैं जिसके सहारे इस संसार सागर से पार जाया जा सकता है। उन्होंने बार-बार कहा है कि सचेत रहने की आवश्यकता है अन्यथा यह समय बार-बार लौट कर नहीं आयेगा। समस्त जगत को दादू ने विष की बेल कहा है। यहां बिरला ही साधु होता है। निर्विष केवल वही है जो नाम-साधक होता है। नाम-महिमा के विषय में उन्होंने लिखा है —

दादू सब जग विष भर्‌या निर्विष बिरला कोइ।
सोई निर्विष होयगा, जाके नांव निरंजन होइ।[3]

एक बार राम-नाम ले लेने से समस्त विषय बिकार नष्ट हो जाते हैं। उसके दुष्कर्मों का नाश हो जाता है और वह स्वच्छ, निर्मल हो जाता है, दादू का यह विश्वास है :—

(१) एक महूरत मन रहै नांव निरंजन पास।
दादू तबही देखतां सकल करम का नास।

(२) दादू निमष न न्यारा कीजिये अन्तर थै हरिनाम
कोटि पतित पावन भए केवल करता राम ।।[4]

---

१. दादू दयाल की बानी, पृ० ५४

२. जिसमें सब कुछ सो लिया, निरंजन का नाउं।
दादू हिरदय राखिये। मैं बलिहारी जाउं।

३. वही, पृ० ४२

४. छिन छिन राम संभालता जे जिव जाइत जाउ।
आतम के आधार को नाहीं आन उपाइ ।। वही, पृ० ३४

५. दादू दयाल की बानी, पृ० ३४,३६

दादू का कथन है कि यदि सच्चे हृदय से आग्रह पूर्वक नाम-जप किया जाय तो यह सम्भव नहीं है कि साधक परम पद न प्राप्त कर ले।

मुंह से यंत्रवत् राम-नाम उच्चारण करने वाले प्रदर्शनकारी भक्तों को दादू सच्चा साधक नहीं मानते। यह तो हृदय से अनुभव करने की वस्तु है। उसकी गहराई में जाने की आवश्यकता है। उसके महत्व का ज्ञान प्राप्त करना है। इस दिशा में दादू ने सद्गुरु की शरण में जाने का निर्देश किया है। गुरु का ही ऐसा माध्यम है जो नाम रूपी अमृत का रस पान शिष्य को कराता है। अन्त में साधक की अवस्था कुछ इस प्रकार की हो जाती है :—

दादू सतगुरु मारे सबद सों निरखि निरखि निज ठौर।
राम अकेला रहि गया चीति न आवै और ।[1]

नाम-साधना और गुरु-तत्व

इसमें संदेह नहीं कि भक्ति के संदर्भ में गुरु का स्थान अत्यंत ही प्राचीन है। अथवा इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि गुरु एवं भक्ति का सम्बन्ध ही शाश्वत है जो किसी भी धर्म, सम्प्रदाय अथवा दर्शन के अनुयायियों में देखने को मिल सकता है। किसी न किसी रूप में गुरु का अस्तित्व अवश्य रहता है। यहां तक कि वह साधना का एक मुख्य अवयव - सा बन गया और भक्त अथवा दार्शनिक सभी का मार्ग दर्शक स्वीकार कर लिया गया। समय-समय पर भक्ति, दर्शन एवं साधना के मार्ग में जो मोड़ आए हैं उन सबका कारण हम गुरु को मानकर ही चल सकते हैं। यह एक शृंखला - सी बन जाती है जो कभी दार्शनिक के रूप में, कभी भक्त के रूप में कभी साधक और कभी उपदेशक के रूप में प्रत्यक्ष होकर विविध पद्धतियों का निर्माण करती है।

'गुरु' शब्द अत्यंत ही प्राचीन है। वैदिक काल में ही इसका बीजारोपण हो गया था। धीरे-धीरे यह शृंखला रूप में अधिक प्रभावोत्पादक बनकर उत्तरोत्तर विकास करती गयी। वैदिक काल में गुरु-परम्परा का जो बीज वर्तमान था वही ब्राह्मण ग्रन्थों

---

1. दादू दयाल की बानी, पृ० ६

में स्पष्टतया परिलक्षित हुआ और धीरे-धीरे स्मृतियों, पुराणों और भक्ति-ग्रन्थों में पल्लवित होता हुआ किसी समय अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ ।[1]

सिद्ध, जैन, एवं नाथों से पूर्व गुरु-परम्परा का जो रूप था वह कुछ इससे भिन्न था । यद्यपि गुरु को इससे पूर्व भी भारतीय साधना के अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु सिद्धों एवं नाथों की परम्परा तक आते-आते साधना का स्वरूप इतना अधिक जटिल हो गया कि साधक स्वयं पथभ्रष्ट हो जाता था , अतएव उसे एक ऐसे मार्गदर्शक की आवश्यकता पड़ी जो उसे सही रास्ते पर ला सके । तन्त्रों से प्रभावित होने के कारण इनकी साधना बहुत जटिल थी तथा इन्होंने शारीरिक क्रियाओं का भी समावेश अपनी साधना के अन्तर्गत कर लिया था । साधना की इसी जटिलता के परिणामस्वरूप इन्हें गुरु की आवश्यकता हुई । यहाँ आकर भक्त कवियों में तथा योगी एवं नाथ पंथियों की गुरु सम्बन्धी मान्यताओं एवं आवश्यकताओं में कुछ अन्तर आ जाता है । भक्तिकाल में गुरु केवल आध्यात्मिक मार्गदर्शक था जबकि योगियों एवं तांत्रिकों की परम्परा में वह भौतिक आवश्यकता स्वरूप भी स्वीकार किया गया है । भक्ति काल में गुरु केवल मार्गदर्शक है वह ईश्वर तक पहुँचने का माध्यम है जबकि योगियों की शारीरिक साधना में भी वह सहायक बन कर आया है ।

जहाँ तक संत-साधना का प्रश्न है ,बराबर ब्रह्म को निर्गुण रूप में स्वीकार किया गया है । सम्भवत: यही कारण है कि उनकी साधना में जटिलता अधिक आ गई है । इसके अतिरिक्त तन्त्रों के प्रभाव का परिणाम भी परिलक्षित होता है अतएव इनकी साधना में गुह्यता आ गई । इस रहस्य का उद्घाटन साधक स्वयं नहीं कर सकता था । उसको किसी मार्गदर्शक की आवश्यकता थी जो उसे ब्रह्म के स्वरूप से साक्षात्कार करवा सके । अतएव उसे गुरु की आवश्यकता का भास हुआ ताकि वह उस रहस्य का

---

१. तुलसीदास और उनका युग, राजपति दीक्षित, पृ० १७९

~~मध्ययुगीन काव्य साधना, डा० रामचन्द्र तिवारी -- है-अवतरित~~

उद्घाटन कर सके और शिष्य को सही मार्ग का निर्देशन करे । गुरु की कृपा से साधक का चित्त विकल्पों को जीत सकता है । परिणामस्वरूप संत कवियों ने गुरु को परब्रह्म से भी ऊंचा स्थान दिया है अपनी साधना में । गुरु के रूप को उन्होंने दो रूपों में स्वीकार किया है । साधना की प्रारम्भिक अवस्था में बाह्य गुरु की आवश्यकता पर बल देते हैं किन्तु जैसे-जैसे साधक साधना की गहराई में उतरता जाता है वैसे-वैसे उसे बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं रह जाती । उसकी समग्र प्रवृत्तियां आंतरिक हो जाती हैं । वह आंतरिक प्रवृत्ति आत्मा से सम्बन्धित होती है जो मन बुद्धि से ऊपर की वस्तु है । कबीर ने इसी आन्तरिक गुरु की महत्ता को स्वीकार किया है ।[१]

कबीर की नाम-साधना के संदर्भ में गुरु की महत्ता —

कबीर रामानन्द के शिष्यों में से एक थे । इसमें कोई संदेह नहीं है कि कबीर ने अपने काव्य में गुरु का नाम नहीं लिया है किन्तु भक्ति अथवा साधना के संदर्भ में वे गुरु की महत्ता को सर्वोपरि मानते थे और उसके प्रति उनके मन में अपार श्रद्धा भी थी । कबीर ने गुरु और ईश्वर की तुलना में गुरु को अधिक महत्व दिया है क्योंकि वह विवेक, बुद्धि, ज्ञान तथा बल का प्रदाता है । उन्होंने यह स्वीकार किया है —

सतिगुर मिलिया मारग दिखाइआ /
जगत पिता मेरै मन भाइया ।[२]

अर्थात् सतगुरु ने ही मुझे वह मार्ग दिखाया जिससे जगत-पिता मेरे मन को भाए । वह अगम है, अगोचर है, इन्द्रियों से परे है, केवल गुरु की कृपा से ही उसकी प्राप्ति हो सकती है । उन्होंने तो उसे गोविन्द से भी बड़ा बताकर उसके महत्व को प्रदर्शित किया है ।[३] गुरु ने ही कबीर को राम-नाम जैसे अमूल्य धन से परिचित

---

१. सतगुरु की महिमा अनन्त, अनंत किया उपकार /
लोचन अनत उघाड़िया, अनत दिखावणहार । — क०ग्रं०, पृ० ७७ सटीक

२. संत कबीर, पंचम संस्करण, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६३

३. गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागों पाय /
बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दिया बताय ।

कराया है । कबीर ने गुरु के महत्त्व को इस संदर्भ में विशेष रूप से स्वीकार किया है—

राम नाम के पटतरै, देबे को कुछ नाँहि ।
क्या ले गुरु संतोषिये, हौंस रही मनमाँहि ।[१]

अर्थात् गुरु ने रामनाम का जो अमूल्य मन्त्र दिया है उसके बदले में उसे देने को कबीर के पास कुछ नहीं है क्योंकि राम-नाम के समक्ष सभी वस्तुयें तुच्छ एवं हेय हैं । कबीर ने उसी को वास्तविक गुरु माना है जो स्वयं भी राम-नाम के प्रेम का प्याला पीता हो और शिष्य को भी पिलाता हो । अर्थात् जो ज्ञान का उपदेशक हो, स्वयं भी ज्ञानी हो, उस पूर्णत्व से साक्षात्कार करवा सके एवं उस मार्ग का निर्देश कर सके[२]। कबीर का गुरु सर्व शक्ति एवं ज्ञान सम्पन्न है । इसीलिए उन्होंने गुरु की आराधना को सबसे ऊँचा स्थान प्रदान किया है, गुरु के प्रसाद से ही साधक वाह्य विषयों से अनासक्त हो सकता है तथा उसकी प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर राम-नाम की ओर उन्मुख हो सकती हैं । इसी के द्वारा साधक में शुद्ध बुद्धि की प्राप्ति एवं सहज ज्ञान का संचार सम्भव है —यह कार्य भी कबीर गुरु की कृपा से ही सम्भव मानते हैं :—

उपजै सहज ज्ञान मति जागै ।
गुरु प्रसाद अंतर लव लागै ।[३]

सतगुरु की महिमा का गुणगान नहीं किया जा सकता। कबीर ने इसी रूप में गुरु को ग्रहण किया है। जिस प्रकार उसकी महिमा अनंत है, ज्ञान अनन्त है, उसी प्रकार उसका अनुग्रह भी अनन्त है क्योंकि वह उस अनंत का साक्षात्कार कराने में समर्थ होता है । वह साधक को राम-नाम की ओर प्रवृत्त करता है ।[४]

---

१. क०ग्रं०, पृ० ७८

२. साधो सो सद्गुरु मोहिं भावै ।
सत प्रेम का भर भर प्याला आप पिवै मोहि प्यावै ।
— कबीर, हजारीप्र०द्विवेदी, पृ० २५२

३. क०ग्रं०, पृ० २७४

४. सद्गुरु की महिमा अनंत........ । क०ग्रं०, पृ० १

साधना की अवधि में साधक को मार्ग में अनेकानेक कष्टों का सामना करना पड़ता है। मोह, माया, क्रोध कामादि साधना पथ में बाधाएं हैं। शिष्य भटक सकता है इन सांसारिक आकर्षणों के जाल में फंसकर। गुरु शिष्य को अपने उपदेश द्वारा इन कामनाओं से विरत करके उसकी प्रवृत्ति को राम-नाम की ओर उन्मुख करता है।

साधक के मन में जब तक संशय बना रहता है तब तक उसे स्थिरता नहीं प्राप्त होती। बिना स्थिरता के कोई भी साधना सम्भव नहीं —संत-मार्ग में तो अचिंत्य की साधना का निर्देश है जो एक और भी कठिन मार्ग है। उसे नाम द्वारा ही साध्य बनाया जा सकता है किन्तु गतिशील मन की प्रवृत्तियां एक जगह रमती नहीं हैं। यह अस्थिरता नाना प्रकार के कर्मपाश में बंधन का कारण बनती है। राम-नाम की साधना में किसी भी प्रकार के बाह्य साधन की आवश्यकता कबीर ने नहीं स्वीकार की है। केवल गुरु के अस्तित्व को इस मार्ग में सहायक रूप में ग्रहण किया है जो शिष्य को उस नाम से परिचित करा देता है। वह शब्द की ऐसी चोट करता है कि शिष्य की चंचल गति, जीवन की अस्थिरता सभी कुछ समाप्त हो जाती है। वह एकाकार मन से राम-नाम के परम सुख का उपभोग करता है।[१]

सबद बाण गुरु साधके, दूरि दिसंतर जाइ।
जेहि लागै सो ऊबरै, सूतेलिये जगाइ।[२]

संत-परम्परा में नाम पर विशेष बल दिया गया है। क्योंकि ब्रह्म का कोई भी रूप आकार न होने के कारण उस पर मन केन्द्रित करने में कठिनाई होती थी

---

१. कुछ इसी भाव को संत कवि दरिया ने भी व्यक्त किया है :-

दरिया सद्गुरु सबद की, लागी चोट सुठौर।
चंचल सो निश्चल भया, मिट गई मनकी दौड़।

— दरिया-संत बा०सं०, भाग १, पृ० १२६

२. संत बाणी, संग्रह, भाग १, पृ० ७८

परिणामस्वरूप उसे विभिन्न नामों द्वारा सम्बोधित किया गया और अन्त में यह साधना ही नाम-साधना के नाम से प्रचलित हुई किन्तु यह नाम भी शिष्य अथवा साधक स्वयं नहीं समझ सकता था। उसकी स्थिति का सही ज्ञान कराना गुरु द्वारा ही सम्भव हुआ।[१] कबीर का तो यहां तक विश्वास है कि जो प्राणी गुरु शब्द से वंचित है वह निश्चय ही काल-कवलित होगा तथा उसकी रक्षा किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है चाहे स्वयं भगवान ही क्यों न उसकी सहायता के लिए आ जायें :—

> गुरु सीढ़ी ते ऊतरे सब्द बिहूना होय।
> ताको काल घसीटिहै, राखि सकै नहिं कोय।[२]

कबीर भक्ति, प्रेम, विरह, मिलन सभी क्षेत्रों में गुरु के महत्व को स्वीकार करते हैं किन्तु यह महत्व संदर्भ विशेष में ही स्वीकार किये गए हैं जहां साधक विषय-विकारों से विरत होकर असीम के प्रति भक्ति प्रेम विरह तथा मिलनोत्कंठा से विह्वल होकर उसका नामकरण कर डालता है तथा उन्हीं प्रतीकों द्वारा वह उसकी परमसत्ता का स्मरण करता है तथा उसके साथ नाता जोड़ता है। गुरु अपने शिष्य में प्रेम का जागरण करता है और शिष्य भाव विह्वल होकर प्रेम में उन्मत्त हो उसकी बाट जोहता है। गुरु वही है जो शिष्य को शब्द से परिचित कराकर उसे परमतत्व में निमग्न करा देता है। इस प्रकार कबीर ने अपनी साधना के अन्तर्गत गुरु की स्थिति आवश्यक और महत्वपूर्ण मानी है।

अन्य संत कवि तथा गुरु :—

मध्यकालीन संतों एवं भक्तों ने एक स्वर से गुरु की महत्ता को स्वीकार किया है। यह निर्विवाद माना है कि गुरु की कृपा के बिना साधक गन्तव्य की

---

१. धर्मदास ने गुरु से प्रार्थना की है —

> गुरु पैयां लागों नाम लखा दीजो रे।
> जनम-जनम का सोया, मनुआ शब्दन मार जगा दी जौरे।

—धनीधरमदास—सं०,बा०सं०, भाग २, पृ० ३६

२. कबीर बीजक, पृ० ११८

प्राप्ति कदापि नहीं कर सकता ।शास्त्रों का ज्ञान प्राथमिक है जो कि साधक की सामान्य स्तर की कठिनाइयों का निराकरण नहीं कर सकता/उसमें व्यावहारिकता का भी अभाव होता है/यद्यपि शास्त्रीय ज्ञान पूर्ण होता है किन्तु साधक उसमें क्या ग्रहण करे और क्या त्याग करे इस दिशा में मार्ग-निर्देशन का कार्य गुरु का ही होता है वही सच्चा पथ-प्रदर्शक है/किन्तु गुरु की खोज भी सजगतापूर्वक करने की आवश्यकता होती है यदि गुरु पूर्ण न हुआ तो शिष्य की पूर्णता में भी संदेह रह जायेगा । वह सच्चा पथ-प्रदर्शक अथवा मार्ग-निर्देशक नहीं हो सकता गुरु वही श्रेष्ठ होता है जिसने स्वयं समस्त कामनाओं का त्याग कर दिया हो, जो अपनी विषय-वासनाओं पर विजय प्राप्त कर चुका हो तथा जो निर्विकार, ज्ञानी अथवा ज्ञाता हो ।

मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य में प्राय: सभी सम्प्रदायों की यह एक प्रमुख विशेषता रही है।विभिन्न सम्प्रदायों का संगठन इसका द्योतक है । किसी न किसी योग्य गुरु के निर्देशन में ही इस प्रकार के विभेदों का जन्म हुआ था । थोड़े से विषय के हेर-फेर के साथ इनका लक्ष्य प्राय: एक ही हुआ करता था । गुरु-परम्परा भी अत्यन्त ही प्राचीन है । सिद्धों नाथों में तो गुरुतत्व भक्ति का एक प्रमुख अंग ही बन गया था । यहां तक कि वह गोविन्द से भी उच्च स्थान प्राप्त कर चुका था । इसका कारण उन्होंने अलौकिक तथा लौकिक माना है । अलौकिक अथवा अचिन्त्य ब्रह्म तो सहज साधक की बुद्धि से परे था । गुरु के साथ साधक अपनी जिज्ञासा दृष्टि का समाधान प्राप्त करता था । साधकों को यहां तक विश्वास था कि – " हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर ।"

महाराष्ट्री संतों ने भी गुरु को साधना के क्षेत्र में उच्च स्थान प्रदान किया है । कुछ संतों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । इस संदर्भ में जैसे संत ज्ञानेश्वर, संत रामदास आदि । संत ज्ञानेश्वर ने तो उस अनन्त सत्ता के गुण अनन्त तथा उसका कार्य अवर्णनीय माना है । इन संतों ने सदैव गुरु के महत्व को ब्रह्म से अधिक माना है । इनका कथन है कि गुरु का स्थान सूर्य से भी बढ़कर है क्योंकि सूर्य प्रात: अन्धकार नष्ट करता है किन्तु संध्या पुन: उसे अंधकार में विलीन कर लेती है परन्तु गुरु का प्रकाश शाश्वत है । वह यदि एक बार प्राप्त हो गया तो उसमें अन्धकार के प्रविष्ट होने की कोई सम्भावना ही नहीं रहती । वह नाम-भक्ति का ऐसा प्रकाश साधक को

प्रदत्त करता है कि साधक सदैव के लिए अन्धकार से मुक्त हो जाता है ।

जैन साधकों ने भी गुरु के महत्व को ठीक इसी रूप में स्वीकार किया है । इन साधकों का कथन है कि सद्गुरु ही सच्चा पथ-प्रदर्शक होता है जो कि मिथ्या संसार में भ्रमण करते, रागादि में फँसे हुए मनुष्य को नाम-मणि प्रदत्त कर उन्हें सन्मार्ग पर लाता है । अतएव शुद्ध मन से सदैव उसके चरणों की आराधना ही साधक को अभीष्ट होनी चाहिये ।

दादू -

भक्तिकाल तक आते-आते गुरु और ब्रह्म में नितान्त अभिन्नता आ जाती है । प्रमुख रूप से संत-साधना तो सम्पूर्ण रूप से गुरु के मार्ग-दर्शन पर ही आधारित है । कबीर के अतिरिक्त नानक, दादू, आदि की साधना में गुरु को विशिष्ट स्थान मिला है । दादू ने अपनी समस्त साधना की सफलता का श्रेय अपने गुरु को ही दिया है । उनका कहना है कि गुरु ने वह सब कुछ दे दिया है जो अन्य कोई तो क्या भगवान भी नहीं दे सकता । बिना गुरु की कृपा के परब्रह्म की प्राप्ति तो क्या उसका स्मरण ध्यान भी नहीं हो सकता । गुरु ने ही राम-नाम का उपदेश देकर विभिन्न प्रकार के सांसारिक आकर्षणों से नेत्रों को विमुख कर दिया है ।[1] गुरु की कृपा के फलस्वरूप ही दादू काल के मुख से निवृत हो सके क्योंकि अन्तिम समय में उसने नाम रूपी शब्द का ज्ञान करा दिया ।[2] गुरु के बताये हुये शब्द में मन यदि रम जाये तो समस्त साधना सफल हो सकती है :-

दादू सबद बिचारि करि लागि रहै मन लाइ।
ज्ञान गहै गुरुदेव का दादू सहज समाइ ।[3]

---

१. रामनाम उपदेस करि अगम गवनु यह नैन ।
दादू सतगुरु सब दिया आप मिलाये नैन । - दादूदयाल की बानी, पृ० ३

२. दादू काढ़े काल मुख श्रवनहु सबद सुनाइ ।
दादू ऐसा गुरु मिला मृतक लिये जियाइ ।। -वही, पृ० ४

३. वही, पृ० ५

किन्तु यह नाम की लव भी कोई पल नहीं छूटनी चाहिए, वह निरन्तर लगी रहनी चाहिए तभी सहज का साक्षात्कार संभव है —

सायां सहजें ले मिलै सबद गुरु का ज्ञान।
दादू हमकूं ले चल्या जहां प्रीतम का स्थान।[१]

सतगुरु में इतनी शक्ति है कि वह शरीर एवं मन से समस्त विकारों का बहिष्कार कर साधक की गति आराध्य के चरणों में लगा देता है।[२] फिर उसे और कुछ भी दिखाई नहीं देता केवल उसके नाम में लव लग जाती है और अकेला राम ही रह जाता है अन्य सभी आकर्षण समाप्त हो जाते हैं। दादू का कथन है कि बिना राम के नाम के कहीं भी प्रकाश नहीं प्राप्त हो सकता चाहे अनेकों चांद-तारे तथा सूर्य क्यों न निकल आयें किन्तु यदि साधक राम के नाम से नहीं परिचित है तो उसे समस्त वातावरण अन्धकारमय ही प्रतीत होगा। उनका कथन है कि :—

अनेक चंद उदै करै असंख सूर प्रकास।
एक निरंजन नांव बिन, दादू नहीं उजास।[३]

दादू ने जहां कहीं भी गुरु-महिमा का वर्णन किया है वहां उनका तात्पर्य साधारण, लौकिक गुरु से कदापि नहीं है। उनका गुरु तो सद्गुरु है जो यथार्थ रूप में ईश्वर के ही समकक्ष है यद्यपि उन्होंने यत्र-तत्र लौकिक गुरु को ही साधना की सफलता का माध्यम माना है, वही सच्चा पथ प्रदर्शक है क्योंकि उसने ही नाम रूपी मणि का प्रकाश साधक के जीवन को प्रदान किया है। अतएव साधना के क्षेत्र में अन्य संत कवियों की भांति दादू ने भी गुरु को सर्व प्रमुख स्थान दिया है। कभी उसे देवता कभी 'सर्वसाधवा' पारंगत तथा कभी निरंकार के समकक्ष स्वीकार किया है।[४]

---

१. दादू दयाल की बानी, पृ० ५
२. दादू सतगुरु मारे सबद सौं निरखि निरखि निज ठौर।
   राम अकेला रहि गया चीति न आये और। —वही, पृ० ६
३. वही, पृ० ६
४. दादू नमो-नमो निरंजन नमस्कार गुरु देवत:
   वंदनं सर्व साधवा प्रणाम पारंगत: .... । वही, पृ० १

नानक—

नानक की तो समस्त साधना ही 'नाम' तथा 'गुरु' को अर्पित है। क्योंकि उनका विश्वास है कि सद्‌गुरु के मिलने पर ही परमतत्व जाना जाता है जिसके मिलने पर ही 'नाम' की प्रशंसा होती है। सारी दुनिया कर्म करते-करते थक गई किन्तु सदगुरु के बिना परमात्मा नहीं प्राप्त हुआ —

सतगुरु मिलिया जाणिये। जितु मिलये नामु करवाणीये।
सतिगुरु बाझै न पाइओ। सम थकी कमाइ करम जीउ।[१]

एक स्थल पर गुरु तथा नाम का रूपक बांधते हुए लिखा है कि गुरु का शब्द अथवा नाम रूपी सिक्का किस प्रकार ढालना चाहिए ? संयम अथवा इन्द्रिय-दमन भट्टी हो और धैर्य सोनार हो। बुद्धि निहाई तथा गुरु द्वारा प्राप्त ज्ञान — वेद हथौड़ी हो। गुरु अथवा परमात्मा का भय धोंकनी हो और तपश्चर्या ही अग्नि हो। प्रेम ही पात्र हो और नाम रूपी अमृत गलाया हुआ सोना हो। इस प्रकार सच्ची टकसाल शुद्ध आत्मा में गुरु के शब्द रूपी सिक्के ढालने चाहिये।[२] नानक देव ने गुरु के महत्व को नाम-महिमा के साथ ही स्वीकार किया है। नानक ने गुरु के नाम रूपी शब्द को हृदय में बसाना ही अपनी मुद्रा माना है। क्योंकि इसी के द्वारा वे निरंजन के अमृत रूपी 'नाम' की प्राप्ति सम्भव मानते हैं। गुरु का शब्द-नाम ही नानक के लिये शाश्वत ध्वनि है। उनकी इच्छा है कि यही पूर्णनाद निरंतर उनके हृदय, मन में निनादित होता रहे। गुरु-कृपा को भी नानकदेव ने सर्वोपरि साधन माना है। विशेष रूप से धार्मिक साधना में वह गौरवपूर्ण स्थान रखता है। गुरु नानकदेव ने स्थान-स्थान पर उसकी महिमा का गुणगान किया है —

नदरि करहिं जे आपणी ता नदरी सतिगुरु पाइआ।
एहु जीउ बहुते जनम भरंमिआ ता सतिगुरु सबदु सणाइआ।[३]

---

१. नानक वाणी, पृ० १६१
२. नानक वाणी, जपुजी — पउड़ी, ३८
३. नानकवाणी, असादी वार

नानक ने कर्म, ज्ञान, योग अथवा भक्ति सभी मार्गों में गुरु का निर्देश आवश्यक माना है यहाँ तक कि उन्होंने गुरु और ईश्वर की एकता तथा उसकी अभिन्नता पर भी प्रकाश डाला है —

ऐसा हमरा सखा सहाई ।
गुरु हरि मिलिया भगति दृढ़ाई ।[१]

सद्गुरु के बिना मनुष्य का कोई सहायक नहीं होता । वही इस संसार में गुरु के रूप में और परलोक में ईश्वर के रूप में साधक की रक्षा करता है । उसी की कृपा के फलस्वरूप राम-नाम का मन्त्र साधक को प्राप्त होता है और वह सद्-गुरु मनुष्य को राम-नाम में उसी प्रकार मिला देता है जैसे पानी से पानी मिल-कर एक हो जाता है ।[२] किन्तु यह गुरु भी आसानी से प्राप्त नहीं होता । उसके प्रति सच्ची भक्ति, निष्ठा एवं आन्तरिक प्रेम की आवश्यकता होती है जिसके लिए बार-बार नानक ने बलपूर्वक आग्रह किया है । उनका कहना है कि आन्तरिक प्रेम से ही गुरु का दर्शन प्राप्त होता है । ऐसे गुरुमुख को प्रत्येक स्थान पर और प्रत्येक समय निर्मल ज्योति और हृदय में भी ज्ञान का दीपक जलता हुआ दिखाई देता है ।[३] नानक ने सभी तीर्थ, व्रत, पूजन, आदि को तब तक मिथ्या कहा है जब तक कि साधक 'नाम' से न परिचित हो सके । नाम से परिचय प्राप्त करने का उत्तम माध्यम उन्होंने सदगुरु को माना है । कहते हैं कि गुरु से मिलने पर ही

---

१. नानक वाणी, आसा, सबद, २४

२. सतिगुरु बाझहु बेली कोई । ऐथै ओथै राखा प्रभु सोई ।
राम नाम देवै करि किरपा इव सललै सलल मिलाता है ।।
— नानक वानी, पृ० ६३५

३. अन्तरि प्रेमु परापति दरसनु । गुरबाणी सिउ प्रीति सु परसनु ।
अहनिसि निरमल जोति सबाई घटि दीपक गुरुमुखि जाता है ।

* चाहे मैं सोने के किले का दान कर दूं, बहुत से श्रेय
घोड़े हाथियों का दान दूं- फिर भी भीतर गर्व भरा रहता है ।
मुझे गुरु ने सच्चा दान दे दिया है, मन राम नाम से बिंध गया है ।
— नानकवाणी, पृ० १५५

परमात्मा का भय मन में बसता है। इसी भय से मनुष्य का अहंभाव नष्ट होता है और वह सच्चा साधक बनता है। स्नान, दान, तथा शुभ कर्म यह है कि परमात्मा के दरबार से विशेष वस्तु 'नाम' प्राप्त हो जाय। गुरु के अंकुश से जिसने 'नाम' को दृढ़ कर लिया, उसके मन में नाम बस गया है और उसके समस्त बाह्य वेश आदि समाप्त हो गए हैं।[१] नानक ने जहां कहीं भी गुरु की अभ्यर्थना की है वहां वह ब्रह्म के समकक्ष ही है। इसके अतिरिक्त वह मार्गदर्शक भी है क्योंकि उन्होंने स्वीकार किया कि - गुरु बिनु राह बतावै कौन बोहिथ क्यों पहुंचे बिन पौन।[२] " गुरु-पूजा उस समय की परिस्थितियों के अनुरूप ही थी। नानक में गुरु के प्रति असीम प्रेम एवं निष्ठा की भावना मिलती है।

संत साधना में नाम-साधना का समन्वित रूप

संतों ने आत्मस्वरूप की सम्बोधि, ससीम में असीम की अनुभूति एवं व्यष्टि समष्टि के बीच पूर्ण ऐक्य भाव की अन्तस् प्रज्ञा, नाम-साधना के कतिपय सोपान माने हैं।

नाम-साधना की उपलब्धि बाह्य जगत एवं उसके बंधनों से मुक्त होकर अन्तर्मुखी बनना है। इस मानसिक एकाग्रता की अन्तिम परिणति उस परमतत्व अथवा राम-नाम की उपलब्धि है। मन की एकाग्रता के बिना कोई भी साधना दुर्लभ है। संतों का यह दृढ़ विश्वास है कि मन की एकाग्रता को बनाये रखने के लिये ही संत कवियों ने योग की साधना पर विशेष रूप से बल दिया है। इन संत साधकों ने युगानुकूल अपनी साधना का स्वरूप निर्धारित करने की चेष्टा की है। यही कारण है कि नाथों का समुचित प्रभाव होते हुए भी संतों ने योग को नहीं वरन् भक्ति को ही अपनी साधना का चरम प्रतिपाद्य माना। विरक्त रहते हुये भी अनुरक्ति पर बल दिया।

जहां राम की भक्ति नहीं है वहां समस्त योगाचार व्यर्थ है। कबीर ने इसीलिये भाव-भगति की साधना पर बड़े आश्वस्त भाव से बल दिया है। जब

---

१. गुरु मिलिये भउ मनि वसै भाई मैं मरणा सचु लेखु.....
गुरु अंकुस जिनि नामु दृड़ाइआ भाई मनि वसि आ चूका भेखु।
—नानकवाणी, डा० जयराम मिश्र, पृ० ४०१

२. प्राण संगली, १, पृ० ६

तक सद्‌गुरु का उपदेश साधक को अन्तर्मुखी नहीं बना देता, उसकी समस्त ग्रन्थियाँ को नहीं खोल देता, तब तक उसकी मुक्ति सम्भव नहीं। अज्ञान के भार से आक्रान्त साधक भटकता रहता है अनिर्दिष्ट दिशा में। बिना इस ज्ञान के परमपद का मिलना नितान्त दुर्लभ है। संतों ने अपनी साधना का चरम, योग साधना की परिणति ही भक्ति मानी है। बलपूर्वक काया को कष्ट देने से अथवा इन्द्रियों का संयमन क्षणिक भले ही हो सकता है किन्तु उसमें कोई सारतत्व नहीं रह सकता। संत भक्तों एवं सिक्ख गुरुओं ने उस परमतत्व की उपलब्धि नाम-सुमिरन द्वारा साध्य बताई है। दादू की समस्त साधना ही इसी पर निर्भर है। वे उसी को आदर्श योगी मानते हैं जो अहर्निशि नाम-जप द्वारा आराध्य का सतत चिन्तन करे। अन्त में ऐसी स्थिति आती है कि साधक उस असीम में एकमेव हो जाता है प्रिय के प्रति ~~विरह~~ निश्शेष भाव से आत्मार्पित हो जाता है।

संतों की वाणियों में हमें सर्वत्र सच्चे उद्‌गारों का दर्शन होता है। आराध्य के प्रति तन्मयता का भाव तथा उसके प्रति आत्मसमर्पण की अभिलाषा का प्राधान्य सर्वत्र देखने को मिलता है। वे अपने आराध्य के प्रति बड़ी तन्मयता से नाम-सुमिरन के माध्यम से भक्ति को प्रदर्शित करते हैं। यद्यपि उनकी नाम-सुमिरन की पद्धि सगुणोपासकों से किंचित भिन्न है उसमें व्रत उपवास, तीर्थ, अर्चन, पूजन आदि का कोई विधान नहीं है। संतों की साधना में पूर्ण आत्मैक्य की भावना मिलती है, परिणामस्वरूप उसमें शुद्ध स्वानुभूति की स्थिति आ जाती है। अपनी साधना की सफलता का एक मात्र माध्यम संतों ने गुरु को माना है। गुरु ही वह मार्ग दर्शक है जो साधक को नाम-साधना की ओर प्रेरित कर उसके समग्र जीवन को साधनामय बना देता है। संतों की साधना एक या दो पल मात्र की नहीं है। वरन् वह समग्र जीवन की सर्वांगपूर्ण साधना है, जिसमें सिद्धि प्राप्त कर साधक आत्मतत्व का परम तत्व में विसर्जन करके उसी में एकाकार हो जाता है अथवा तद्रूप हो जाता है।

निष्कर्षत: यह स्पष्ट हो जाता है कि इन संत साधकों ने युगानुकूल अपनी साधना का स्वरूप निर्धारित करने की चेष्टा की है। यही कारण है कि ज्ञान, योग, भक्ति का समुचित प्रभाव होते हुए भी संतों ने इनमें से किसी एक को वरण नहीं किया वरन् प्रत्यक्षत: भक्ति को ही अपनी साधना का चरम प्रति-

पाथ माना जबकि नाथों के योग का इन पर समुचित प्रभाव था । सांसारिकता से विरक्त होते हुए भी ये साधक नाम-भक्ति के प्रति अनुरक्त ही रहे । जहां कहीं भी योग को स्वीकार किया है वहां सहजानुभूति का प्रश्रय लिया है उसमें हठयोगियों की क्रियाओं को सर्वथा त्याग करने का प्रयास किया गया है । किसी प्रकार की शारीरिक चेष्टा द्वारा योग साधने पर बल नहीं दिया । मन की चंचल प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए इन साधकों ने किसी-किसी स्थान पर योग की क्रियाओं पर समुचित बल दिया है और सर्वथा ही उसे अनिवार्य आवश्यकता समझा है । इनकी साधना पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता मानसिक एकाग्रता है । नाम-साधना की उपलब्धि तथा अन्तिम परिणति उस परमतत्व अथवा राम-नाम की उपलब्धि है । इसके लिये मन का वाह्य जगत से विमुख होकर अन्तर्जगत में प्रवेश पाना नितांत आवश्यक है । अन्यथा किसी भी प्रकार की साधना दुर्लभ है ।

पंचम अध्याय

सगुण कृष्णा-काव्य में नाम-साधना का स्वरूप

कृष्ण का स्वरूप विकास

ऐतिहासिक दृष्टि से यह परम्परा अत्यन्त ही प्राचीन है। भारतीय धर्म एवं संस्कृति के विकास तथा उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समक्ष रखकर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि कृष्ण का व्यक्तित्व जितना ही विलक्षण है उतना ही सर्वग्राह्य एवं सरस भी है।

कृष्ण की प्राचीनता पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि इसका सूत्र वेदों से प्रारम्भ होता है। ऋग्वेद[१] में इनका प्राचीनतम उल्लेख मिलता है। इसमें कृष्ण का दो रूपों में उल्लेख किया गया है। एक तो कृष्ण आंगिरस नाम के एक ऋषि के रूप में दूसरा कृष्ण नाम के एक असुर का भी उल्लेख है, जिसे इन्द्र ने पराजित किया था।[२] छान्दोग्य उपनिषद् के घोर अंगिरस के शिष्य कृष्ण देवकीपुत्र कहे गए हैं। कौशीतकि ब्राह्मण में भी कृष्ण आंगिरस का उल्लेख मिलता है।[३]

भक्तिकालीन साधना का उत्स प्राय: हम वेद-पुराण में ही मानते हैं। यह सत्य भी अपनी जगह पर स्थिर है कि यह परम्परा किसी न किसी रूप में हमें वहीं से प्राप्त होती है। इन्द्र, शिव विष्णु, शक्ति, सूर्य, कृष्ण आदि नामों का उल्लेख किसी न किसी रूप में वैदिक साहित्य के अन्तर्गत मिल जाता है।

---

१. ऋग्वेद ८,८५-६
२. ऋग्वेद -१,१०१
३. कौशीतकि ब्राह्मण -३०।६

भले ही वह कृष्ण सूर के कृष्ण न हों। 'वास्तव में बात यह है कि पुराणों की कथायें अधिकतर रूपक हैं और श्रुति परम्परा से पुराणों में संगृहीत की गई हैं इसलिये पौराणिक कथाओं में कल्पना का योग स्वाभाविक है।[१] 'ब्रह्मपुराण' में कृष्ण, शिव, राम, सूर्य आदि का उल्लेख है। कृष्ण की कथा किंचित विस्तार से दी गई है। 'पद्मपुराण' के पाताल खण्ड में कृष्ण चरित दिया हुआ है। साथ ही अवतारों का माहात्म्य वर्णन भी है। पद्मपुराण का पुष्टि-सम्प्रदाय पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि सूर आदि कवियों की रचनाओं में भी कुछ स्थल ज्यों के त्यों मिल जाते हैं। पद्मपुराण में कृष्ण-लीला, सौन्दर्य-वर्णन, गोपियों के अध्यात्म पक्ष, गोकुल, मथुरा, द्वारका वृंदावन आदि का बड़ा सजीव एवं आकर्षक वर्णन है। 'वायुपुराण' में कृष्ण के जन्म का वर्णन है। 'गरुड़पुराण' में कृष्ण की लीला का वर्णन है। इसमें पूतना-वध, गोवर्धनधारण, कालियदमन, शकटायु-वध आदि का उल्लेख है। एक विशेष बात है कि इसमें राधा का वर्णन कहीं नहीं है जब कि कृष्ण की रुक्मिणी, सत्यभामा आदि आठ पत्नियों तथा गोपियों का भी उल्लेख है। 'विष्णु पुराण' में कृष्ण-जन्म सम्बन्धी उल्लेखनीय सामग्री प्राप्त होती है, इसके अतिरिक्त कृष्ण चरित, उनकी लीला सम्बन्धी विशेष सामग्री तथा रास का भी वर्णन है।

श्रीमद्भागवत –

कृष्ण-भक्ति का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। कृष्ण सम्बन्धी समग्र सामग्री एकत्रित रूप से यदि कहीं उपलब्ध होती है तो वह यही ग्रन्थ कहा जा सकता है। पौराणिक युग तक कृष्ण के विकास क्रम की विभिन्न विवेचित सामग्री इसमें समन्वित है। किन्तु एक महत्वपूर्ण तथ्य यह हमारे समक्ष है कि इतना विस्तृत होते हुए भी इस ग्रन्थ में राधा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। भागवत में

---

१. सूर और उनका साहित्य – डा० हरवंशलाल शर्मा, पृष्ठ ११०

कृष्ण को विविध रूपों में देखने की चेष्टा मिलती है। भागवत में नारायण को अवतार कहा गया है। भागवत के अन्तर्गत ब्रज स्तुति में कहा गया है," हे अधीश क्या आप नारायण नहीं हैं, आप अवश्य ही नारायण हैं क्योंकि आप ही सब जीव-समूहों के आत्मा और अखिल साक्षी हैं।[१] "पुराणों में कोई कृष्ण को नारायण ऋषि, कोई वामन, कोई क्षीरोपशायी, कोई सहस्र शीर्षा और कोई वैकुण्ठनाथ नारायण कहते हैं। ब्रह्माण्ड पुराण में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है -जो वैकुण्ठ में चतुर्भुज नारायण, जो श्वेतद्वीप पति नर-नारायण ऋषि हैं, वे ही वृंदावन बिहारी श्रीकृष्ण हैं।"[२]

पुराणों में उल्लिखित कृष्ण सम्बन्धी सामग्री से किसी विशेष कथा का सूत्र नहीं मिलता। कृष्ण सम्बन्धी छिटपुट सामग्री ही उपलब्ध होती है। कृष्ण चरित से सम्बन्धित व्यापक रूप से विवेचन महाभारत, गीता तथा श्रीमद्भागवत में उपलब्ध होता है। कृष्ण-जीवन से सम्बन्धित उल्लिखित महत्वपूर्ण संदर्भों का कृमिक विकास भी इन्हीं ग्रन्थों में मिलता है। महाभारत में ऐतिहासिकता के साथ ही कृष्ण के भगवत्तत्व का निरूपण हुआ है। इस दृष्टि से इसका महत्व बढ़ जाता है। गीता उसी तत्व का वैज्ञानिक रूप प्रस्तुत करती है। गीता महाभारत का ही एक अंश है, निष्काम कर्म-योग का विवेचन ही इसका विषय है। भागवत का विषय किंचित इससे भिन्न है। इसमें भक्ति के विविध तत्त्वों की व्याख्या के साथ उसका प्रतिपादन करने का सफल प्रयास मिलता है। इसमें सिद्ध किया गया है कि भक्ति के बिना निष्काम कर्मयोग सम्भव नहीं।

भागवत में कृष्ण के सभी रूपों का दर्शन हो जाता है। भक्ति की दृढ़तापूर्वक स्थापना इसका मूल विषय अथवा उद्देश्य माना जा सकता है। यह भावना स्तुति परक पदों में अधिक सजीव हो पाई है। इन पदों के द्वारा साधक की रागात्मिका वृत्ति का सहज ही अनुमान लग जाता है, भगवान के स्वरूप के प्रति

---

१. श्रीमद्भागवत १०।१०।१४

२. सूर और उनका साहित्य - डा० हरवंश लाल शर्मा, पृष्ठ १३०

तन्मयता की चरम परिणाति है। वास्तव में इन्हीं स्थलों पर कृष्णा के वास्तविक स्वरूप का भी दर्शन हो जाता है। परमतत्व की व्याख्या से लेकर ज्ञान, भक्ति, कर्म, (सकाम तथा निष्काम) आदि की विशद विवेचना है। स्तुतियों द्वारा भगवान के रूप लीला नाम का स्मरण-कीर्तन किया गया है।

कृष्णा-भक्ति सम्प्रदाय में नाम भक्ति का स्वरूप :-

विक्रम की सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण प्रतीत होती है। धर्म, दर्शन, कला, साहित्य, समाज तथा राजनीति आदि सभी का विकास एवं उत्थान दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी साहित्य का भक्ति-काल सम्भवतः इसीलिए स्वर्णयुग कहलाया। इतने विस्तार में न जाकर अकेले भक्ति भावना को मुखरित करने वाला साहित्य ही इतना अधिक सम्पन्न एवं सशक्त था अपनी अभिव्यक्ति में, कि भक्तिकाल सभी दृष्टि से श्रेष्ठ माना गया। इस युग में जितनी भी भक्ति से सम्बन्धित रचनाओं का सृजन हुआ है उनमें आध्यात्मिकता के साथ ही साथ दर्शन का पुट भी मिलता है। तुलसी, सूर कबीर , मीरा, आदि के द्वारा रचित जितना भी काव्य हमें मिलता है वह इतना पूर्ण है कि तत्कालीन समस्त विचारधाराओं, कला साहित्य, समाज राजनीति, धर्म तथा दर्शन का सांगोपांग विवरण उपलब्ध हो जाता है।

इस युग की राजनीति सामंतों द्वारा परिचालित थी। सामान्य जनजीवन इससे बहुत हद तक प्रभावित था। जनता इसके दुष्परिणाम से पीड़ित थी। जहां मानव की इच्छा अनिच्छा का कोई प्रश्न ही न उठे वहां व्यक्ति का स्वच्छन्द व्यक्तित्व विकास किस सीमा तक सम्भव था यह प्रत्यक्ष है। मनुष्य की इच्छा का कोई मूल्य न होते हुए भी उसको एक ऐसा संरक्षक प्राप्त था कि जीवन की गति-विधियों को वह सुचारुरूप से परिचालित कर सके। यही भक्ति एवं धार्मिकता की भावना जनता में व्याप्त थी जिसके सहारे वह साहित्य सृजन की ओर उन्मुख हो सकी। भक्तिकाल की दार्शनिक तथा धार्मिक पृष्ठभूमि ने कुछ ऐसे संत तथा भक्तों को जन्म दिया जिनका काव्य तत्कालीन जनता का मार्गदर्शक बन सका। उस समय दर्शन की प्रमुख तीन धाराएं प्रचलित थीं। प्रथम तो आचार्यों द्वारा पोषित तथा परिचालित भावना थी जिसके प्रमुख व्याख्याता, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभा-

चार्य, मध्वाचार्य तथा निम्बार्काचार्य थे। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा प्रवर्तित प्रमुख सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप में ढालने तथा उसे भक्त-संतों तक परिचालित करने का श्रेय स्वामी रामानंद को है। उपर्युक्त परम्परा को वैदिक परम्परा भी कहा जाता है। क्योंकि इनके सिद्धान्त एवं मान्यतायें वैदिक प्रमाण को लेकर ही चली हैं।

दूसरी धारा वैदिक परम्परा के विरोध में समाज के समक्ष आई जिसका प्रमुख रूप से बौद्ध धर्म से सम्बन्ध है। यह बौद्धधर्म अपने विकास के क्रम में अनेकों सम्प्रदायों में परिवर्तित होता हुआ क्रमशः महायान, सिद्ध, नाथ, तथा संत परम्परा तक विकसित हुआ। भक्तिकाल तक आते-आते उपर्युक्त सभी सम्प्रदाय प्रायः समाप्तप्राय हो चले थे केवल संतों का ही प्रभाव शेष बचा था।

इसके अतिरिक्त तीसरी प्रमुख विचारधारा सूफियों के प्रेममार्ग से सम्बद्ध है।

यह सत्य है कि साधक अपनी साधना के संदर्भ में किसी सिद्धान्त विशेष से परिचालित नहीं होता वरन् यह भावना उसके विशुद्ध मन की देन होती है। भक्त आराध्य के नाम-रूप तथा उसके लीला-धाम में इस प्रकार तन्मय हो जाता है कि उसकी गति विचित्र हो जाती है जिसका सम्बन्ध लौकिक भाव भूमि से किंचित मात्र भी नहीं रह जाता। ऐसी भावभूमि के अभिव्यक्तीकरण की शब्दावली भी प्रायः सभी भक्तों की एक सी होती है। यह साम्य कृष्ण भक्ति सम्बन्धी सभी सम्प्रदायों में मिलता है। बल्लभाचार्य, निम्बार्क, चैतन्य सभी की भावनायें चरम स्थिति पर पहुंचकर एक हो जाती हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय-

वैष्णव सम्प्रदायों में निम्बार्क मत का विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान है। भक्ति की सुदृढ़ भावना का दर्शन इनके सम्प्रदाय में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। निम्बार्क का दशश्लोकी नामक ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। इनकी भक्ति के आराध्य श्रीकृष्ण हैं। वही वरेण्य हैं तथा पूज्य हैं, क्योंकि वे पवित्र दिव्य शरीर तथा सौन्दर्य, कोमलता, माधुर्य एवं ओज सदृश शारीरिक गुणों से सम्पन्न हैं। परमात्मा को सत्, चित् तथा आनंद स्वरूप मानकर उन्हें समस्त भूतों का कारण कहा है।

वही सर्वशक्तिमान हैं। उनकी अनुकम्पा का प्रसार दैन्य भाव के भक्त में होता है। इनका विश्वास है कि भक्त की इच्छानुसार कृष्णा रूपग्रहण करते हैं। कृष्णा के चरण कमल के अतिरिक्त मुक्ति का दूसरा मार्ग नहीं है।

उन्होंने कृष्णा के साथ ही राधा का भी ध्यान चिन्तन अनिवार्य माना है। अज्ञान अन्धकार से मुक्ति पाने के लिये निरन्तर परब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। परब्रह्म की उपासना एक ऐसा साधन है जो जीव को इस असार-संसार के अज्ञानान्धकार से मुक्ति दिलाता है। अतएव अपनी साधना कृष्णा के चरणारविन्दों को समर्पित करना साधक का कर्तव्य हो जाता है। दशश्लोकी के नवें श्लोक में आचार्य ने भगवान् की कृपा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि दैन्य आदि का भाव उनकी कृपा से ही उत्पन्न होता है और उसी से प्रेम, रूप-भक्ति की प्राप्ति होती है। भक्त द्वारा की गई अनन्य भक्ति द्वारा ही उसकी कृपा प्राप्त हो सकती है। भक्ति के दो प्रकार बताये हैं — एक परा, दूसरी साधन रूपा। उन्होंने परा भक्ति को श्रेष्ठ कहा है।

अन्तिम श्लोक महत्वपूर्ण है जहां आचार्य ने भक्तों के लिये पांच पदार्थों के ज्ञान की बात कही है। उसमें प्रथम तो उपास्य का रूप है समस्त मध्यकालीन धार्मिक चेतना का कारण उपास्य का नाम और रूप भी माना जा सकता है। उपास्य के रूप की जिज्ञासा ने अनंत प्रश्नों को जन्म दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने उपासना का रूप, कृपाफल, भक्तिफल तथा फल प्राप्ति के विरोधी तत्वों पर प्रकाश डाला है।

संक्षिप्त रूप में निम्बार्क का मत उपरिलिखित पंक्तियों में समाविष्ट है इसमें शरणागति तथा प्रपत्ति को विशेष महत्व दिया गया है। इसकी विशेषता यह है कि प्रपत्ति के साथ-साथ परमात्मा की कृपा तथा उसके प्रति प्रेम का प्राधान्य है। प्रथम बार निम्बार्क ने कृष्णा और सखियों द्वारा परिवेष्टित राधा को ही प्रधानता दी। इस प्रकार उत्तरी भारत में राधा-कृष्णा की भक्ति का शास्त्रीय ढंग से प्रतिपादन निम्बार्क ने किया।[१]

---

१. सूर और उनका साहित्य - डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ६४

इस सम्पूर्ण अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि निम्बार्काचार्य द्वारा प्रतिपादित भक्ति मार्ग में पहली बार राधा-कृष्ण के युगल स्वरूप की भक्ति को आधार बनाया गया जो कि रामानुज की भक्ति से भिन्न प्रकार की थी । इसके अतिरिक्त उपास्य के रूप को सावना का आधार माना । इनकी विशेषता यह है कि प्रपत्ति तथा शरणागति के साथ ही साथ कृष्ण के प्रति प्रेम का प्राधान्य भी भक्ति का अंग माना है । नाम-भक्ति की कोई सम्यक् विवेचना इनके सम्प्रदायगत साहित्य में उपलब्ध नहीं होती ।

चैतन्य - सम्प्रदाय :-

समग्र बंगाल तथा उत्तरी भारत को भक्ति से आप्लावित करने का श्रेय महाप्रभु चैतन्य को है । उन्होंने अपने भजन-कीर्तन तथा प्रेमभक्ति से सम्पूर्ण तत्का-लीन समाज को प्रभावित किया । चैतन्य द्वारा प्रवर्तित इस भक्ति धारा को गौडीय वैष्णवधर्म अथवा चैतन्य-मत से अभिहित किया गया । वैष्णवधर्म की इस धारा के बराबर प्रचार सम्भवत: अन्य किसी धारा का नहीं हुआ । विशेषरूप से भजन और नाम संकीर्तन को इन्होंने भक्ति के प्रचार का सर्वसुलभ साधन बनाया । इसी को चैतन्य ने आध्यात्मिक साधन माना जिसके द्वारा साधारण जन समाज को अपने भक्ति-आन्दोलन के प्रति आकृष्ट किया । इस धर्म के अनुयायियों में रूप-गोस्वामी, सनातन गोस्वामी तथा जीव गोस्वामी का नाम विशेष रूप से उल्लेख-नीय है ।

साधनमार्ग — भगवान् को वश में करने का एकमात्र साधन भक्ति है । भक्ति के भी दो प्रकार हैं —वैधी तथा रागात्मिका । रागात्मिका भक्ति के लिए भक्त की सहृदयता, आन्तरिक आर्त भावना, तथा प्रेम ही प्रधान कारण है । प्रेम ही इस भक्ति का चरम आदर्श है । भक्ति को रस की संज्ञा इन्हीं गौडीय वैष्णवोंने दी । रूप गोस्वामी का ' हरिभक्तिरसामृतसिन्धु ' इसका प्रमाण ग्रन्थ है ।

प्रेम-लक्षणा-भक्ति को ही सर्वोपरि मानकर उसका प्रचार किया गया है । श्रीकृष्ण के प्रति चिदाकर्षण का कारण एकमात्र प्रेम है । यह प्रेम किसी जड़भाव

में आबद्ध नहीं रहता । यह किसी सुकृत या पुण्य का फल भी नहीं है । यह तो केवल आन्तरिक अनुराग से ही प्राप्त होता है । प्रेम लक्षणा भक्ति श्रीकृष्ण की रसमयी उपासना है ।

महाप्रभु चैतन्य के विविध कर्मकाण्डों का विरोधकर श्रीकृष्ण के नाम के बाद प्रेम और विश्वास का उपदेश दिया है । ऐसा प्रचलित है कि राधा-कृष्ण का नाम-कीर्तन करते-करते वे मूर्छित हो जाते थे । भाव विह्वल होकर सब कुछ भूल जाते थे । उन्होंने श्रीकृष्ण के साथ जीव का नित्य सम्बन्ध की अनुभूति करने की बात कही है । उनकी भक्ति का साधन निष्कपट एवं निरपराध होकर नाम-लीला-गुण का श्रवण कीर्तन करना है । तभी साध्य की प्राप्ति सम्भव है । श्रवण कीर्तन कर ही चरम कल्याण प्रद है । वे स्वयं अमृत हैं, उनकी कथा अमृत है ।

वेदों में कर्म, योग और ज्ञान की साधना में भगवान के नाम की उपयोगिता बताई गई है । वह अत्यन्त आनन्दमय भगवान 'ध्वनि' में ही प्रकटित होता है । कभी राम की ध्वनि में, कभी गोविंद की और कभी हरि-कृष्ण की । साधना के व्यतिक्रम में कभी विराट्, कभी शान्त, कभी रौद्र रूप में और कभी कमनीय रूप में साधक उन्हें ग्रहण करता है ।

श्रीनाम माधुरी का वर्णन करते हुए रूपगोस्वामी ने लिखा है —

'तुण्डे ताण्डविनी रतिं वितनुते तुण्डावलीलब्धये
कर्ण क्रोड कदम्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्य: स्पृहाम् ।
चेत: प्रांगण संगिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं
नो जाने जनिता कियद्भिरमृत: कृष्णेति वर्णद्वयी ।[१]

अर्थात् नहीं जानता, कृष्ण इन दो वर्णों में कितना अमृत भरा है । जब कृष्ण-नाम जिह्वा पर नृत्य करता है, तो बहुत सी जिह्वायें प्राप्त करने की तृष्णा

---

१. कल्याण - भगवन्नाम महिमा तथा प्रार्थना अंक - पृष्ठ ५३

बढ़ती है, जब श्रवणेन्द्रिय में प्रवेश करता है, तो आँखों कर्ण-प्राप्ति की लालसा होती है। मन के प्रांगण में नाम-माधुरी के प्रवेश करने पर शेष सब इन्द्रियां उसके वश हो जाती हैं। नाम-भक्ति की इतनी सजीव व्यंजना कम मिलती है। प्रत्येक अंग की सार्थकता कृष्ण नाम के अधीन है। नाम में डूब जाने, उसी में सराबोर हो जाने की स्थिति इन साधकों को अभीष्ट है।

नाम-साधक अन्य सारे सुखों को तुच्छ मानता है। नाम-ध्वनि उसकी दिव्यदृष्टि में एक रूपरेखा प्रकट करती है। कलियुग में यह एक महान् गुण है कि इसमें भगवान् श्रीकृष्ण का कीर्तन करने पर ही जीव संग से मुक्त होकर परमात्मा की प्राप्ति कर लेता है।[१] महाप्रभु का राधाकृष्ण-युगल की नाम-माधुरी का निम्नलिखित पद बड़ा प्रसिद्ध है –

हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

हरि के नाम को ही उन्होंने आनंददाता माना है। कर्तव्य-कर्म-स्वरूप, वर्णाश्रम धर्म का क्लेश, परमेश्वर की ध्यान धारणा का कष्ट नाम-साधक को नहीं उठाना पड़ता। एक बार भी उच्चारण करने पर वह समस्त प्राणियों के लिये अमृतस्वरूप बन जाता है। राधा का नाम अभिनव सुन्दर सुधा है, कृष्ण का नाम अद्भुत मधुर गाढ़ दुग्ध है। इन दोनों को मिलाकर अनुराग से शीतल एवं स्निग्ध करके उसका पान करते रहना चाहिए। कृष्ण का नाम समस्त पापों का नाश कर देता है। वही प्रेम का कारण है, भक्ति को प्रकाशित भी करता है।

चैतन्य भावना में विभोर रहने वाले साधक भक्त थे। उनका उद्देश्य किसी सम्प्रदाय का निर्माण अथवा पूर्व परम्परा का खण्डन-मण्डन नहीं था। इसकी पुष्टि डा० हरवंशलाल शर्मा जी ने भी की है। "भगवान के प्रेम-महोदधि में निमग्न

---

१. अतएव कलियुगे नाम यज्ञ सार
और कोनो धर्म कैले नाहि हय पार। कल्याण –
भगवन्नाम महिमा तथा प्रार्थना अंक, पृ० ५७

रहने के कारण किसी ग्रन्थ की रचना करने का समय महाप्रभु के पास नहीं था। कृष्ण की भक्ति और कीर्तन के महत्व के प्रतिपादिक उनके कुछ श्लोकों का उल्लेख यहां है —"नाथ तुम्हारी कृपा में कोई कसर नहीं और मेरे दुर्भाग्य में कुछ संदेह नहीं। तुमने अपने समस्त नामों में पूर्ण शक्ति भर दी है, काल-पत्र आदि का कोई नियम अथवा प्रतिबन्ध नहीं। यह तो मेरा दुर्भाग्य है कि तुम्हारे इन मधुर नामों से मेरे हृदय में अनुराग उत्पन्न नहीं होता।" दूसरा श्लोक है — हे प्रभो, तुम्हारे नाम का कीर्तन करते समय मैं किस शुभ क्षण में इस स्थिति को प्राप्त करूंगा कि मेरे नयन अश्रुधारा से, मुख गद्गद् वाणी से तथा शरीर पुलक से व्याप्त हो।[१]

प्रकाशानंद सरस्वती ने चैतन्य से भाव-विह्वल अवस्था का कारण पूछा। महाप्रभु ने उत्तर में कहा मेरे गुरुदेव ने मुझको नाम का यह उपदेश दिया है —

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्यैव नास्त्यैव नास्त्यैव गतिरन्यथा।[२]

चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायियों ने भक्ति सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना की जिसमें रूप गोस्वामी का भक्तिरसामृत-सिंधु तथा उज्ज्वलनीलमणि, जीव गोस्वामी की दशम भागवत की टीका तथा सनातन गोस्वामी की श्रीमद्भागवत-दशम् स्कन्ध की टीका विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

रूप गोस्वामी ने नाम-भक्ति की विशद महिमा का गायन किया है। उनका विश्वास है कि श्रीकृष्ण की कृपा के बिना उनका दर्शन नहीं होता। नाम-कीर्तन के बिना उनकी करुणा भी नहीं होती। इसी करुणा के उद्रेक के लिए श्रीकृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा में गोपिकायें नाम कीर्तन करती हैं।[३] श्रीनाम वाच्य तथा वाचक दोनो है।

---

१. सूर और उनका साहित्य - डा० हरबंशलाल शर्मा, पृ० ६७-६८
२. कल्याण - भगवन्नाममहिमा तथा प्रार्थना अंक, पृ० ५८
३. उज्ज्वलनीलमणि १५।४६। कल्याण, भगवन्नाम तथा प्रार्थना अंक, पृ० ५७

गौडीय साधकों ने नाम को एक तरंग के रूप में ग्रहण किया है जिसका प्रभाव उन्हें हंसाता है, रुलाता है, व्याकुल करता है, तथा बेसुध भी कर देता है , हृदय के विशुद्ध हो जाने पर नाम की गति का आभास होने लगता है। कृष्ण का एक नाम समस्त भावविकारों को नष्ट कर देता है। वही प्रेम का कारण है। नाम ही भक्ति को प्रकाशित करता है। अस्तु इस चैतन्य उपासना में नाम-संकीर्तन ही मुख्य उपासना है। विशुद्ध रूप से राधाकृष्ण के युगल नाम का स्मरण वंदन साधना का आदर्श है। यह नामोपासना सभी काल, सभी देश तथा सभी अवस्था में सुलभ साध्य है।

सखी सम्प्रदाय —

इस सम्प्रदाय के संस्थापक स्वामी हरिदास थे। इस सम्प्रदाय की साधना का स्वरूप गोपीभाव से कृष्ण भक्ति करना है। वाद-विवाद से अलग इनकी साधना का प्रमुख ध्येय सगुण रूप में श्री कृष्ण की सखी भाव से उपासना करना है। प्रेम की उत्कृष्टता और महत्ता के प्रतिपादन हेतु इस मार्ग के साधकों ने ज्ञान की निरर्थकता का विशेष रूप से उल्लेख किया है। राधा-कृष्ण की उपासना और उनकी लीलाओं का अवलोकन साधक सखी-भाव से करता है तथा उसी में निमग्न रहना चाहता है। इन साधकों का विश्वास है कि श्रीकृष्ण के रूप तथा सौन्दर्य में इतनी शक्ति है कि उसीकीउपासना ही साधक को इस भवसागर से पार उतार देगी। उनकी भक्ति में दिव्य शक्ति का सम्मिलन है। रूपोपासना मुख्य आधार होने के कारण उपासना माधुर्य परक हो गई है। प्रेम की गंभीरता का पूर्णरूप से निर्वाह मिलता है। स्वामी हरिदास स्वयं उच्चकोटि के साधक भक्त थे। उनके अनुसार "गंभीर प्रेम-समुद्र से पार जाने के लिये ज्ञान एक निरर्थक उपाय है। ज्ञान में पार लगाने की क्षमता कहाँ ? अहंकार से युक्त किसी अभिमानी का पुरुषार्थ कभी सफल नहीं हुआ है। स्वामी जी का अंतिम उपदेश है —" बिहारी जी को जानो, कृष्ण की भक्ति में अपने को निछावर कर दो। मार्ग कुमार्ग की चिन्ता मत करो। पार जाने की यही समर्थ नौका है —बिहारी जी की प्रेमानुरक्ति-

भक्ति ।"[1]

इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सम्प्रदाय का मुख्य आकर्षण राधाकृष्ण का सौन्दर्यमय स्वरूप था जिसकी विशद चर्चा मिलती है। अस्तु यह स्पष्ट हो जाता है कि जो साधक साक्षात् रूप का उपासक है उसकी साधना में आराध्य के नाम का महत्व तो है किन्तु उसको वह प्राथमिकता नहीं दे पाता। इस सम्प्रदाय के साधकों में हृदयगत प्रेम की भावना तथा भक्ति से पूरित नेत्रों की समस्त आसक्ति श्रीराधाकृष्ण को ही समर्पित है।' भक्तमाल ' में हरिदास जी का उल्लेख इस प्रकार हुआ है --

जुगल नाम सों नेम जपत नित कुंज बिहारी।
अवलोकत रहै केलि सखी सुखको अधिकारी ।।[2]

राधावल्लभी सम्प्रदाय :--

वैष्णव सम्प्रदायों के अन्तर्गत ही कुछ ऐसे सम्प्रदायों का भी उल्लेखनीय स्थान है जो केवल रागात्मिका वृत्ति के उपासना केन्द्र थे। इस सम्प्रदाय के साधक भक्त इसी भावना के माध्यम से अपनी भक्ति का प्रचार जनता में कर रहे थे। इन सम्प्रदायों की कुछ विशिष्ट प्रकार की आस्थायें थीं जिनमें से कुछ राधाकृष्णकी उपासना युगल रूप से करते थे और शेष केवल राधा की भक्ति-भावना से अनुप्राणित थे। राधावल्लभी-सम्प्रदाय युगल-उपासना का एक महत्वपूर्ण सम्प्रदाय था जिसके प्रवर्तक गोस्वामी हित-हरिवंश थे। दार्शनिक मतभेदों से अलग इस सम्प्रदाय का मुख्य उद्देश्य विशुद्ध साधन-मार्ग का निर्वाह करना था। इसमें विधि-निषेध का कोई स्थान नहीं था। राधा की अनन्य भाव से उपासना तथा उनकी केलि-क्रीड़ाओं का दर्शन-गायन ही इनका एकमात्र लक्ष्य प्रतीत होता है। हितहरिवंश जी की रचनाओं में इसका उल्लेख मिलता है,' हित चौरासी तथा राधासुधानिधि '

---

१. भागवत सम्प्रदाय - बलदेव उपाध्याय, पृ० ३५६

२. सूर और उनका साहित्य - डा० हरवंश लाल शर्मा, पृ० १०१

हितहरिवंश जी की रचनायें उल्लेखनीय हैं। रचनाओं से ही इस तथ्य का उद्घाटन हो जाता है कि उन्होंने राधा को अपनी भक्ति-साधना का केन्द्र माना। कृष्ण की अपेक्षा राधा को अधिक महत्व दिया है। कवि ने राधा-कृष्ण की कुंज-क्रीड़ा और वैभव-विलास के अत्यंत मधुर चित्र खींचे हैं।" कर्म और ज्ञान-मार्ग का इसमें स्पष्टतया खण्डन करके प्रेम भक्ति का प्रतिपादन किया गया है।"[1] राधा के सतत ध्यान में निमग्न भक्त ही श्लाघ्य है, धन्य है। राधा की लीला ही सर्वमान्य सत्य है।

परन्तु राधा को उन्होंने उस रूप में नहीं माना है, जिसमें बंगाल के कुछ वैष्णव सम्प्रदायों ने अंगीकार किया है। नाभादास जी ने अपने पद में स्पष्ट किया है कि दम्पति-कुंज-केलि-महत्व साधारण व्यक्ति की बुद्धि से परे हैं, क्योंकि जब तक हमारी बुद्धि विधि-निषेध परक नहीं होगी, लौकिक वासनाओं से ऊपर नहीं उठ सकती। यह लीला तो अनन्य भक्ति द्वारा ही हृदयंगम हो सकती है।[2] हित हरिवंश जी ने युगल मूर्ति की कुंज लीलाओं के आनन्द को परम-रस-माधुरीभाव कहा है।[3]

कृष्ण-सम्प्रदायों की यह प्रमुख विशेषता रही है कि उन्होंने ब्रज के नाम-रूप-लीला-धाम इन चारों तत्वों में सर्वाधिक महत्व उनकी लीला को प्रदान किया है। उनकी मधुर-भावना की भक्ति का सम्पूर्ण आकर्षण कृष्ण का रूप और उनकी लीला रही है। राधावल्लभी-सम्प्रदाय में लीला का यही रूप मधुर एवं आकर्षक बन पड़ा है। राधा-कृष्ण को उन्होंने अभिन्न तत्व माना है, वे प्रेम-रूप हैं। जल-तरंग की भांति वे एक दूसरे में ओत-प्रोत हैं। उन्हें सर्वत्र प्रेम स्वरूपा राधा के ही दर्शन होते हैं। प्रेमतत्व के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता को हरिवंश

---

१. हिन्दी साहित्य कोश — सम्पा० डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ६३६

२. सूर और उनका साहित्य — डा० हरवंश लाल शर्मा, पृ० २०२

३. वही, ,, ,, पृ० २०३

ने नहीं स्वीकार की ।" राधावल्लभीय मत में उपासना-तत्व विलक्षण है। हरिवंश महाप्रभु का कहना है कि परकीया तथा स्वकीया दोनों भाव अपूर्ण हैं। स्वकीया में मिलन है, पर विरह नहीं। उधर परकीया में विरह है, मिलन का पूर्ण सुख नहीं।.... प्रेम की पूर्णता वहां है जहां स्वकीया तथा परकीया दोनों का बोध नहीं, तथा जहां नित्य मिलन में भी विरह सुख या ललक नित्य स्थित रहता है।[१]

हित हरिवंश की रचनाओं में राधा के "नखशिख लौं अंग-अंग माधुरी मोहे स्याम धनी", के साथ ही राधा की "कीरति विसद" का वर्णन मिलता है। इनके उपदेशों का सारांश इन दोहों में मिल जाता है जिसे हरिवंशी मत की चतु:सूत्री कहा जा सकता है --

तनहि राखु सतसंग में तनहि प्रेम रस भेव।
सुख चाहत हरिवंश नित, कृष्ण कल्पतरु सेव।
सबसों हित निष्काम मन, बृंदावन विश्राम।
राधावल्लभ लाल को हृदय ध्यान मुख नाम।।[२]

हित हरिवंश-सम्प्रदाय के मानने वालों की दृष्टि समूचे रूप से राधा के प्रेम-रस से सिक्त थी। वही रसमय स्वरूप रसिक भक्तों का जीवन-प्राण है। "हित" का अर्थ ही सम्प्रदाय की पारिभाषिक शब्दावली में महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ है मांगलिक प्रेम जो परात्पर तत्व है, अद्वय है, युगलरूप है, श्यामा-श्याम या राधाकृष्ण।"[३]

उपर्युक्त धारणा के अनुसार राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम-भक्ति को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। राधाकृष्ण की केलिक्रीड़ाओं का वर्णन भी है, लीलातत्व का विकास भी दृष्टिगोचर होता है किन्तु नाम-साधना का सम्यक्

---

१. भागवत सम्प्रदाय - बलदेव उपाध्याय, पृ० ४३६

२. ,, ,, पृ० ४२७

३. हिन्दी साहित्यकोश - प्र०सम्पादक - डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ६३६

रूप नहीं मिलता । यह बहुत स्वाभाविक भी है कि जिस 'राधाकृष्ण' के रूप के प्रति साधक की गहरी आसक्ति है, प्रेम की भावना है, उसके नाम को उतना प्रमुख स्थान वहां नहीं दिया जा सकता । डा० हरवंशलाल शर्मा ने हजारीप्रसाद जी के मन्तव्य की पुष्टि करते हुए उनका दृष्टिकोण उद्धृत किया है जिसमें स्पष्ट है कि श्रुतिगोचर ब्रजलीला की उपासना तथा गान इस सम्प्रदाय के समस्त रसिकों ने किया है ।[१]

वल्लभाचार्य :

पुष्टिमार्ग– अपनी समग्रता एवं प्रतिभा सम्पन्नता के कारण कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में कदाचित सबसे प्रमुख सम्प्रदाय बल्लभ-सम्प्रदाय ही है । बल्लभ द्वारा प्रवर्तित मार्ग पुष्टिमार्ग के नाम से प्रचलित हुआ । श्रीकृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है । बल्लभाचार्य ने भक्ति को 'प्रेमलक्षणात्मक' माना है । बल्लभ ने वेद, उपनिषद् गीता, तथा भागवत पुराण को ही प्रमाण माना है । बल्लभाचार्य के ब्रह्म ईश्वर अथवा परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं । वही सगुण-निर्गुण चल-अचल गम्य-अगम्य सब कुछ हैं । उसकी शक्ति अनंत है । उसी के द्वारा वह विविध लीलाएं करता है । वह रस-रूप , आनंदरूप तथा सौन्दर्य-रूप है । आराध्य के इस व्यापक एवं रंजक रूप ने उसे जनसुलभ बनाकर भक्ति के क्षेत्र में उसकी प्रतिष्ठा की, साथ ही भक्ति को लौकिकता की ओर उन्मुख होने का अवसर दिया । बल्लभ-सम्प्रदाय में ब्रह्म के तीन मुख्य रूप हैं :–

१. पूर्ण पुरुषोत्तम, रस रूप, परब्रह्म श्रीकृष्ण
२. अक्षर ब्रह्म,
३. अन्तर्यामी रूप

बल्लभाचार्य का ब्रह्म, रूप और नाम के भेद से इस जगत में भ्रमण करता है । उसमें आविर्भाव और तिरोभाव की शक्ति है । इसी शक्ति के द्वारा वह एक से

---

१. सूर और उनका साहित्य- डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० १०३

अनेक और अनेक से एक होता है ।[१] जो परमसत्ता अगम, अगोचर मन, वाणी से परे है वही ध्यान , योग तथा नाम-जप से गम्य गोचर हो जाती है । 'पुरुषोत्तम सहस्र नाम' में वल्लभाचार्य ने उस परमसत्ता के अनेक नामों का उल्लेख किया है । वल्लभ-सम्प्रदाय में कीर्तन पर बहुत बल दिया गया है । भगवान् के नाम-गुण, माहात्म्य,लीला-धाम, उसके रूप का यशगान श्रद्धा के साथ किया जाना ही कीर्तन कहलाता है । कीर्तन की इस प्रणाली में साधक का मन स्वयमेव अन्य विषयों से हटकर एक विचित्र आह्लादिनी स्थिति में तल्लीन हो जाता है । भक्ति-शाखा के आचार्यों ने इस साधन को परमानंद की प्राप्ति का एक प्रमुख उपकरण माना है । वल्लभाचार्य ने स्वयं कहा है -" जब तक भगवान् अपनी महती कृपा भक्तों को दें तब तक साधन दशा में ईश्वर के गुण-गान के कीर्तन ही आनंद देने वाले होते हैं । जैसा सुख भक्तों को भगवान् के नाम-गुण गान में होता है वैसा सुख भगवान् के स्वरूप-ज्ञान की मोक्ष अवस्था में भी नहीं होता ।"

वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग का अनुगमन करने वाले प्रमुख आठ साधक भक्त थे । इनकी साधना में वल्लभ के समस्त दार्शनिक तथा भक्ति सम्बन्धी विचारों का सम्यक् विवेचन हुआ है । ये भक्त अष्टछाप कवियों के नाम से विख्यात हुए । जिनका नाम सूरदास, परमानन्ददास, नंददास, कृष्णदास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, गोविंदस्वामी तथा छीतस्वामी था ।

सूरदास -

इनमें सूरदास का सर्व प्रमुख स्थान है । इनमें कृष्ण सगुण साकार रूप में साधक के साथ विविध लीलायें करते हैं । सूर का विश्वास है कि जिस ब्रह्म के सगुण-निर्गुण दोनों रूप हैं वही इस जगत में अवतार भी धारण करता है अपने भक्तों के आवाहन के फलस्वरूप -)

---

१. आविर्भावतिरोभावैर्मोहनं बहुरूपतः । त०दी०नि० शास्त्रार्थ प्रकरण, श्लोक ७६, पृ० २४६

गोविंद तेरोइ स्वरूप निगम नेति नेति गावै
भक्तन के वश स्याम सुन्दर देह धरे आवे ।[1]

सूर को अपने इष्टदेव के नाम-रूप-लीला तथा उसके धाम के प्रति अनन्य भक्ति है। साथ ही उसके विविध अवतारों में भी उनकी पूर्ण श्रद्धा है। सूर ने प्राय: नाम-साधना के साथ राम की स्तुति की है। सूर के गोविंद, हरि, शिव, राम, सभी कृष्णा के ही तो स्वरूप हैं। इस विषय में आगे विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा।

परमानन्द दास -

परमानन्ददास का ब्रह्म के प्रति स्पष्ट कथन है कि जो ब्रह्म प्राकृत गुणों से रहित, निर्गुण स्वरूप है वही इस लोक में अवतार धारण कर सगुण रूप से लीलाएं करता है और सबका आदि स्वरूप वह परब्रह्म भगवान् कृष्णा ही हैं। ये कृष्णा के रूपोपासक थे। कृष्णा के रूप सौन्दर्य का रसास्वादन सच्चा साधक ही कर सकता है ज्ञानी और योगी इससे वंचित रह जाते हैं। उन्होंने श्रवण, कीर्तन, स्मरण पर विशेष बल दिया।[2] परमानन्द का पूर्ण विश्वास है कि जिन लोगों ने कृष्णा-कथा का, उसके नाम का तथा उनका गुण-गान-श्रवण नहीं किया उनका संसार में अस्तित्व ही नहीं है। यहाँ तक कि उनका जीवित रहना भी पाप है। अतएव कृष्णा-कथा तथा गुण-नाम का श्रवण-स्मरण जीवन को सार्थक बनाने के लिए आवश्यक है। उनकी अपने प्रभु से यही प्रार्थना है कि यदि आप मुझे अपनी

---

१. सूरसागर, पृ० ३६३

२. मंगल माधो नाउं उच्चार ।
मंगल बदन कमल कर मंगल मंगल जन की सदा संभार
देखत मंगल पूजत मंगल गावत मंगल चरित उदार
मंगल श्रवन, कथा पुनि मंगल, मंगल तन वसुदेव कुमार ।
—परमानन्द, सागर पृष्ठ ६०६

भक्ति देते हैं तो अपनी कथा तथा नाम-श्रवण में मेरी रुचि भी मुझे दीजिए और यदि आप मुझे स्मरण और ध्यान का भागी बनाते हैं तो मुझे आपके स्वरूप का सदा ध्यान और स्मरण मिले।[१] परमानन्द दास ने गोपियों द्वारा कृष्ण नाम का स्मरण तथा उनके रूप का स्थान-स्थान पर ध्यान कराया है।

परमानन्द दास ने वल्लभ-मत में दीक्षित होने के कारण उसमें मान्य नवधा-भक्ति को भी स्वीकार किया है। एक स्थान पर उन्होंने 'दसधा भक्ति' का भी उल्लेख किया है। इसी संदर्भ में उन्होंने स्मरण-भक्ति का उल्लेख करते हुए कहा है कि मैं सदैव जसोदा-नंदन का ही स्मरण करता हूं। इस भावना का परिचायक उनका यह पद बड़ा महत्वपूर्ण है —

हरि तेरी लीला की सुधि आवत।
कमल नैन मन मोहनी मूरति मन मन चित्र बनावति।...
एक बार जाय मिलत मायाकरि सो कैसे विसरावति,
मृदु मुसुकानि बंक अवलोकनि चालि मनोहर भावति।
कबहुंक निबड़ तिमर आलिंगनि कबहुंक पिक स्वर गावति,
कबहुंक संभ्रम क्वासि क्वासि करि संगहीन उति धावति।
कबहुंक नयन मूंदि अन्तरगति बन माला पहिरावति,।
परमानन्द प्रभु स्याम ध्यान करि ऐसे विरह गंवावति।[२]

भगवान् के नाम उसके गुण माहात्म्य, उसकी सर्वव्यापकता लीला आदि का सदैव स्मरण ही इनको अपेक्षित था। साधक की यह सबसे बड़ी विवशता है कि वह एक बार जिस माधुरी मूर्ति का दर्शन कर चुका है उसे एक पल के लिए भी

---

१. कृष्ण कथा बिनु कृष्ण नाम बिनु कृष्ण भगति बिनु दिवस जात
ते प्रानी काहे को जीवत नहीं मुख वदन कृष्ण की बात।
—परमानन्द सागर, पृ० ६१३

२. परमानन्द सागर, पृ० ४३२

अपने से विलग नहीं कर सकता । परमानन्द की स्मरण-भक्ति और निरन्तर कृष्ण-नाम-लीला तथा उनके स्वरूप-ध्यान को प्रकट करने वाला यह एक अद्वितीय पद है । उनका विश्वास है कि नाम सब विघ्नों को नष्ट करने वाला है । साधक के सभी पाप-पुंज नष्ट होकर उसे इस योग्य बनाते हैं कि वह इस असार संसार से अपने को मुक्त कर सके । भगवान् का नाम ही वह कल्पवृक्ष है जो समस्त कामनाओं को सिद्धि प्रदान करता है ।[1]

नंददास :-

" वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार परब्रह्म श्रीकृष्ण अपने आनंद अथवा रस-रूप से नाम और रूप के गुण और आकार को धारण कर गोलोक में नित्य आत्मा-नंद में मग्न रहते हैं । अपने शब्द-रसरूप को मुरली नाद में तथा रूप-रस-रूप को गोपीरास तथा गोलोक में होने वाली अन्य लीलाओं में प्रकट करते हैं ।"[2] नंद-दास ने भी भगवान् का नैकट्य प्राप्त करने के दो मार्गों का निर्देश किया है । एक तो उसकी रूपोपासना जो कि अत्यन्त ही कठिन है क्योंकि सर्वत्र, सर्वव्यापी भगवान् के रूप को पहचानने वाले साधक विरले ही होते हैं । ऐसी स्थिति में भगवान् की महती कृपा आवश्यक है । भगवान् के लौकिक रूप में उसके अनंत सौन्दर्य का पान करना ही उसकी सच्ची भक्ति है, समस्त इन्द्रियों को उसी अखण्ड अनादि, रूप का आभास होने लगे, सच्चे साधक की यही पहचान है । सम्पूर्ण प्रकृति उस असीम सौन्दर्य को ही प्रतिभासित करने लगती है । नंददास ने प्राकृतिक वस्तुओं के प्रत्येक व्यापार में अपने इष्ट कृष्ण का संसर्ग और रूप देखने का प्रयास किया है । रूप-मंजरी में एक स्थान पर कवि की उक्ति बड़ी मार्मिक बन पड़ी है जहाँ वह कहता है कि रूपमंजरी अपने हृदय में स्थित कृष्ण के रूप का वर्णन हृदय खोलकर इस भय से नहीं करती कि कहीं हृदय और मुख खोलने पर हृदय में स्थित कृष्ण मूर्ति निकल न जाय -

---

१. प्रात समै उठि हरि नाम लीजै आनंद सौं सुख में में दिन जाई...।
   भगत बछल ऐसो नाम कल्पद्रुम बर दायक परमानंद दास । परमा०सागर, पृ० ६०६

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग २, डा० दीनदयाल गुप्त, पृष्ठ ७६६

कह्यौ चहत पुन न कहत, रहत डरत यह भाय,
मोहन मूरति हीय तै, कहत निकस जिन जाय ।[१]

नंददास ने अनेक स्थलों पर बल्लभाचार्य के अनुसार अद्वैत ब्रह्म की पुष्टि की है । और कृष्ण को परब्रह्म के रूप में अभिव्यक्ति प्रदान की है ।[२] नंददास ने ब्रह्म में निर्गुण अजन्मा, एकरस, अखण्ड, नित्य, रस रूप, अन्तर्यामी आदि विशेषताओं का आरोप करते हुए भी उसे एक बताया है । कृष्ण अपार सौंदर्य रूप, गुण की खान हैं । समय समय पर वे ही अवतार धारण करते हैं भाव-भक्ति प्रदान कर भक्तों को कृतार्थ करते हैं, इसके अतिरिक्त नन्ददास ने कृष्ण के अन्य अवतारों की भी चर्चा की है । उनका विश्वास है कि कृष्ण अपने पूर्ण रूप से कभी कृष्ण, कभी राम, कभी नृसिंह आदि रूपों में व्यक्त होकर भक्तों के संकट का निवारण करते हैं । एक ही वस्तु अनेक नाम और रूपों में इस प्रकार जगमगा रही है जैसे स्वर्ण से बने हुए अनेक आभूषणों में स्वर्ण ।[३]

अन्य अष्टछाप के कवियों की भांति ही नंददास ने भी भक्ति की विशेष महिमा का गान किया है । वही सर्वसुलभ एवं सरल मार्ग है जो केवल हरिभजन द्वारा प्राप्त हो जाता है । भक्ति के बिना ज्ञान-योग आदि बड़े कष्ट साध्य बन जाते हैं । अतएव नंददास कीअपने प्रभु से यही प्रार्थना है कि वह उसे अपनी सच्ची भक्ति दे । 'रासपंचाध्यायी' के माहात्म्य वर्णन में नंददास ने कहा है यह वृत्ति मेरे श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि भक्ति साधनों का फलस्वरूप सार है ।[४] अष्टछाप

---

१. रूपमंजरी-नंददास, पृष्ठ २३०

२. नाम रूप गुन भेद जे, सोइ प्रकट सब ठौर
ता बिन तत्व जु आन कछु कहै सो अति बड़बौर । मानसमंजरी नाममाला, पृ०३४५

३. एकै वस्तु अनेक ह्वै जगमगात जगधाम
ज्यों कंचन से किंकिणी कंकण कुण्डल नाम । अनेकार्थ मंजरी-नंददास, पृ० ६५

४. श्रवण कीर्तन सार, सार सुमिरन को है पुनि
ज्ञान सार हरिधान सार श्रुतिसार गुनि । रासपंचाध्यायी, अध्याय ५, नंददास, 'शुक्ल', पृ० १८२

के प्राय: सभी कवियों ने प्रेम भक्ति का सम्बल ग्रहण किया है। क्योंकि उनका विश्वास है कि भगवान् केवल प्रेम से मिलता है। वह प्रेम चाहे उसके रूप के प्रति हो चाहे नाम या लीला के प्रति। इस प्रेम-भक्ति का साधन नवधा-भक्ति को माना गया है। जिनमें प्रथम तीन, श्रवण, कीर्तन और स्मरण-भगवान् के नाम और लीला से विशेष सम्बन्ध रखती हैं। पाद-सेवन, अर्चन और वंदन उनके रूप से सम्बद्ध है। भक्त साधकों द्वारा ये दोनों प्रकार ही विशेष रूप से मान्य हुए हैं।

नंददास ने श्रवण भक्ति को अमृत रस माना है। उनका कथन है कि वह परमानन्द की प्राप्ति में सहायक है। 'रासपंचाध्यायी' की समाप्ति भी वे अपने इसी विश्वास द्वारा करते हैं —

जो यह लीला गावै चित्त दै सुनै सुनावै।
प्रेम भक्ति सो पावै, अरु सब के जिय भावै।
श्रवण कीर्तन सार, सार सुमिरन को है पुनि।
ग्यान सार हरिधान सार, श्रुतिसार गुथी गुनि।[1]

भगवान का नाम सब कामनाओं को पूर्ण करने वाला है। विशेष रूप से कलियुग में सांसारिक कष्टों तथा यातनाओं से मुक्ति पाने के लिये अन्य कोई साधन इतना सबल नहीं है। केवल केशव का नाम ही समस्त दु:खों से छुटकारा दिला देता है। नंददास ने भी कृष्ण-नाम के प्रति विशेष अनुरक्ति दिखायी है। क्योंकि उसमें दिव्य आकर्षण और भक्त को प्रेमोन्मत्त करने की क्षमता है। यत्र-तत्र नंददास ने गोपिकाओं के माध्यम से उसका चित्रण किया है।[2] नंददास ने प्राय: अपने सभी ग्रन्थों के प्रारम्भ में भगवान कृष्ण की वंदना की है जिनमें उनके रूप, नाम-लीला, के माहात्म्य पर प्रकाश डाला है। कृष्ण के प्रति की गई विभिन्न पात्रों द्वारा, स्तुतियों में भी अर्चन, वंदन, भक्ति का स्वरूप दृष्टिगोचर

---

१. नंददास, रासपंचाध्यायी- शुक्ल, पृ० १८२

२. कृष्ण नाम जब तै सुन्यो री आली
भूली री भवन हौं बावरी भई री,......
नंददास जाके श्रवन सुनै ऐसी गति,
माधुरी मूरति कैधौं कैसी दई री। नंददास-पदावली, भाग २, पृ० ३४१

होता है। भगवान् कृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण की चरम स्थिति पर पहुंच कर साधक लौकिक सम्बन्धों की भावभूमि से ऊपर उठ जाता है। भंवरगीत प्रसंग में नंददास ने इस भाव को व्यक्त किया है –

> कौन ब्रह्म की जोति ज्ञान कासों कहौं ऊधौ।
> हमरे सुंदर स्याम प्रेम को मारग सूधौ।
> नैंन नैंन श्रुति नासिका, मोहन रूप दिखाइ।
> सुधि बुधि सब मुरली हरी प्रेम ठगोरी लाइ
> सखी सुनि श्याम के।[१]

इसी प्रकार नंददास की गोपियां स्मरण की विरह दशा में अपने रोम-रोम में कृष्ण रूप की व्याप्ति का अनुभव करने लगती हैं। यह विरह लौकिकता से ऊपर उठकर आध्यात्मिक जगत की वस्तु बन जाता है।[२] विरह दशा की यह स्थिति निरन्तर अभ्यास के द्वारा परमात्मा में सच्ची लगन लगा देती है। वह निरन्तर उसके नाम का जापक बन जाता है। भक्ति पथ में यह विरह ही साधक को उसके गन्तव्य की प्राप्ति कराता है। 'अनेकार्थ मंजरी' में कवि ने 'नाम-भक्ति' सम्बन्धी अनेक दोहे लिखे हैं। इसमें कृष्णभक्ति के उपदेश के साथ नाम-महिमा तथा मानसिक विकारों के त्यागने का आग्रह मिलता है। कलियुग में केवल 'केशव' नाम ही उद्धारक है। मानव जीवन तभी सफल है जब वह भगवान का भजन करे। जो भगवान् को नहीं भजता वह गर्दभ के समान है। अत: सच्चे मन से भगवान् का स्मरण, ध्यान तथा प्रेम करने की चेतावनी दी है।

कृष्णदास :–

ये वल्लभाचार्य के शिष्य थे। शूद्र होते हुए भी ये अपनी कृष्ण-भक्ति के कारण गुरू द्वारा विशेष सम्मानित हुए। इन्होंने प्राय: पदों की ही रचना की है यही कारण है कि इनके विचारों में कथात्मकता का अभाव है।

---

१. भंवरगीत- नंददास, 'शुक्ल', भाग १, पृष्ठ १२५

इसके अतिरिक्त भी सूर तथा नंददास की भाँति ब्रज के प्रति व्यक्त किये गये इनके विचार उतने संयुजित तथा दार्शनिक नहीं हैं, यद्यपि अन्य कवियों की भाँति ही ये भी कृष्णा के इस रूप के उपासक थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने कृष्णा की युगल रूप से ही उपासना की है।इसी रूप की इन्होंने स्तुति तथा वंदना की है। राम और कृष्णा में विभेद स्थापित करते हुए कहा है कि नंद के घर में जो स्वरूप विद्यमान है वही राम हैं और तीनों लोकों में रम रहा है।[1]

अष्टछाप में भक्तों की कृतियों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि उनकी रागानुगा भक्ति प्रेम के विविध सम्बन्धों में प्रकट हुई है। परन्तु कृष्णा-भक्त साधकों की वृत्ति मधुर प्रेम की भक्ति में ही अधिक रमी है। कृष्णादास ने तो युगल रूप की उपासना को विशेष महत्व दिया है। उन्होंने कृष्णा को ही अपनी गति माना है। वे उनके नाम का एकमात्र अवलम्ब लेकर साधना-पथ में आगे बढ़े।[2] कृष्णादास की कृष्णा के रूप के प्रति भी उतनी ही लगन थी –

(१) हरिमुख देखे ही जीजे।
सुनहु सुन्दरी नैन सुभग पुट स्याम सुधा पीजे।

(२) मेरे तो गिरधर ही गुन गान।
यह मूरत खेलत नयनन में यही हृदय में ध्यान।
चरण रेणु चाहत मन मेरा यही दीजिये दान।
कृष्णादास को जीवन गिरधर मंगल रूप निधान।[3]

कृष्णादास ने भगवान् कृष्णा के नाम-रूप तथा लीला का सर्वत्र गुणगान किया है। भक्तिभावना के अतिरेक में येह साधक स्वयं को पात्रों द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। कभी गोपी बनकर उसके रूप की प्रशंसा करते हैं कभी साधक के रूप में

---

१. राम राम रमि रह्यो त्रैलोक,
राम राम रमणिय भेष नट राजत नंदराय के अनेक। अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग २, डा० दीनद० गुप्त, पृ०४१८

२. ज्यों ज्यों राखो त्यों त्यों रहूँ जु देहु सु खाउं।
तुमही मेरे पति गति लेउं तेरो नाउं। – वही, पृ०सं० ५७३

३. वही, पृ०सं० ५५१

उससे आत्म निवेदन करते हैं। एक स्थान पर कृष्णदास ने कहा है — हे सखी मुझे बालकृष्ण का 'मोहन' नाम बहुत अच्छा लगता है। इसलिये तू यही नाम बार-बार सुना।[1]

छीत स्वामी:—

छीत स्वामी ने सम्पूर्ण जगत को कृष्णमय देखने की चेष्टा की है। सर्वत्र उसी शक्ति का अनुभव किया है।[2] ये अद्वैत सिद्धान्त के अनुयायी थे। वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत से इनका कोई विरोध नहीं था क्योंकि ये भी उसी मत में दीक्षित थे तथा ये भी विट्ठलनाथ जी के ही शिष्य थे। इनके कृष्ण भी परब्रह्म श्रीकृष्ण थे। वे रस रूप तथा आनंद स्वरूप कृष्ण में अपनी आस्था रखते थे। इनके कृष्ण भी सम्पूर्ण जीवों के उद्धार के लिये इस लोक में अवतार लेते हैं।

कृष्ण की स्तुति के समय इन्होंने कई नामों का प्रयोग किया है। कृपालु, कृपानिधि, दीनबन्धु, बिहारी, नटवर, मोहन, गोपीनाथ, वल्लभलाल, गिरिधर आदि सम्बोधन भी मिलते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि छीतस्वामी के समक्ष कृष्ण का महत्व है उनके स्वरूप का महत्व है; नाम तो उसके अनेकों हो सकते हैं, कभी लीलापरक कभी रूपपरक, तथा कभी उसके गुणों से सम्बन्धित । अपनी आस्था के अनुसार साधक उसे पुकार लेता है अथवा यों भी कहा जा सकता है कि भक्त की आवश्यकतानुसार वह जितने रूप ग्रहण करता है उतने ही नामों का बंधन भी उसे स्वीकार करना पड़ता है।[3] एक ही परम तत्व अनेक रूप और

---

१. तेरे नैनन की बलि जाऊं।
मोहन लाल बालरस भीने जिय भावत यह नाउं। अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, भाग २, डा० दीनदयाल गुप्त, पृ०सं० ५६१

२. आगे कृष्ण, पीछे कृष्ण, इत कृष्ण, उत कृष्ण, जित देखो तित कृष्ण माई
श्री छीतस्वामी पद संग्रह, पृष्ठ ५०

३. श्रीकृष्ण कृपालु कृपानिधि, दीनबंधु दयाल
दामोदर बनवारी मोहन, गोपीनाथ गुपाल,
राधा रमन बिहारी, नटवर सुन्दर जसुमति बाल,
माखन चोर गिरिधर मनहारी सुखकारी नंदलाल,
गोचारी, गोविंद, गोपपति भावन मंजुल ग्वाल,
छीतस्वामी सोई अब प्रगटे कलि में वल्लभ लाल।
अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, भाग२, डा०दी०द०गुप्त, पृ० ४२१

नामों में साधारणतः संचरण करता है।

कृष्ण की नित्य लीला में प्रवेश पाने की कामना ही साधक को वांछित है। कृष्ण के रूप का सौन्दर्य पान कर साधक इतना आत्मविभोर हो जाता है कि उसे अन्य सभी लौकिक सुखों के प्रलोभन का विस्मरण हो जाता है। उस सौन्दर्य का आकर्षण ही ऐसा है कि वह नित नवीन रूप में द्विगुणित होता जाता है।[1] कृष्ण के रूप से सम्बन्धित अनेक पद छीत स्वामी ने लिखे हैं।

(१) प्रीतम प्यारे ने हों मोही।
नेंकु चिते इन चपल नैन सों कहा कहों ? हों तोही.....
'छीतस्वामी' गिरिधरन निरखि के अपुनी सुधि हों खोही।[2]

(२) मेरे नैननि इहै बानि परी
गिरधरलाल-मुखारविन्दु छवि छिनु छिनु पीवत खरी।[3]

छीत स्वामी ने भी कृष्ण के नाम-स्मरण पर बल दिया है। एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इनके पदों में नाम के साथ ही साथ कृष्ण के रूप को विशेष रूप से महत्व प्रदान किया गया है। यथा -'सुमिरि मन गोपाल लाल' के साथ 'सुन्दर अतिरूप जाल' का संकेत करना नहीं भूलते। 'निरखत रूप ठगोरी लागी उतकों डग भरि चल्यो न जाई', 'अरी हों स्याम रूप लुभानी', 'निरखत छवि अंग अंग ठई री' आदि पद इनकी रूपोपासना के उत्कृष्टतम पद हैं।

---

१. मेरे नैनन इहै परी।
गिरधर लाल मुखारविंद छवि, छिन छिन पीवत खरी।
—छीतस्वामी, पदसंग्रह, पृ० ४३

२. वही, पृष्ठ ४६

३. वही, पृ० सं० ४३

चतुर्भुजदास :-

इनके लीला-पदों में कृष्ण के प्रति आसक्ति, परम अनुरक्ति तथा अनन्य भक्ति का भाव स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है। साथ ही साथ कृष्ण की युगल रूप में भी उपासना की है। स्वाभाविक था कि कृष्ण के अनन्य रस-रूप पर साधक की सहज दृष्टि जमती। उन्होंने कहा भी है कि कृष्ण रसनिधि और रसिक हैं, वे रस से ही रीझते हैं, जो उनको हृदय से लगाता है वह रस-रूप कृष्ण की रसता में मिल जाता है। ये शुद्धाद्वैत मत के अनुयायी थे। सांसारिक भोग से मन विमुख करने पर बल देकर कृष्ण-प्रेम में मग्न रहने पर आस्था प्रकट की है।[1] चतुर्भुज दास ने गोपियों की प्रेम में तल्लीन उस अवस्था का वर्णन किया है जहाँ उन्हें समस्त चर-अचर कृष्ण-नाम में ही तिरोहित दृष्टिगोचर होता है -इसी आशय का यह पद उल्लेखनीय है -

आज सखी तोहि लागी है यह रट।
गोविन्द लेहु लेहु कोउ गोविंद कहति फिरति बन में औघट घट।
दधि को नाम बिसरि गयो देखत श्याम सुन्दर ओढ़े पीरो पट।[2]

कृष्ण के रूप के प्रति आसक्ति की भावना इनके पदों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है। वह रूप ऐसा है कि उसके अवलोकन मात्र से दैहिक, दैविक, तथा भौतिक तीनों प्रकार के ताप नष्ट हो जाते हैं। यही कारण है कि चतुर्भुज-दास की गोपियां कार्य,कर्म,लोक,लाज,सुत,पति सभी का त्याग कर उस रूप के प्रति आकृष्ट हैं।[3] निम्नलिखित पद में भगवान् के प्रति अपनी भक्ति का प्रकाशन

---

१. एकहिं आंक जपे गोपाल।
अब यह तन जाने नहिं सखि और दूसरी चाल। अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय,भागर, पृ० ४५५

२. चतुर्भुजदास-पदसंग्रह से पद नं०१२१-
अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय- डा० दीनद०गुप्त, पृ० ४८७

३. गोपाल को मुखारविन्द देखि जु जीजै,
तन मन त्रै ताप तिमिर निरखत ही नसाई।। वही, पृ०सं० ४५४

बड़े ही सुन्दर शब्दों में किया है –

स्याम सुन नियरौ आयौ मेहु।
भीजैगी मेरी सुरंग चूनरी ओट पीत पट देहु।
दामिनि ते डरपत हौं मोहन निकट आपुनो देहु।
दास चतुर्भुज प्रभु गिरधर सों बांध्यौं अधिक सनेहु ।[1]

नवधा-भक्ति के अन्तर्गत आने वाले विविध साधनों में श्रवण, स्मरण तथा कीर्तन पर इन साधकों की रचनाओं में विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। श्रवण-भक्ति के अन्तर्गत चतुर्भुज दास ने नाद-मार्ग का समावेश किया है। इस सम्प्रदाय के मतानुयायियों ने विशेष रूप से भक्ति के दो साधन मार्गों का उल्लेख किया है। एक तो नाद-मार्ग और दूसरा रूप-मार्ग। चतुर्भुज दास में भक्ति के ये दोनों ही रूप उपलब्ध होते हैं। अपने एक पद में कृष्ण से प्रार्थना करते हुए कहते हैं –गिरधर लाल जिस प्रकार से आपने मुरली के अमृत-नाद से सम्पूर्ण जगत को मोहित किया था, वह रीति मुझे बताइये, और उस नादामृत को मेरे श्रवण-पात्र में भरकर मुझे पिलाइये। मेरा ध्यान आपकी मुरली-नाद में लगा है।[2] इन्होंने अपने इष्टदेव के नाम का निरन्तर ध्यान तथा जप करने पर बल दिया है और कहा है कि गोपाल-नाम के एक अंक का स्मरण ही समस्त भव-बंधन से मुक्ति प्रदान करता है।

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (भाग २), डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ४८६
२. नेकु सुनावहु हो उठि रीति।
जिहि विधि अमृत प्याय स्रवन पुट सरबस लीनों जीत।
.... लाग्यौ ध्यान चतुर्भुज प्रभु मोहि तुम्हारे बेनु रसाल।
राखहु दास अधर धरें सम्मुख सुख निधि गिरिधरलाल।
–चतुर्भुजदास, पद संग्रह से - पद नं० ७६)
अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय(भाग २)डा० दी०द०,गुप्त, पृ० ४८६

कुम्भनदास :-

वल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत दीक्षित होने के कारण उनके सभी मतानुयायियों का साधना-केन्द्र प्राय: एक ही रहा है। श्रीकृष्ण का रूप, उनकी लीला का सुख-भोग अथवा उनके नाम, धाम के प्रति आकर्षण की भावना। कुम्भनदास कृष्ण के युगल किशोर रूप के उपासक थे। परिणामत: उनकी पदावलियों में कृष्ण-लीला की ही चर्चा अधिक है। लीला के माध्यम से कृष्ण के रूप का भी यथेष्ट वर्णन है। कृष्ण की रूपासक्ति के अनेकानेक पद मिलते हैं। कृष्ण का स्वरूप स्मरण ~~के~~ आते ही कुम्भनदास विरह का अनुभव करते हैं। ऐसी अवस्था में वे उनके ध्यान में मग्न होकर कृष्ण का स्मरण करते हुए कहते हैं " मेरे जी से वह मूर्ति नहीं हटती। उसी का ध्यान लगा रहता है। वियोग में मुझे नींद नहीं आती। उनका मिलन तथा उनका सुख एक पल भी चित्त से नहीं हटते। उनके गुणों को स्मरण करके सदा नेत्रों से नीर बहा करता है। उनके बिना मुझे कोई बस्तु अच्छी नहीं लगती।"[1] साधक निरन्तर अपने इष्टदेव के ध्यान में मग्न रहता है। कभी उसके नाम का जप, कभी रूप की उपासना और कभी उसके गुण तथा लीला का स्मरण ही एक मात्र आधार बन जाता है।

कृष्ण की वंदना में कुम्भनदास ने उनके अंग-प्रत्यंग के साथ उनकी लीला तथा पीताम्बर आदि की भी स्तुति की है। साधक की यह कामना है कि कृष्ण का स्वरूप सदैव उसके नेत्रों के समक्ष रहे क्योंकि वह परम सुखदायी है।[2]

---

१. कहा करौं वह मूरति मेरे जिय तैं न टरई,......
कछु न सुहाय तलावेली मनु, बिरह-अनल तन जरई।
कुंभनदास लाल गिरधर बिनु समाधान को करई। कुंभनदास, पदसंग्रह, पृ० २१४

२. परम भांवते जिय के हौ, मोहन। नैननि आगे तैं मति टरहु।
तौलौं जिऊं जौलौं देखौं बारम्बार पालगौं चित अनत न धरहु।
—कुम्भनदास पद संग्रह, पृष्ठ सं० ७८

गोविंदस्वामी :-

इनके पदों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि ये दार्शनिक चिन्तन की गूढ़तम गहराइयों में न जाकर रसरूप श्रीकृष्ण-सौन्दर्य की ओर अधिक आकृष्ट थे। कृष्ण के रूप के प्रति अपनी श्रद्धा एवं भक्ति व्यक्त की है। इनके अनुसार कृष्ण परब्रह्म सर्वशक्तिमान तथा सौन्दर्य के सिंधु हैं।[१]

अष्टछाप के कवियों ने जहाँ कृष्ण के नाम, रूप, लीला, धाम से सम्बन्धित पद गाए हैं, वहाँ उनकी कीर्तन महिमा तथा मनकी तल्लीनता एवं एकाग्रता का भी समुचित प्रकाशन हुआ है। कीर्तन-भक्ति का प्रभाव ये साधक सर्वत्र मानते हैं। गोविन्दस्वामी ने एक स्थान पर यमुना की विनय करते हुए गाया है -

श्री यमुना जी यह विनती चित धरियै।
गिरधरलाल मुखारविंद रति जनम-जनम नित करियै।

< < <

गाऊं गुण गोपाल लाल के अष्ट व्याधि ते हरियै।[२]
गोविंददास यह वर मागे तुम्हारे चरण अनुसरियै।

स्मरण-भक्ति, नवधा-भक्ति का एक अंग है। नाम-साधना के संदर्भ में इसका महत्व अधिक है। कृष्ण के नाम की कीर्तन स्मरण अथवा उनके रूप और लीला का स्मरण भक्ति के अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण अंग स्वीकार किये गए हैं। साधक की आराध्य के प्रति रूपासक्ति की पिपासा इस सीमा तक बढ़े कि नेत्रों को उसके रूप के अतिरिक्त और कुछ दिखाई न दे यह भक्ति भावना की चरम स्थिति है। वियोग की अवस्था में यह आसक्ति तीव्रतर हो जाती है। गोविन्दस्वामी

---

१. कहि न परे हो रसिक कुंवर की कुंवराई।
कोटि मदन नव धाति विलोकत परसति नख इन्दु किरण की जुन्हाई.....
सुघर सुजान सुरूप सुलक्षण 'गोविंद' प्रभुप्रिय सर्वविधि सुन्दरताई।
—गोविंद स्वामी पद संग्रह, पृ० १६६

२. गोविन्द स्वामी, पद संग्रह, पृ० सं० २०७

ने भी कुछ पदों में अपने इष्टदेव के निरन्तर ध्यान का भाव प्रकट किया है। इस संदर्भ में उनका यह पद दृष्टव्य है –

मोहन नयन ते नहीं टरत ।
बिनु देखे तलावेली सी लागत देखत मन जू हरत ।
असन बसन सैनन की सुधि आवै न कछु न करत ।।[१]

गोविन्द स्वामी के पदों में कृष्ण के प्रति रूपासक्ति की भावना सर्वत्र परिलक्षित होती है। कृष्ण-भक्तों की यह प्रमुख विशेषता है कि कृष्ण के अंग-प्रत्यंगों के सौन्दर्य का इतना सूक्ष्म वर्णन किया है कि हम सहज ही एक अद्भुत सौन्दर्यशाली व्यक्ति की कल्पना कर सकते हैं। कृष्ण के सौन्दर्य में आकर्षण की तीव्र शक्ति है जो कि सहज ही लौकिक वस्तुओं से मन को विमुख कर देती है। भक्ति के संदर्भ में नाम के समकक्ष ही आराध्य का रूप भी आता है, चाहे वह काल्पनिक हो, चाहे मूर्ति के आकार में। यह एक विशेष आधार है मन को एकाग्र करने का। यह पद दृष्टव्य है –

मेरो मन मोह्यो री इन नागर ,
कैसे मन धीरज धरों सुनि मेरी, आली, बिनु देखे रह्यो न परे रूप सागर[२]।

गोविन्दस्वामी ने अपनी साधनागत उपलब्धियों का श्रेय अपने गुरु को दिया है। मध्यकालीन समस्त साधनों की यह प्रमुख विशेषता रही है कि भगवान् के समकक्ष ही गुरु को भी स्वीकार किया है क्योंकि वह मार्ग द्रष्टा है, कृष्ण के नाम का अमृत शिष्य के कानों में घोलता है, कलियुग से निस्तरण का साधन

---

१. गोविन्द स्वामी पद संग्रह, पृष्ठ संख्या १४६

२. गोविन्द स्वामी पद संग्रह से – पद नं० २०४ ।
अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय(भाग २) – डा० दीनदयालगुप्त, पृष्ठ– ६५६

बताता है।[१]

सूरदास की भक्ति –

सूरदास की भक्ति भावात्मक पूर्णता का पर्याय है, भावना की उच्चतम अवस्था का प्रतिरूप है, सृष्टि की आदिम आकांक्षा का माधुर्य रूप में सन्निवेश है, भारतीय दर्शन की अद्वैत भावना का सगुण-कृष्ण-लीला के माध्यम से साधनात्मक संस्पर्श है, सांसारिक आकर्षणों को समाहित करते हुए आकर्षण की चरमावस्था का परमबोध है और कृष्ण का सार्थक स्वरूप है।

भक्ति की समस्त सीमाओं का संस्पर्श सूर ने कर लिया है। भक्त के दैन्य और उसकी नगण्यता का भाव सूर के अनेक पदों में मिल जाता है। उनका पूर्ण आत्मसमर्पण कृष्ण के प्रति हुआ है। दैन्य भावना की पराकाष्ठा के कई पद हैं –

१. जैसे राखहु तैसें रहौं।
जानत हौ दुख-सुख सब जनके, मुख करि कहा कहौं ?
कबहुंक भोजन लहौं कृपानिधि, कबहुंक भूख सहौं।
कबहुंक चढ़ौं तुरंग, महागज, कबहुंक भार बहौं।
कमल नयन घनस्याम मनोहर, अनुचर भयौ रहौं।
सूरदास-प्रभु भक्त कृपानिधि, तुम्हरे चरन गहौं।[२]

---

१. जौ पै श्री विट्ठल रूप न धरते,
तौ कैसेक घोर कलियुग के महामति निस्तरते।

< < <

श्री विट्ठलनाथ नामु अमृत जिनि लीजै, रसना सरस सुफलते।
कीरति विसद सुनी जिनि श्रवणान विश्व विषै परहरते
गोविंद बलि दरसन जिनि पायौ उमगि-उमगिरस भरते।
–गोविन्दस्वामी, पदसंग्रह, पृ० ४६

२. सूरसागर पद १६१

सूर की भक्तिभावना में स्वत्त्व की भी चरम सीमा दृष्टिगोचर होती है। श्रीकृष्ण के समकक्ष सख्य भाव की व्यंजना में ये भाव उभर कर आए हैं। सूर कहते हैं कि तुम त्यागी पतितपावन, और बहुत बड़े दानशील कहे जाते हो किन्तु मैं तो तुम्हें पतितउधारन तब समझूँगा जब तुम मेरा उद्धार करो। 'तो जानों जो मोहि तारिहो' वैसे तो तुमने बड़े-बड़े पापियों का उद्धार किया है — निम्नलिखित पद उनकी स्वत्त्व की भावना का अद्वितीय कथन ~~कथन~~ है —

आजु हौं एक एक करि टरिहौं।
कै तुमहीं कै हमहीं माधौ, अपुन भरासें लरिहौं।
हौं तौ पतित सात पीढ़िनि कौ पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नच्यौ चाहत हौं, तुम्हें बिरद बिन करिहौं।
कत अपनी परतीति नसावत, मैं पायौ हरि हीरा।
सूर पतित तबहीं उठिहै, प्रभु, जब हंसि देहौ बीरा।[1]

यदि ईश्वर के अस्तित्व का निषेध कर दिया तो बात बिगड़ जायगी। भक्ति की भावना का ही लोप हो जाएगा। अत: ऐसी स्थिति सूर नहीं आने देते। आराध्य के अस्तित्व का नकार नहीं है तभी तो 'कै प्रभु हार मानिकै बैठौ' कहने के तुरन्त पश्चात सूर 'पतित कौं और ठौर नहिं है हरिनाम सहारौ' स्वीकार कर लेते हैं। यहां स्वत्त्व की भावना और दैन्य का प्रदर्शन एक साथ सामन्जस्यपूर्ण उक्ति द्वारा ~~बल~~ कर दिया गया है। भक्त अपने भगवान की स्थिति कैसे नकार सकता है -- 'कृष्णावत् सर्व भूतेषु' की भावना प्रबल है। 'जित देखूं तित श्याममयी' की स्थिति

---

१. सूरसागर, पद १३४

हौं तौ पतित सिरोमनि माधौ।
अजामील बातनि हीं तार्यौ, हुतौ जु यौ तैं आधौ।
कै प्रभु हार मानि कै बैठौ, कै अबहीं निस्तारौ।
सूर पतित कौं और ठौर नहिं, है हरिनाम सहारौ। १३६ सूरसागर

सूर की भक्ति में स्पष्ट रूप से उभर कर आई है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' यह वेदान्त का कथन है, 'तदवत् सर्वभूतेषु' भक्ति है।

सूर-साहित्य में भक्ति की प्रगाढ़ता इतनी सघन एवं निबिड़ है कि उससे बढ़कर कोई परितोष नहीं। यहाँ तक कि वह मोक्ष से भी बढ़कर है। सूर की दृष्टि में आराध्य और आराध्य की भक्ति से बढ़ कर और कुछ नहीं है। उनके प्रत्येक पद 'हरि, हरि, हरि, हरि, सुमिरन करौं', इसी भावना के व्यंजक हैं।

भक्ति में विशदता का पक्ष बड़ा प्रबल है। कृष्ण के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण और अनन्य भाव के घोतक अनगिनत पद हैं। कृष्ण के प्रति उनकी एकान्त-निष्ठा दर्शनीय है। मन की इतनी विवशता तन्मयासक्ति का बोध कराती है—

मेरौ मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी, पुनि जहाज कौं आवै।
कमल नैन कौ छाँड़ि महातम, और देव कौ ध्यावै।
परम गंग कौं छाड़ि पियासौ, दुरमति कूप खनावै।
जिहिं मधुकर अंबुज रस चाख्यौ, क्यौं करील फल भावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै।[1]

सूर के लिये कृष्ण की भक्ति ही उनका प्राण है। कृष्ण में अनन्याश्रयता उनकी भक्ति की बहुत बड़ी विशेषता है। उनकी विवशता कृष्ण के नाम, रूप-लीला-धाम सभी के लिए उत्कट रूप में अभिव्यक्ति पाती है। श्रीकृष्ण के इतना समर्थ भी तो कोई नहीं है।

सूर की रूपासक्ति एक अतिरिक्त अर्थ रखती है। उसमें आन्तरिकता अधिक है। उनका चक्षु विहीनत्व भी उनकी इस आन्तरिक रूपोपासना का एक कारण माना जा सकता है। उनकी यह बहुत बड़ी विवशता है कि नन्दनन्दन के रहते हुए हृदय में और किसी का प्रवेश कैसे हो सकता है, वह मूर्ति भी कैसी कि तिरछे

---

1. सूरसागर, पद १६८, १६७

हो कर गड़ गई है उसे निकालना भी तो असम्भव है। मन, कृष्ण के प्रेम से इतना पूर्ण हो गया है कि अब सूर को और किसी वस्तु की चाहना शेष नहीं रही।[1] सूर ने अनेकों पदों में ऐसे भाव प्रकट किये हैं।

सूर ने दीनता का प्रदर्शन अनेक पदों में किया है। पुष्टिमार्गीय भक्ति की यह प्रथम आवश्यकता है। इसी क्रम में आत्मनिवेदनात्मक पदों की भी रचना की गई है। किन्तु सूर के व्यक्तिगत काव्य में आत्मनिवेदन की तुलना में लीला-तत्त्व की प्रधानता है। प्रश्न यह उठता है कि लीला आत्मपरक तत्वों से युक्त है कि नहीं? पदों को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि सूर श्रीकृष्ण की प्रत्येक लीला में उपस्थित हैं, सबकुछ उनको प्रत्यक्ष है। पूरा का पूरा वर्णन स्वानुभूतिजन्य लगता है –

जेंवत नंद स्याम की कनियाँ।
कछुक खात, कछु धरनि गिरावत, छबि निरखत नंद रनियाँ।...
जो रस नंद-जसोदा बिलसत, सो नहिं तिहूँ भुवनिया।
भोजन करि नंद अचमन लीन्हौ, माँगत सूर जुठनिया।[2]

सूर का समस्त लीला-वर्णन एक साक्षात्कार के स्वर पर आत्मगत प्रतीत होता है। पुष्टिमार्गीय लीलाभाव की साधना में भक्त गोपी-भाव को अपनाता है। तल्लीनता की चरमपरिणति इसी भाव में है। सूर काव्य में कहीं भावों को संजोने में प्रयत्न नहीं दिखता। उसमें एक प्रकार की सहजता है, प्रगाढ़ता है।

वार्ता-साहित्य के अनुसार सूर से प्रश्न किया गया कि उन्होंने गुरु की प्रशस्ति में विशेषरूप से पद-रचना क्यों नहीं किया तो उत्तर में कहा गया है, मैंने उसे 'न्यारा' नहीं समझा। हरि-गुरु को अभिन्न मानते हुए भी हरि में गुरु भाव को स्थापित करके उसके महत्व को विशदकर दिया। गुरु में हरिभाव

---

1. मन में रह्यौ नाहिन ठौर।
नंद नंदन अछत कैसैं, आनियै उर और।
चलत चितवत दिवस जागत, स्वप्न सोवत राति।
हृदय तैं वह मदन मूरति, छिन इत उत जाति।
कहत कथा अनेक ऊधौ, लोग लोभ दिखाइ ....
सूर इनकै दरस कारन करत लोचन प्यास। सूरसागर, पद ४३५३
2. सूरसागर, पद ८५६

कौ परिसीमित नहीं किया । इस उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है –

> हरि की भक्ति वृथा नहिं जाइ । जन्म-जन्म सौ प्रगटै आइ ।
> तातैं हरि-गुरु-सेवा कीजै । मेरौ बचन मानि यह लीजै । [१]

दूसरा प्रश्न था कि (सूरदास के) नेत्रों की वृत्ति कहाँ है ? इसमें अन्तर्निहित दो प्रश्नों की व्यंजना है । प्रथम तो सांसारिक वृत्ति, दूसरी आध्यात्मिक । सूर का चाक्षुश बोध उनके इतर इन्द्रिय बोध से विशेष मान लिया गया था और वही उनकी भक्ति-भावना का प्रतीक हो गया था । अन्यथा प्रश्न तो चित्त की वृत्ति पर होना था न कि नेत्रों की वृत्ति पर । उनकी भक्ति-भावना में रूपासक्ति प्रधान थी । दूसरे रागतत्त्व प्रधान था किन्तु राग माधुर्य परक था । वह माधुर्य भी संयोग की चरम अवस्था से सम्बद्ध था जैसा निम्नलिखित पद से ज्ञात होता है जो उन्होंने उत्तर स्वरूप गाया था –

> खंजन नैन सुरंग रस माते ।
> अतिसय चारु विमल, चंचल ये, पल पिंजरा न समाते ।।
> बसे कहूँ सोइ बात सखी, कहि रहे इहाँ किहिं नातैं ।
> सोइ संज्ञा देखति औरासी, बिकल उदास कला तैं ।
> चलि चलि जात निकट स्रवननि के, सकि ताटंक फँदाते ।
> सूरदास अंजन गुन अटके, नतरु कबै उड़ि जाते । [२]

इसमें तन्मयासक्ति और परमविरहासक्ति एकनिष्ठ है । उसका कारण है, इसमें कृष्ण के मिलन की अनुभूति और उत्कट विह्वलता भी है । राधाकृष्ण के सम्मिलन के चरम सुख की अनुभूति के अनन्तर नेत्रों की विकलता के वर्णन का पद है । सूर ने राधा में अपने भाव को केन्द्रित किया है ।

---

१. सूरसागर, पद ४१६
२. सूरसागर, पद ३२८६

भक्ति के साधन— गुरु, सत्संग :-

श्रीकृष्ण की भक्ति-सिद्धि प्राप्त करने के लिये गुरु को अनिवार्य साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। गुरु को भगवत्कृपा का परिणाम मानकर भक्तों ने उन्हें भगवान् के समकक्ष ही स्वीकार किया है। वह अन्तर्यामी ईश्वर के प्रति मन् में उठे अनगिनत प्रश्नों का समाधान करता है। गुरु स्वयं भगवद्रूप होकर साधक को भगवान् तक ले जाने में समर्थ होता है। इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जैसे नाम, सगुण-निर्गुण के मध्य दुभाषिये का कार्य करता है, ठीक उसी प्रकार गुरु साधक और साध्य का भाव-सूत्र जोड़ने का अनिवार्य साधन है। वह उचित मार्ग का निर्देशन कर जीव की अन्तरात्मा का परिष्कार करता है। भगवान् की कृपा अथवा अनुग्रह भक्त पर गुरु द्वारा ही होता है। सूरदास के विषय में यह बात अक्षरशः सत्य घटित हुई। उनकी भक्ति का मार्ग, यहाँ तक कि उनका हृदय और सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही गुरु के सान्निध्य से बदल गया। वैराग्य का स्थान राग ने ले लिया। उनका तन-मन सभी कुछ प्रबुद्ध हो गया। गुरु की यह अद्भुत सामर्थ्य है कि वह साधारण जीव को भगवान का भक्त बना देता है।

भगवद्भजन की ओर प्रेरणा देने वाला, भगवान् के नाम-लीला-धाम के प्रति मन में आकर्षण तथा भक्ति उत्पन्न करने वाला एकमात्र मार्गद्रष्टा गुरु ही होता है। आचार्य वल्लभ ने तो गुरु कीआज्ञा का पालन भगवान की भक्ति का एकमात्र कारण माना है। सूर के 'सतगुरु चरन भजे बिनु विधा कहुं कैसे कोउ पावै' कथन में इसी मत की पुष्टि मिलती है। भक्तिपथ में साधनस्वरूप गुरु और सत्संग को समान महत्व मिला है। सांसारिक विषयों से विरत होने में सत्संग का महत्वपूर्ण सहयोग मिलता है[1] सत्संग का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

---

१. थोरे जीवन भयो तन भारो।
किया न संत समागमकबहूं लियो न नाम तुम्हारो। सूरसागर- १५२

रे मन समुझि सोच-विचारि।
भक्ति बिनु भगवंत दुर्लभ, कहत निगम पुकारि।
धारि पासा साधु संगति फैरि रसना-सार। सूरसागर- ३०६
छाँड़ मन राम नाम को गाढ़ो। सूरसागर-३१०

जा दिन संत पाहुने आवत ।
तीरथ कोटि समान करै फल जैसौ दरसन पावत ।.....
संगति रहैं साधु की अनुदिन, भवदुख दूरि नसावत ।
सूरदास संगति करि तिनकी, जे हरि सुरति करावत ।[1]

सत्संगति से भगवत्प्रेम उत्पन्न होता है मन में । भक्ति और भी दृढ़ होती है । वस्तुत: नामरूपात्मक सृष्टि में मन भ्रान्त होकर सांसारिक आकर्षण में फंस जाता है । ऐसी स्थिति में मन तथा बुद्धि को सत्य से परिचित कराने के लिये गुरु ही एक मात्र साधन और आधार है –

अपुनपौ आपुन ही मैं पायौ ।
सब्दहि सब्द भयौ उजियारौ, सतगुरु भेद बतायौ ।
ज्यौं कुरंग-नाभी कस्तूरी, ढूंढ़त फिरत भुलायौ ।
फिरि चितयौ जब चेतन ह्वै करि अपने ही तन छायौ ।.....
सूरदास समुझे की यह गति, मनही मन मुसुकायौ
कहि न जाइ या सुख की महिमा, ज्यौं गूंगै गुर खायौ ।[2]

साधारण जीव अज्ञान के अन्धकार में डूबा रहता है और उसी में दुख पाता है, अपने स्वरूप का ज्ञान तक नहीं हो पाता । आत्म-प्रकाश के अभाव में वह परमात्मा से साक्षात्कार करने में असमर्थ होता है । शाश्वत सुख की ओर से विमुख होकर क्षणिक सुखों में अपने को आत्मविस्मृत कर देना चाहता है । किन्तु बदले में उसे अज्ञान, अन्धकार, दुख और अशान्ति मिलती है । व्यामोह के अन्धकार में उसकी आत्मचेतना बलवती रहती है – अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल[3]

---

१. सूरसागर - पद ३६०

२. सूरसागर-पद ४०७

३. अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल ।
काम क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल ।
महामोह के नूपुर बाजत निंदा सब्द रसाल ।
भ्रम-भोगोन्मन भयौ पखावज, चलत असंगति चाल

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

में इसी भावना की अभिव्यक्ति मिलती है। नाना प्रकार की भ्रान्तियों में उलझा हुआ जीव असन्तुष्ट रहता है। इसकी वेदना का आभास उसे भली-भांति होता है किन्तु वह अपने को उन विसंगतियों से मुक्त नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति में गुरु ही एक मात्र आधार बनकर जीव को सन्मार्ग का पथ प्रशस्त करता है। गुरु-साधक का सम्बन्ध आनंद, प्रेम, सौन्दर्य, शुभ एवं शक्ति से जोड़ता है। उसके सानिध्य से अज्ञान का विषम अन्धकार मय मार्ग ज्योतिर्मय हो उठता है--

> गुरु बिनु ऐसी कौन करै ?
> माला तिलक मनोहर बाना, लै सिर छत्र धरै।
> भवसागर तैं बूड़त राखै, दीपक हाथ धरै।
> सूर स्याम गुरु ऐसौ समरथ, छिन में लै उधरै।[१]

गुरु साधक को आत्म प्रेरणा प्रदान करता है। इस मार्ग का अनुसरण कर भक्त को भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है। आत्मा की नीरव पुकार को गुरु वाणी देकर उसमें प्रकाश भर देता है। साधना के मार्ग में आने वाले अनेक झंझावातों को अपने ज्ञान की शक्ति से संरक्षित करता है। सूर ने गुरु और हरि की समकक्षता निरूपित की है।[२] अतएव गुरु साधक का अपरिहार्य अंग है। चेतना के विकास में गुरु का महत्वपूर्ण सहयोग मिलता है। यही कारण है

पिछले पृष्ठ का शेष --

> तृष्णा नाद करति घर भीतर, नाना विधि दै ताल।
> मायौ कौ कटि फेंटा बांध्यौ लोभ तिलक दियौ भाल।
> कोटिक कला काछि दिखराई जल-थल सुधि नहिं काल।
> सूरदास की सबै अविद्या, दूरि करौ नंदलाल। सूरसागर-पद,१५३

---

१. सूरसागर- ४१७

२. हरि,हरि,हरि,हरि, सुमिरन करौ। हरि -चरनारबिंद उर धरौ।
हरि गुरु एक रूप नृप जानि। यामैं कछु संदेह न आनि। सूरसागर ४१६

कि सूर ने हरि के साथ गुरू के प्रति भी आत्मसमर्पण की भावना व्यक्त की है। गुरू ही साधना की प्रेरणा बनता है। भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण की वास्तविक स्थिति देह, मन, प्राण, अहं तथा आत्मा का समर्पण है। गुरू इस समर्पण की प्रक्रिया में साधक है। वह एक प्रयोजन है जो भक्त की अन्तश्चेतना को प्रकाश-पथ पर अग्रसरित करता है। भक्त को भगवान् के नाम-रूप-लीला का ज्ञान प्रदान करता है। सम्पूर्ण भक्ति-साधना गुरु के महत्व और उनकी आवश्यकता को स्वीकार करके आगे बढ़ी है।

सूरदास के ऊपर गुरु का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनकी साधना की समस्त चेतना ही परिवर्तित हो गई। उनके मार्ग की दिशा दूसरी ओर मुड़ गई। महाप्रभु से मिलने से पूर्व सूर विनय के पद गाया करते थे। भक्त की साधना का अभिप्रेत ही भगवान् की दास्यभाव से भक्ति करना है। यही मान्यता तत्कालीन वातावरण में व्यक्त थी। महाप्रभु के आज्ञा देने पर सूर ने " प्रभु मैं सब पतितन को टीको" गाकर सुनाया। सुनाने के बाद महाप्रभु ने डाटकर कहा - सूर ह्वै के ऐसो घिघियात काहे को है, कुछ भगवत् लीला वर्णन कर" तथा सूर को लीला वर्णन की विधि बताई। ऐसा विश्वास किया जाता है कि गुरु की इस एक पंक्ति से सूर की समस्त चेतना लीला के गान की ओर उन्मुख हो गई और उन्होंने आदि से अन्ततक भगवान् श्रीकृष्ण की विविध-लीला का जो विस्तृत रूप प्रस्तुत किया वह अद्वितीय है। मधुर भाव की भक्ति के साथ कृष्ण के रूप सौन्दर्य एवं रसमयी लीला का जो वर्णन सूर ने किया वह साहित्य की अनुपमेय धरोहर बन गयी।

इस प्रकार पुष्टिमार्ग का अनुसरण करते हुए सूर ने सत्संग तथा गुरु तत्व का महत्वपूर्ण स्थान माना है। सूर ने उस मनुष्य का जन्म निरर्थक माना है जो गुरु गोविन्द को नहीं पहचान सका।[१] गुरु-भक्ति भगवद्भक्ति का प्रधान लक्षण

---

१. नर तैं जनम पाइ कह कीनो ?
उदर भर्यो कूकर-सूकर लौं, प्रभु को नाम न लीनो।
श्री भागवत सुनी नहिं श्रवननि, गुरु गोविंद नहिं चीनो।
—सूरसागर, पद ६५

है –

जनम तौ बादिहिं गयौ सिराइ ।
हरि सुमिरन नहिं गुरु की सेवा मधुबन बस्यौ न जाइ ।....
भव अंबोधि, नाम-निज-नौका, सूरहिं लेहु चढ़ाइ ।[1]

सद्गुरु का उपदेश समस्त संभ्रमों का निवारण कर देता है । गुरु ही सच्चे अर्थ में कृष्ण-नाम-मंत्र से परिचय कराता है । वही गारुणि है जो कृष्ण रूपी मन्त्र से विष का प्रभाव भी समाप्त कर देता है –विष से तात्पर्य माया मोहादि का भ्रम है –

अजहूं सावधान किन होइ ।
माया विषम भुजंगिनि कौ विष उतर्यौ नाहिन तोहि ।
कृष्ण सुमंत्र जियावन मूरी जिन जन मरत जिवायौ ।
बारम्बार निकट स्रवननि ह्वै गुरु गारुणी सुनायौ ।[2]

श्रीकृष्ण की लीला की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यदि गुरु मार्गदर्शक न हो तो भक्ति भाव की सत्यानुभूति भी नहीं हो सकती । श्रीकृष्ण की लीला वर्णन करते हुए सूर ने कहा है --

हरि लीला अवतार पार सारद नहिं पावै ।
सतगुरु कृपा प्रसाद कछुक तातैं कहि आवै ।

इस प्रकार भगवद्भक्ति के मार्ग में सद्गुरु तथा सत्संग अनिवार्य साधन-स्वरूप स्वीकृत हैं ।

नाम-भक्ति–

वैष्णवों की नाम-साधना, साधना की प्रथम अवस्था है । नाम के साथ भगवान का रूप भी नित्य सम्बन्धित रहता है । रूप शाश्वत है उसीप्रकार नाम भी प्राकृत न होकर चिन्मय है । कृष्ण के नाम में चित् व आनन्द की

---

१ सूरसागर, १५५
२ सूरसागर, ३७५

कृष्ण-चरित के वर्णन में सूर की दृष्टि कृष्ण के रूप और लीला-चरित पर अधिक थी । उनका सम्पूर्ण काव्य कृष्ण-लीला का विस्तृत विवेचन ही है । फिर भी सूर की दृष्टि में नाम का भी महत्व किसी प्रकार कम नहीं है । हरिनाम भक्त की ऐसी अतुल सम्पत्ति है कि किसी भी स्थिति में वह उससे अलग नहीं की जा सकती । न अग्नि उसे जला सकती है न जल उसे डुबा सकता है । उसमें भगवान के समतुल्य शक्ति है[1] तभी तो राम से अधिक उनके नाम में शक्ति बताई गई है ।

सूरदास ने उन दिनों प्रचलित ब्रह्मवाची सभी नामों का प्रयोग किया है । इन नामों में संतों द्वारा प्रयुक्त नामों की संख्या भी पर्याप्त है । इसके अतिरिक्त वैष्णव भक्ति-भावना से सम्बन्धित प्रायः सभी नाम हैं । इन नामों में कुछ तो स्वरूप जन्य हैं, कुछ गुण और स्वभाव के द्योतक हैं तथा कुछ लीला के आधार पर प्रयुक्त किये गये हैं । उदाहरण के लिए हरि, वासुदेव, प्रभु, भगवान्, नाथ, ठाकुर, स्वामी, प्रियतम, ईश्वर, पुरुषोत्तम, जगदीश, मुरारी, मुकुन्द, रमापति, कमलापति, माधव आदि वैष्णव भक्तिभावना से सम्बन्धित नाम हैं । इन नामों में कुछ तो संत-सम्प्रदाय में भी प्रचलित है – जैसे स्वामी और नाथ, । स्वरूप, गुण, धाम और लीला से सम्बन्धित नामों में मुख्यरूप से चतुर्भुज, नरकेसरी, सारंगपानि, अविगत, दयानिधि, दीनदयाल, दीनानाथ, निधि, वैकुण्ठनाथ, गोकुलापति, ब्रजराज, ब्रजनाथ, वृंदावनचन्द्र, अन्तर्यामी अविनासी, अनादि, सर्वज्ञ, गुणसागर, सुखरासि, भक्तवत्सल, दीनबंधु

---

१. हमारे निर्धन के धन राम ।
चोर न लेत, घटत नहिं कबहूं, आवत गाढ़े काम ।
जल नहिं बूड़त, अगिनि न दाहत , है ऐसो हरिनाम ।
—सूरसागर- पद- ९२

दयालु, करुनामय, कृपानिधि,सुजान, नागर आदि हैं।[1] कृष्ण से सम्बन्धित नामों में केशव, गोविन्द,घनश्याम, गोपाल,नंदलाल,मोहन, गिरधर,श्याम, नंद-

---

१. सूरदास हरि कौ सुमिरन करि बहुरि न भव-जल आवै --सूरसागर,पद ३४६
वासुदेव की बड़ी बड़ाई
जगतपिता, जगदीस,जगतगुरु निज भक्तन की सहत ढिठाई। वही, पद ३
अब कैं राखि लेहु भगवान। वही,पद ६७,१०६
सूरदास सरलग्यौ सचानहिं, जय जय कृपानिधान।
अब कैं नाथ मोहि उधारि।
मगन हौं भव-अंबुनिधि मैं, कृपासिंधु मुरारि। वही, पद ६६,२१
माधौ जू, मन हठ कठिन परयौ। वही, पद १००
दयानिधि तेरी लखि न परै।
सुत हित नाम लियौ नारायन, सो वैकुंठ पठायौ। वही, पद -१०४
अविगति गति करुनामय तेरी, सूरकहाकहि गावै।
महाप्रभु तुम्हें विरद की लाज।
सूरदास पर कृपा करौ अब, दरसन देहु मुरारी। वही, पद - १०६,१०८
क्यौं तू गोविंदनाम विसार्यौ - वही, पद ८०
दीनानाथ, देवकी नंदन,भक्तवछल, गोपाल। वही,पद २७८
सूरदास भगवंत भजन विनु फिरि-फिरि जठर जरै। वही पद ३५
सूरदास कौ ठाकुर ठाढ़ै लिये लकुटिया छोटी। वही ७८१
प्रीतम जानि लेहु मन माहीं। वही-पद ७६
सब तजि भजिए नंदकुमार। वही पद ६८
ते पदकमल सूर के स्वामी, फनप्रतिनृत्य करैं। वही, पद ११८६
गिरधर, ब्रजधर, मुरलीधर,धरनीधर,माधौ,पीताम्बर धर। वही,पद ११६०
धन्य धन्य जगदीस गुसाईं, अपनौ करि अहि लीन्हौं। वही पद, ११६४
सब अहि छाँड़ि दियौ करुनामय मोहन मदन मुरारी। वही,पद ११६४
राखौ पति गिरिवर गिरि-धारी।
अबलौं नाथ न मेरौ कोई, बिनु श्रीनाथ मुकुंद मुरारी। वही, पद २४८
(अगले पृष्ठ पर भी देखें)

दुलारे, यदुनाथ, गोपीनाथ आदि प्रमुख रूप से तथा बहुतायत से प्रयुक्त हुए हैं। एक बात नामों के संदर्भ में जो महत्वपूर्ण है यह है राम-नाम की वंदना तथा उसकी महत्ता। कृष्णोपासक कवि के लिये राम-नाम की ओट को ही सर्वाधिक सुरक्षित मानना उसकी भक्ति के महत्वपूर्ण पक्ष का उद्घाटन करता है। राम के पर्यायवाचीनामों में रघुकुल, राघव, रघुनाथ, राघव, रघुनंदन, रघुपति, रघुवर, तथा राम का प्रयोग मिलता है। इसमें राम का सर्वाधिक

पिछले पृष्ठ का शेष --

भक्त-वछल प्रभु नाम सुमिरिकै ता कारन मैं सरन धरी। वही सूरसागर, पद २४६

वैकुण्ठनाथ सकल सुखदाता सूरदास सुखधाम। वही, पद ६२

सारंगपति प्रगटे सारंग लै जानि दीनपर भीर। वही पद ३३

अविगत गति कछु कहत न आवै। वही, पद २

----

१. तुम कृपाल कृपानिधि, केशव अधम उधारन नांउ
   असरन सरन नाम तुम्हरौ, हौं कामी, कुटिल निभाउं। वही १२८
   सूरदास-प्रभु इच्छापूरन, श्रीगुपाल सुमिरौ सब कोइ। वही, पद ६५
   क्यों तू गोविंद नाम विसारौ? वही, पद ८०, ६२, ३१, १३
   सूर नंद-नंदन जेहिं विसर्यौ, आपुहि आप ह्यौ। वही ७६
   अंत के दिन को हैं घनश्याम। वही, पद ७६
   सूरदास गिरिधर जस गाइ गाइ जीजै। वही ७२
   गाइ लेहु मेरे गोपालहिं - वही, पद ७४
   सब तजि भजियै नंदकुमार, वही, पद ६८
   कलिमल-हर, कालिमा टारन, रसना स्याम न गायौ। वही, पद ५८, ४८, २५, २४
   जाको मन मोहन अंग करै। वही, पद ३७, ३०
   ऐसे कान्ह भक्त हितकारी। वही, पद २६

प्रयोग है।[१]

सूर ने अपने मन के प्रति जहां कहीं भी चेतावनी-विषयक पद लिखे हैं वहां अनेक प्रकार से भगवान के नाम का स्मरण किया है। वह नाम राम, कृष्ण,स्याम, हरि कुछ भी हो सकता है। भक्ति के साधन में भगवान् के अनेक नामों में किसी भी नाम का स्मरण और कीर्तन किया जा सकता है। यह सभी भक्तिकालीन कवियों की मान्यता रही है। किन्तु नाम-साधना के संदर्भ में 'राम' शब्द का विशेष रूप से प्रयोग मिलता है। सूर में भी जहां नाम की महिमा का वर्णन है वहां 'राम' शब्द का प्रयोग बहुतायत से है। वैसे 'हरि' नाम का प्रयोग भी सूर को विशेष प्रिय था। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर के हरि ही राम-कृष्ण-स्याम के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। नाम भक्ति के संदर्भ में ही सूर ने गुरु,ज्ञान, साधु संगति, श्रवण-कीर्तन, आदि

---

१. सूरदास तुम राम न भजि के, फिरत काल संग लागे। सूरसागर,पद ६१

बड़ी है राम नाम की ओट।
सरन गए प्रभु काढ़ि देत नहिं, करत कृपा के कोट।
बैठत सबै सभा हरि जू की कौन बड़ौ को छोट।
सूरदास पारस के परसत मिटति लोह की खोट । वही, पद २३२

रघुकुल प्रगटे हैं रघुवीर।
देत असीस सूर चिरजीवौ रामचन्द्र रनधीर। वही,पद ४६२,४६३,४७०

चितै रघुनाथ बदन की ओर। वही
रघुपति सौं अब नेम हमारौ विधि सौं करति निहोर
यह अति दुसह पिनाक पिता-प्रन राघव बयस किसोर। वही ४६७,४७५,५८८
पितु आयसु सिर धरि रघुनायक कौसिल्या ढिग आये। वही ५७६
मेरी नौका जानि चढ़ौ त्रिभुवन पति राई। वही ४८६
सूरदास रघुपति के बिछुरै मिथ्या जनम भयौ। वही ४६०
जाके हिय-अंतर रघुनंदन , सो क्यों पावक जरई। वही ५४३

का भी स्मरण किया है --नाम की नौका पर बैठकर इस भवसागर से पार हुआ जा सकता है --

बादिहि जनम गयौ सिराइ ।
हरि सुमिरन नहिं गुरु की सेवा, मधुबन बस्यौ न जाइ.....
भव अम्बौधि-नाम-निज नौका सूरहिं लेउ चढ़ाइ ।[1]

सूर का विश्वास है कि ' राम-नाम ' की ओट बहुत बड़ी है , भगवान् भक्त की अपनी आड़ में हर प्रकार से रक्षा करता है । राम-नाम ऐसा पारस है कि उसके संस्पर्श से लोहा भी सोना बन जाता है ।[2] राम-नाम का स्मरण कर अनेक पापी संसार-सागर से संतरण पा गये । इसलिये सूर ने बलपूर्वक हरि का स्मरण करने की बात कही है --

रे मन सुमिरि हरि हरि हरि ।
शत यज्ञ नाहीं नाम सम परतीति करि करि करि ।[3]

हरि के नाम-स्मरण से अधिक पुण्य शत यज्ञ में भी नहीं है । यह सूर का विश्वास है । यह अनुभव जन्य सत्य है, जिसका उद्घाटन उन्होंने अपने नाम संबन्धी पदों में किया है । कवि के हृदय तथा मन की सहज एवं सत्य भावना का परिचय उसकी पंक्तियों से मिलता है । स्वत: अनुभूतिजन्य सत्य अनेक प्रमाणों द्वारा वह प्रस्तुत करता है । गृद्ध, गणिका, व्याध, द्रौपदी, पाण्डुसुत, सभी तो इसके प्रमाण हैं । अत: कवि की यह आकांक्षा है :--

सुवा चलि वा बन कौ रस लीजै ।
जा बन राम-नाम अमृत - रस श्रवण पात्र भरि लीजै ।[4]

नाम की प्रतीति मात्र होने से असीम आनंद की प्राप्ति हो जाती है । सांसारिक दुखों का नाश हो जाता है ।[5] राम-नाम के उच्चारण मात्र से ज्ञान का प्रकाश

---

१. सूरसागर, पदसंख्या १५ वें०प्रे०, प्रथम स्कन्ध

२. सूरसागर, पद २३२

३. सूरसागर, पद ३०६

४. सूरसागर, पद ३४०

५. वही, पद ३५१

प्रकट हो जाता है। अतएव वह प्राणी धन्य है जो व्रत पूर्वक राम-नाम का जप करता है। बिना किसी व्यवधान के उसका निर्वाह आदि से अंत तक करता है। बिना हरि के स्मरण किये मुक्ति असम्भव है। उनके नाम-स्मरण में वह शक्ति है कि जहाँ भी भक्त इच्छा करता है वहीं उस रूप में वह प्रकट होकर उसे तदनुरूप फलप्रदान करते हैं। अतः सौ बातों की एक बात यही है कि हरि-नाम का स्मरण जीव के लिए आवश्यक है।[१] भगवान का तो नाम ही 'भक्तवत्सल' है। इसलिए भक्त का विश्वास उनके नाम के अधीन है। सूर को भी 'नाम का भरोसा भारी'[२] कहने में इसीलिये कोई आपत्ति नहीं, किन्तु नाम-भक्ति में भी प्रेम की अतिशयता आवश्यक है, जिसे सूर ने अपने सभी पदों में व्यक्त किया है।

नाम-भक्ति के सहारे जीव जीवनमृत्यु के चक्र से निवृत्त हो जाता है। यज्ञादि तो कर्मकाण्ड का अंग है। उनसे स्वर्ग प्राप्ति हो सकती है, ऐश्वर्य मिल सकता है किन्तु भगवद्भक्ति अथवा भगवद्प्राप्ति नहीं हो सकती। जीव चौरासी लाख योनियों में निरर्थक भटकता फिरता है —

> हौउ मन, राम-नाम कौ गाहक।
> चौरासी लख जीव-जौनि मैं भटकत फिरत अनाहक।
> भक्तनि हाट बैठि अस्थिर ह्वै, हरि नग निर्मल लेहि।....
> और वनिज मैं नाहीं लाहा, होति मूलि मैं हानि।
> सूर स्याम कौ सौदा साँचौ, कह्यौ हमारौ मानि।[३]

सूरदास ने अपने नाम-भक्ति के पदों में राम-स्याम और हरि तीनों नामों का प्रयोग किया है। इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। रे मन राम सौं करि

---

१. सूरसागर, पदसंख्या ३४८

२. भरोसौ नाम कौ भारी।
   प्रेम सौं जिन नाम लीन्हौं, भये अधिकारी। सूरसागर, १७६

३. सूरसागर, पदसंख्या ३१०

करि हैत' से प्रारम्भ कर" सूर भजि गोविन्द के गुन"[१] पर पद की समाप्ति कर सूर ने अपनी इस मान्यता को स्थिर रक्खा है कि उनके स्याम, राम, हरि, गोविंद सब एक हैं, नाम विविध रूप में तथा विविध स्थितियों में प्रयुक्त भले ही हुए हों। इसी प्रकार यह सम्पूर्ण पद दृष्टव्य है –

पढ़ौ भाई राम-मुकुन्द मुरारि।
चरन कमल मन सनमुख राखौ, कहूं न आवै हारि।...
राखनहार अहै कोउ और, स्याम धरै भुज चारि।
सत्यस्वरूप देव नारायन, देखौ हृदय बिचारि।
सूरदास प्रभु सबमैं व्यापक, ज्यौं धरनी मैं वारि।[२]

राम, स्याम, ब्रह्म, प्रभु, स्वामी सभी शब्दों का प्रयोग अन्य पदों में भी किया है।[३] सूर ने राम और कृष्ण से सम्बन्धित नामों में एकता स्थापित की है। इनमें श्याम तथा घनश्याम नाम राम के लिए भी प्रयुक्त किया गया है। यद्यपि कहीं-कहीं स्याम नाम के प्रति, उनकी आसक्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है जहां उन्होंने अपने को" स्याम का गुलाम[४] स्वीकार करने में सुख का अनुभव किया है। इन पदों के अतिरिक्त सूर की इस भावना का जो सबसे प्रमुख पद है वहां तो वे" जै गोविंद माधव मुकुंदमुरारि" से प्रारम्भ करके ब्रह्मवाची अनेकों नामों का उल्लेख करते हुए राम और कृष्ण में समन्वय उपस्थित करते प्रतीत होते हैं।[५]

अस्तु सूर की दृष्टि में नाम-स्मरण भगवत्कृपा तथा उनकी शक्ति का सतत आवाहन है। यह सर्व सुलभ और सबल साधन है। इसकी शृंखला कभी टूटती नहीं क्योंकि इसके जप के लिये किसी स्थान विशेष अथवा कालादि की आवश्यकता नहीं। आडम्बर हीनता इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। किसी भी अवस्था में

---

१. सूरसागर, पदसंख्या ३११
२. वही, पदसंख्या ४२२
३. वही, ,, ३६६५
४. वही, ,, १७१
५. वही, ,, १५६६

चलते फिरते, सोते-जागते इसका जप किया जा सकता है। न किसी मंत्र विधि का बंधन नहीं है। केवल एक 'विश्वास' के आधार पर यह सभी पापों का क्षय करने में समर्थ होता है। भक्ति-मार्ग का एक नितान्त आवश्यक साधनस्वरूप यह स्वीकार किया गया है। साधक के मन में नाम की शक्ति भगवान् के प्रति आकर्षण जगाती है। यही इसकी परम सार्थकता है। भक्त के मन की अज्ञात अनुभूतियों को उभार कर वह भगवान् के प्रति उसके मन में प्रेम तथा अनुराग उद्बुद्ध करता है। इस प्रकार संसार के अन्य समस्त आकर्षण धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं और नाम ही श्रवण मार्ग से उतर कर मर्म तक बिंध जाता है। भक्त का चित्त नामी के दर्शन के लिये आकुल हो उठता है। यह उत्कट अभिलाषा जीव को ब्रह्म के सन्निकट लाने में समर्थ होती है।

सूर ठोस रूपोपासक कवि थे। उन्हें कृष्ण के रूप और उनकी लीला में जो आनंद आता था वह नाम-साधना में नहीं। यह सत्य है क्योंकि इसका प्रयोग उनके प्रारम्भिक पदों में ही प्राप्त होता है जो विनय तथा दास्य भावना से संबन्धित है। तथापि नाम की महत्ता की उपेक्षा उन्होंने कहीं भी नहीं की। लीला वर्णन तथा रूपासक्ति की चरम स्थिति में भी उनकी गोपियां कृष्ण नाम के मोहक प्रभाव से वंचित नहीं हो पातीं। गोपी कहती है कि माई री जब से कृष्ण नाम सुना है तब से भवन को भूल गई हूं, बावरी सी होकर नैन भर-भर आते हैं, चित्त में चैन नहीं रहता, मन की समस्त दशा और ही हो गई है।[१] कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों को केवल इसी नाम का सहारा रह जाता है।

हरि-स्मरण करने से परमगति-लाभ होता है। अंत में कवि ने तुलसी की ही भांति कलियुग में हरिनाम स्मरण को ही एकमात्र साधन स्वीकार किया है। कलि में राम-हरि नाम ही उद्धार का एकमात्र साधन है।

---

१. सूरसागर, पदसंख्या २५१४

रूपौपासना :-

वैष्णाव कवियों की रूपौपासना बंधन तो है पर बाधा नहीं । यही कारण है कि सूर के कृष्णा नाना रूपों में उपासना के आधार बने हैं । वह स्वामी, पुत्र, सखा, प्रेमी आदि नाना रूपों में अभिव्यक्ति पाते हैं । ब्रह्म को व्यापक निराकार और अचिन्त्य समझने की कल्पना ने मनुष्य को उसकी खोज में और भी उलझा दिया । किन्तु इतना तो निश्चय ही था कि वह सर्वशक्तिमान है, ऐश्वर्य एवं सौन्दर्य से युक्त है और यदि वह सौन्दर्यवान है तो उसका रूप भी आवश्यक है । जीव की एक सहज प्रवृत्ति है सौन्दर्य के प्रति आकर्षणा । इसी आकर्षणा की भावना ने जिज्ञासा और प्रेम को जन्म दिया है । बिना किसी आधार के प्रेम हो नहीं सकता । यह प्रेम उस ज्ञान मय ब्रह्म को रूप धारणा करने पर विवश करता है । वैष्णाव कवियों के राम और कृष्णा का रूप भी यही था । वह प्रेममय थे, दीनों की पुकार पर नंगे पांव दौड़ते थे, पतितपावन उनका विरद था, दीनदयाल, अशरणा-शरणा, भक्तवत्सलता आदि उनका गुणा था ।

सूर ने अपने प्रभु को मनवाणी से अगम, रूपरहित, इन्द्रियातीत तथा निराकार मानते हुए भी उसे सुन्दर, तथा साकार रूप में पाने की अभिलाषा व्यक्त की है । परमसत्ता के स्वरूप वर्णान मे कवि ने उनके निराकार, अगोचर, निर्गुणा, सगुणा, चतुर्भुज, अविनासी, अनादि, विराट ज्योतिस्वरूप, आदि रूपों का वर्णान भी किया है ।[१] वह मनसा-वाचा-कर्मणाा अगम है, अगोचर है, उसे ज्ञानी ही जान

---

१. लोचन स्रवन न रसना, नासा
बिनु पद पानि करै परगासा ।
आदि सनातन हरि अबिनासी । सदा निरंतर घट-घट बासी ।
पूरन ब्रह्म पुरान बखानै । चतुरानन सिव अंत न जानै ।
जाकी माया लखै न कोई । निर्गुन सगुन धरै वपु सोई ।
अगम अगोचर लीलाधारी । —सूरसागर, पद ६२१

गुन बिनु गुनी सुरूप रूप बिनु, नाम बिना श्री स्याम हरी । वही ११५
रह्यौ घट-घट व्यापि सोई जोति रूप अनूप । वही - ३७०

(कृपया अगले पृष्ठ पर भी देखें)

सकता है। वह आदि सनातन है, अविनासी है। उसे ज्ञानी भी जानकर व्यक्त नहीं कर सकता। वह गूंगे के गुड़ की भांति है जिसका अनुभव तो किया जा सकता है किन्तु शब्दों द्वारा अभिव्यक्तिकरण नितान्त असम्भव है। इन्हीं कठिनाइयों से मुक्ति पाने के लिये सूर ने अपने आराध्य की सगुण-साकार अनुभूति को अधिक महत्त्व दिया --

'अविगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूंगे मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौं अगम - अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप रेख-गुन-जाति जुगुति बिनु निरालंब कित धावै।
सब विधि अगम विचारहि तातै सूर सगुन पद गावै।[1]

सगुन पद गाने की इस लगन का निर्वाह 'सूरसागर' में आदि से अंत तक किया गया है। यह बात अलग है कि उनका सगुन श्रीकृष्ण अथवा हरि वही परात्पर ब्रह्म हैं जो सर्वव्यापी है, पूरन ब्रह्म हैं। आदि सनातन परब्रह्म प्रभु है, घट-घट अन्तरजामी है। श्रीकृष्ण की लीलाओं का गान करते हुए सूर अपने आराध्य का परब्रह्मत्व कभी नहीं भूलते। उनके कृष्ण तो जीव को वह सुख देने के लिए अवतरित होते हैं जो बड़े-बड़े मुनि ऋषि तथा देवताओं की सीमा से भी परे है। ब्रह्मा आदि जिस अलौकिक सुख से वंचित हैं वह सुख साधकों के लिए सहज बन गया है।' परन्तु सूरदास जी का मुख्य उद्देश्य भागवतकार की भांति

पिछले पृष्ठ का शेष --

थहुरौ धरौ हृदय मह ध्यान। रूप चतुर्भुज स्याम सुजान। वही ३६४
चरन सप्त पताल जाके, सीस है आकास
सूर चन्द नक्षत्र पावक, सर्व तासु प्रकास। वही, ३७०

---

१. सूरसागर, पदसंख्या २

सकता है । वह आदि सनातन है, अविनाशी है । उसे ज्ञानी भी जानकर व्यक्त नहीं कर सकता । वह गूंगे के गुड़ की भांति है जिसका अनुभव तो किया जा सकता है किन्तु शब्दों द्वारा अभिव्यक्तिकरण नितान्त असम्भव है । इन्हीं कठिनाइयों से मुक्ति पाने के लिये सूर ने अपने आराध्य की सगुण-साकार अनुभूति को अधिक महत्व दिया —

> 'अविगत-गति कछु कहत न आवै ।
> ज्यौं गूंगे मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै ।
> परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै ।
> मन-बानी कौं अगम - अगोचर, सो जानै जो पावै ।
> रूप रेख-गुन-जाति जुगुति बिनु निरालंब कित धावै ।
> सब विधि अगम विचारहि तातै सूर सगुन पद गावै ।[1]

सगुन पद गाने की इस लगन का निर्वाह 'सूरसागर' में आदि से अंत तक किया गया है । यह बात अलग है कि उनका सगुन श्रीकृष्ण अथवा हरि वही परात्पर ब्रह्म हैं जो सर्वव्यापी है, पूरन ब्रह्म हैं । आदि सनातन परब्रह्म प्रभु है, घट-घट अन्तरजामी है । श्रीकृष्ण की लीलाओं का गान करते हुए सूर अपने आराध्य का परब्रह्मत्व कभी नहीं भूलते । उनके कृष्ण तो जीव को वह सुख देने के लिए अवतरित होते हैं जो बड़े-बड़े मुनि ऋषि तथा देवताओं की सीमा से भी परे है । ब्रह्मा आदि जिस अलौकिक सुख से वंचित हैं वह सुख साधकों के लिए सहज बन गया है ।' परन्तु सूरदास जी का मुख्य उद्देश्य भागवतकार की भांति

(पिछले पृष्ठ का शेष --

> थहुरौ धरौ हृदय महं ध्यान । रूप चतुर्भुज स्याम सुजान । वही ३६४
> चरन सप्त पताल जाके, सीस है आकास
> सूर चन्द नक्षत्र पावक, सर्व तासु प्रकास । वही,३७०

---

१. सूरसागर, पदसंख्या २

कृष्णा-चरित्र की अलौकिकता चित्रित करना नहीं है। उन्होंने तो कृष्णा के मानव रूप को ही प्रधानता दी है। यही कारण है कि सूर के चित्रण में कृष्णा के अति प्राकृत और लोकातीत तथा मानवीय रूप की दो धारायें समानान्तर रूप से बहती चलती हैं। आगे चलकर मानवीय रूप की स्वाभाविकता के कारण अति-प्राकृत स्वरूप की धारा दबी सी लगने लगती है।[१]

सूर की वृत्ति श्रीकृष्णा के असीम सौन्दर्य में ही विशेष रूप से रमी है। जन्म से लेकर गोकुल जाने तक की अनेकानेक अवस्थाओं का जो सजीव एवं आकर्षक रूप सूर ने प्रस्तुत किया है उसमें श्री कृष्णा के अन्तर एवं वाह्य दोनों सौन्दर्य का उद्घाटन पूर्ण रूप से हो जाता है। भक्ति के लिये भक्त का भगवान् के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध आवश्यक है। इस सम्बन्ध की घनिष्ठता श्रीकृष्णा के सौन्दर्य के प्रति प्रेम को जन्म देती है। प्रेम की अतिशयता में आत्मसमर्पण की भावना का उदय होता है। सूर ने अपने सम्पूर्ण काव्य में प्रेम की इसी भावना का उद्घाटन किया है। सूर के कृष्णा ब्रज में प्रकट होते ही अपने चिरंतन असीम सौन्दर्य से सम्पूर्ण ब्रज को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं —

सोभा सिंधु न अंत रही री।
नंद भवन भरि पूरि उमंगि चलि, ब्रज की वीथिनि फिरति वही री[२]।

जन्म के बाद से अंत तक कवि ने श्रीकृष्णा के बाल रूप, सखा रूप तथा गोपिकाओं के साथ कृष्णा की क्रीड़ा तथा चेष्टाओं का जो दिव्य स्वरूप वर्णित किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। श्रीकृष्णा के शैशवकालीन क्रिया-कलापों में उनके अंग-प्रत्यंग का इतना सूक्ष्म दिग्दर्शन कवि की अनन्य प्रेम-भावना तथा सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। वह दिव्य सौन्दर्य ही ऐसा है कि साधक प्रेम की पराकाष्ठा तक

---

१. सूर और उनका साहित्य - डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० १६३

२. सूर सागर —पद ६४७

ब्रज भयो महर के पूत जब यह बात सुनी
सुनि आनंदे सब लोग, गोकुल गनक गुनी। सूरसागर- ६४२

पहुंच जाय ।" सूर के इस स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चित्रण को देखकर पाठक संदेह में पड़ जाता है कि क्या कोई अंधा व्यक्ति इस प्रकार के वर्णन कर सकता है ।"[1]

कृष्ण की घुंघराली अलकें, दूध की दंतुलियां, काजर का डिठौना, किलक-किलक कर बोलना, सभी कुछ इतना आकर्षक, मनोहारी है कि ब्रज-वनितायें इस अनुपम सौन्दर्य पर अपने को निछावर कर देती हैं।[2] उनका खेलना, घुटनों के बल चलना, मुख में दधि का लेप करना, इनके दर्शन का सुख सतकल्प जीने से भी अधिक एक ही पल में मिल जाता है।[3] यशोदा का मातृत्व इस सुख को पाकर फूला नहीं समाता । इस दिव्य सुख का उपभोग और सौन्दर्य की अनुभूति मां का हृदय ही कर सकता है किन्तु सूर ने अपने इस वर्णन में मनोवैज्ञानिकताका जो परिचय दिया है वह अद्भुत है —माता के हर्ष की पूर्ण व्यंजना के लिये यह पंक्तियां पर्याप्त हैं —

सुत मुख देखि यशोदा फूली ।
हर्षित देखि दूध की दतियां प्रेम मगन तन की सुधि भूली ।[4]

यह सम्पूर्ण पद दृष्टव्य है —

ललन हौं या छबि ऊपर वारी ।
बाल गोपाल लागौ इन नैननि, रोग बलाइ तुम्हारी ।
लट लटकनि मोहन मसि बिन्दुका तिलक भाल सुखकारी ।
मनो कमल-दल सावक पैसत, उड़त मधुप छबि न्यारी ।
लोचन ललित, कपोलनि काजर, छबि उपजत अधिकारी ।
मुख में सुख औरै रुचि बाढ़ति, हंसत देत किलकारी ।

---

१. सूर और उनका साहित्य - डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० १६४
२. सूरसागर, पद ७११
३. सूरसागर, पद ७१७
४. सूरसागर, पद ७००

अलप दसन कलबल करि बोलनि, बुधि नहिं परत बिचारी ।
विकसति ज्योति अधर-बिच, मानौं विधु मैं बिज्जु उज्यारी ।
सुन्दरता कौ पार न पावति रूप देखि महतारी ।
सूर सिंधु की बूंद भई मिलि मति गति दृष्टि हमारी ।[१]

मति-गति तथा दृष्टि तीनों की तल्लीनता, तन्मयासक्ति और अभेद की स्थिति श्रीकृष्णा के सौन्दर्य में ही सम्भव है । शरीर की समस्त इन्द्रियां जहां स्तब्ध हो जायं वह सौन्दर्य निश्चय ही अद्वितीय होगा, बेजोड़ होगा। साधक का स्थैर्य सौन्दर्य पर अवलम्बित हो जाय तो भगवान् की प्राप्त करने के लिये और किसी साधन की क्या आवश्यकता । सूर के परब्रह्म श्रीकृष्णा का यह सौन्दर्य उनकी हर अवस्था में जीव को मंत्र-मुग्ध कर देता है । उनके रूप का गुणा ही है असीम आकर्षणा । ग्वाल-बालों के साथ खेलने के अनेक चित्र भी सूर ने प्रस्तुत किया है । अवस्था के साथ उनके गुणा का भी क्रमश: विकास होता है । चतुरता, कौतुक प्रियता तथा माखनचोरी आदि में इसकी पराकाष्ठा का दर्शन होता है । वात्सल्य का तिरोभाव क्रमश: माधुर्य में होता है । जो सौन्दर्य माता-पिता का आलम्बन था वह अब गोप-गोपिकाओं के आकर्षणा का केन्द्रविन्दु बन जाता है । वे कोई न कोई बहाना ढूंढ कर कृष्णा का सानिध्य चाहती हैं । कभी माखन-चोरी के मिस तो कभी और किसी बहाने वे यशोदा के पास शिकायत लेकर आती हैं और कभी पकड़े जाते हैं तो –

मुख तन चितै, बिहंसि हरि दीन्हों, रिस तब गई बुझाई ।
लियौ स्याम उर लाइ ग्वालिनी, सूरदास बलि जाई ।[२]

इस चित्रणाकी विशेषता यह है कि बालकृष्णा एक ओर तो रतिभाव के आलम्बन हैं और दूसरी ओर भक्तिभाव के । वात्सल्य भाव के चित्रणा में कृष्णा एक साधारणा

---

१. सूरसागर, पद ७०६

२. सूरसागर, पद ६१५

बालक रूप में ही हैं। इन दोनों भावों का सामंजस्य सूर ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। भक्ति भाव के आलम्बन कृष्ण भक्तों के सर्वस्व, अनंत शील, शक्ति और सौन्दर्य के आगार हैं।"[1]

सौन्दर्य की उपासना की अतिशयता का अगला चरण है गोपिकाओं का सान्निध्य। संयोगावस्था तथा वियोगावस्था दोनों स्थितियों में श्रीकृष्ण के रूप के प्रति आकुलता में प्रेम-भक्ति की अनुभूति क्रमिक विकास अत्यधिक सुन्दरता से हुआ है। ग्वालबालों के साथ गोचारण, प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में विहार, तथा उनकी विविध नटखट चेष्टाएं, सिर पर मोर पंखों का मुकुट, और अधरों पर मुरली[2] ये सभी कार्यव्यापार कृष्ण के सौन्दर्य को मोहक बना देते हैं। यह सौन्दर्य ऐसा है कि इसका जितना ही पान करें मन उतना ही उसमें आसक्त हो जाता है, और तृप्ति नहीं मिलती। कृष्ण के अंग-प्रत्यंग की छटा का वर्णन कर अंत में कवि उसी में लवलीन हो जाता है --

सूरदास जहं दृष्टि परत है, होति तहां लवलीन।[3]

दर्शक की यह तल्लीनता श्रीकृष्ण के रूप की सबसे बड़ी विशेषता है। इसी रूप के दर्शन हेतु गोपिकाएं कुल की मानि, और लोक की 'मरजादा' का भी त्याग कर देती हैं। कृष्ण की विविध चेष्टाओं का सौन्दर्य गोपिकाओं को उनके प्रेमपाश में आबद्ध करता है। उनके रूपकी सार्थकता प्रेम की इसी परिपूर्णावस्था में है। यह प्रेम भी पल दो पल का नहीं है। सहसा हो जाने वाला भी नहीं। यह तो उनके प्रकट होने के साथ से धीरे-धीरे पलता है। जीवन के प्रत्येक कार्य

---

१. सूर और उनका साहित्य- डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० १६६

'निरखि स्याम अंग-अंग, प्रति सोभा, भुज-भरि, धरि लीन्हौ, उर लाइ।
चितै रही जुवती हरि कौ मुख नैन-सैन दै चितहिं चुराइ।
तन-मन की अति-मति विसराई, सुख दीन्हौं कछु मारून खाइ।

—सूरसागर, पद ६१६

२. सूरसागर पद - २३७३, २३७५

३. सूरसागर - पद १०६६

व्यापार के साथ इसका भी विकास होता है। यह जीवन के अत्यधिक निकट है, सहज है। यद्यपि सूर ने स्थान-स्थान पर इस सौन्दर्य मय रूप की अलौकिकता का चित्रण भी कर दिया है किन्तु उसे लक्ष्य उन्होंने कभी नहीं माना। सूर का 'देखौं माई सुन्दरता कौ सागर' सूर की इस भावना का प्रमाण है। इसी पद के अंत में उन्होंने कहा है –

देखि सरूप सकल गोपीजन, रहीं विचारि विचारि।
तदपि सूर तरि सकीं न सोभा, रही प्रेम पचि हारि।[१]

इस शोभा का संतरण कैसे किया जा सकता है। रूप को ग्रहण करने के साधन सीमित हैं। इन्द्रिय-बोध परमात्म-रूप के आकलन में असमर्थ हैं। उस असीम सौन्दर्य की थाह पाना असम्भव है। सौन्दर्य की इयत्ता, परिमिति का बोध असम्भव है। सूर की यह रूपासक्ति ही प्रेम की चरम अनुभूति है। कृष्ण के सौन्दर्य की प्रगाढ़ता ही ऐसी है कि दृष्टि डूब जाती है उसी में।

कृष्ण का प्रत्येक अंग अनुपमेय है। सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूपलिप्सा और साहचर्य दोनों का योग है।[२] कृष्ण के सौन्दर्य में मानवीयता का उतना आरोप है कि वह और भी सर्वग्राह्य हो उठा है। उनके सम्बन्ध भी लौकिक स्तर पर चरितार्थ हुए हैं। श्रीकृष्ण सौन्दर्य को कवि कभी-कभी उपमा-उत्प्रेक्षा द्वारा भी व्यक्त करता है। रूप वर्णन के संदर्भ में उनके नयनाभिराम सौन्दर्य, मोहिनी लीलायें, प्रेमानुभूति की चरमावस्था, विरह-वेदना आदि के भी सुन्दर वर्णन हैं –

रोम रोम ह्वै नैन गए री।
सूरदास प्रभु अगनित सोभा, न जानौं किहि अंग छए री।[३]

---

१. सूरसागर, पद १२४६
२. सूर और उनका साहित्य, डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० १८१
३. सूरसागर, पद २६११

गोपिकाएं कृष्णा के सौन्दर्य का दर्शन करने को उद्विग्न हैं क्योंकि जहां देखती हैं, वहीं माधुरी मूर्ति दिखाई पड़ती है । उन्हीं का स्मरण आता है । उनकी अलौकिक छवि ही ऐसी है कि वह तन-मन चुरा ले । इस भावना के अनेकों पद सूरसागर में मिलते हैं ।[1] हरि के रूप-रस का वर्णन करने की असमर्थता इस पद में व्यक्त की गई है –

(अलि हौं) कैसें कहौं हरि के रूप रसहिं ।
अपने तन में भेद बहुत विधि , रसना जानै न नैन दसहिं ।
जिन देखें आहिं बचन बिनु, जिनहिं बचन दरसन न तिसहिं ।
बिनु बानी ये उमंगि प्रेम जल, सुमिरि सुमिरि वा रूप जसहिं ।
बार बार पछितात यहै कहि, कहा करौं जो बिधि न बसहिं ।
सूर सकल अंगनि की यह गति क्यौं समुझावैं छपद पसुहिं ।[2]

लीलातत्त्व :-

श्रीकृष्णा के रूप-माधुर्य और उनकी मधुर लीला का विस्तार और उसका आकर्षणा ही सूरदास के काव्य का प्रतिपाद्य विषय रहा है । इष्टदेव के नख-शिख वर्णन में सूर ने अपनी सारी शक्ति लगा दी है –अनगिनत पदों की रचना कर डाली है, अपनी सम्पूर्ण चित्तवृत्ति की गति श्रीकृष्णा के सौन्दर्य में ही केन्द्रीभूत कर दी । उनमें रूप और गुणा के प्रति आसक्ति होने का परिणाम उनके प्रति प्रेम की भावना का उदय होना है । मध्यकालीन प्रेम लक्षणा-भक्ति की यह सबसे बड़ी शर्त थी । श्रीकृष्णा के सगुणा रूप की उपासना इस भक्तिभावना का प्रतिपाद्य थी । अतएव श्रीकृष्णा के नाम से अधिक उनके रूप और लीला को प्रश्रय मिला । नाम के स्थान पर मुरली की ध्वनि को स्थान मिला । उसमें आकर्षणा

---

१. सूरसागर, (सभा) दशम स्कन्ध- पद संख्या ६७०
"मेरे हिय लागो मन मोहन, लै गये री चित्त चोरि ।
जबही इहि मारग ह्वै निकसे, छवि निरखत तृन तोरि ।"

२. सूरसागर, पद ४१५४

गोपिकाएं कृष्णा के सौन्दर्य का दर्शन करने को उद्विग्न हैं क्योंकि जहां देखती हैं, वहीं माधुरी मूर्ति दिखाई पड़ती है। उन्हीं का स्मरण आता है। उनकी अलौकिक छवि ही ऐसी है कि वह तन-मन चुरा ले। इस भावना के अनेकों पद सूरसागर में मिलते हैं।[१] हरि के रूप-रस का वर्णन करने की असमर्थता इस पद में व्यक्त की गई है –

(अलि हौं) कैसें कहौं हरि के रूप रसहिं।
अपने तन में भेद बहुत विधि, रसना जानै न नैन दसहिं।
जिन देखें आहिं बचन बिनु, जिनहिं बचन दरसन न तिसहिं।
बिनु बानी ये उमंगि प्रेम जल, सुमिरि सुमिरि वा रूप जसहिं।
बार बार पछिलात यहै कहि, कहा करौं जो बिधि न बसहिं।
सूर सकल अंगनि की यह गति क्यौं समुझावैं छपद पसुहिं।[२]

<u>लीलातत्त्व</u> :–

श्रीकृष्णा के रूप-माधुर्य और उनकी मधुर लीला का विस्तार और उसका आकर्षण ही सूरदास के काव्य का प्रतिपाद्य विषय रहा है। इष्टदेव के नख-शिख वर्णन में सूर ने अपनी सारी शक्ति लगा दी है – अनगिनत पदों की रचना कर डाली है, अपनी सम्पूर्ण चित्तवृत्ति की गति श्रीकृष्णा के सौन्दर्य में ही केन्द्रीभूत कर दी। उनमें रूप और गुण के प्रति आसक्ति होने का परिणाम उनके प्रति प्रेम की भावना का उदय होना है। मध्यकालीन प्रेम लक्षणा-भक्ति की यह सबसे बड़ी शर्त थी। श्रीकृष्णा के सगुण रूप की उपासना इस भक्तिभावना का प्रतिपाद्य थी। अतएव श्रीकृष्णा के नाम से अधिक उनके रूप और लीला को प्रश्रय मिला। नाम के स्थान पर मुरली की ध्वनि को स्थान मिला। उसमें आकर्षण

---

१. सूरसागर, (सभा) दशम स्कन्ध- पद संख्या ६७०
"मेरे हिय लागो मन मोहन, ले गये री चित चोरि।
जबही इहि मारग ह्वै निकसे, छवि निरखत तृन तोरि।"

२. सूरसागर, पद ४१५४

भी था । इस प्रकार नाम की शक्ति नाद में समाहित हो गई । पुष्टिमार्ग का भावन ईश्वर की ओर से हुआ । ईश्वर की ओर से जीव के नाम का स्मरण वेणुनाद में हुआ । भारतीय प्रेम की कल्पना ही उभयात्मक है । आध्यात्मिक प्रेम भी अपूर्ण माना जाएगा जब तक उसमें दोनों पक्षों की अनुभूति न समाहित हो । जीव को ही ब्रह्म की अपेक्षा नहीं है वरन् ब्रह्म को भी जीव की अपेक्षा है । इसीलिए रासलीला का स्थान अन्य लीला की अपेक्षा श्रेष्ठ है और गोपीभाव उत्कृष्टतम है। गोपियाँ लोक मर्यादा का अतिक्रमण भी तभी करती हैं जब ईश्वरीय आमंत्रण मिलता है ।

कृष्ण-लीला काव्य का प्रमुख विषय होने के कारण कवि ने कृष्ण के बाल और किशोर रूप के ऐसे अनेक चित्र खींचे हैं जो साधना का विषय है । श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं को देखकर उनके स्वरूप के प्रति सहज रूप से ही तन्मयता का भाव मन में जागृत हो जाता है । वह रूप और लीला का सौन्दर्य भी ऐसा है कि जो इन्द्रियों को स्तब्ध कर देता है । समस्त वृत्तियाँ उसी में केन्द्रीभूत हो जाती हैं ।

श्रीकृष्णलीला में परमतत्व, धाम, परिकर के संयोग से संभव है । मुरली योगमाया है ।जेजीव तथा ब्रह्म का संयोग कराती है । प्रेम की प्रगाढ़तम चेतना मुरली के माध्यम से ही जगाई जा सकती है । ईश्वरीय प्रेम की चेतना में ही उसका स्वर सुना जा सकता है । मनुष्य के भाव जगत की सम्पत्ति, सारी लौकिक रीतियों को आलम्बनस्वरूप कृष्ण में आरोपित करने इससे जो ईश्वरीय आनन्द की उपलब्धि होती है वही लीला कही जा सकती है ।

भगवान् की बाल तथा कैशोर्य लीलाओं का सूर ने अपने काव्य में वर्णन किया है ।` बालकृष्ण की एक-एक चेष्टाओं के चित्रण में कवि कमाल की होशियारी और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है, न उसे शब्दों की कमी होती है, न अलंकार की, न भावों की न भाषा की । क्यों ऐसा है ? क्या कारण है कि शताधिक पदों में बार-बार दुहरायी हुई बात इतनी मनोरम हो गई है ? क्या कारण है कि उपमाओं , रूपकों, और उत्प्रेक्षाओं की जमात हाथ जोड़ कर

इस बारबार दुहराई हुई लीला के पीछे दौड़ पड़ी है ? इसका कारण यशोदाका निखिलानंद संदोह भगवान् बालकृष्ण के प्रति एकान्त आत्म-समर्पण है । अपने आपको मिटाकर, अपना सर्वस्व निछावर करके जो तन्मयता प्राप्त होती है वही श्रीकृष्ण की इस बाललीला को संसार को अद्वितीय काव्य बनाये हुए है ।[१] यही सर्वस्व निछावर करने की तन्मयता लीला का एकमात्र कारण है ।

दास्य-वात्सल्य-मधुर भाव यह लीला के सोपान हैं । मधुर भाव में लीला-तत्व का उत्कृष्टतम रूप उपलब्ध होता है । उसका कारण है पूर्ण आत्मसमर्पण की भावना । उसमें शृंगार रति के संयोग, वियोग रति के साथ ही साथ ऐन्द्रिय प्रवृत्तियां भी श्रीकृष्ण के लिये अभिमुख हो जाती हैं । समवेत व्यक्तित्व की श्रीकृष्ण के प्रति अभिमुखता ही समर्पण की पूर्णता है । जीव की अनुभूति, भाव तथा शारीरिक वृत्तियां उसी भाव में स्तब्ध हो जाती हैं । इसका पूरा श्रेय लीला को है । साधारण भाव में इस कोटि का आत्मसमर्पण सम्भव नहीं । बिना लीला के आत्यन्तिक स्थिति तक नहीं पहुंचा जा सकता । चित्प्रवेग बिना लीला सम्भव नहीं है । श्रीकृष्ण का रूप और वेणु उसमें सहायक है । लीला संयोग की वह प्रक्रिया है जहां साध्य और साधक में अन्तर तो बना रहता है किन्तु आकर्षण एवं समर्पण की भावना दोनों ओर से होती है । ईश्वर की ओर से भावात्मकता भी आवश्यक है -" भक्तन के सुखदायक स्याम । नारी पुरुष नहीं कछु काम ।" में लीला की इस स्थिति की व्यंजना मिलती है इसी क्रम में आगे सूर ने कहा है -

> देखि सबनि रीझे बनवारी । तब मन में इक बुद्धि बिचारी ।
> अब दधि-दान रचों इकलीला । जुवतिनि संग करों रस-क्रीला ।[२]

लीला की पूर्णता केवल भक्ति भाव में सम्भव नहीं । उसका विस्तार और चरम उत्कर्ष तो आत्मसमर्पण में है । लीलामें संभ्रम संभव नहीं, उसमें सन्निकटता आव-

---

१. मध्यकालीन धर्म साधना- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १४७

२. सूरसागर, पद २०७८

श्यक है। चरित गान में यह संभव नहीं। यही कारण है कि तुलसी राम के नाम के ~~नाम के~~ बाद उनके रूप पर आकर एकदम रुक गए उससे आगे बढ़ने में उन्होंने अपनी दास्यभक्ति की मर्यादा का उल्लंघन समझा। किन्तु श्रीकृष्ण-लीला की सबसे बड़ी बात अंग-प्रत्यंग का समर्पण पूर्ण पुरुषोत्तम में करना अनिवार्य है। श्रीकृष्ण ने स्वयं दान-लीला के संदर्भ में यह स्पष्ट रूप से कहा है --

> लैहौं दान सब अंगनि कौं।
> अति मद गलित ताल-फल त गुरु, इम जुग उरग उतंगिनि कौं।
> खंजन, कंज, मीन, मृगसावक, भंवरज अरु भुव भंगनि कौं।
> कुंदकली, बंधूक, बिंबफल, बर ताटंक तरंगनि कौं।
> सूरदास प्रभु हंसि बसकीन्हौं, नायक कोटि अनंगनि कौं।[1]

मनुष्य की हार्दिक एवं मानसिक प्रवृत्तियों का श्रीकृष्ण में समर्पण लीला-तत्व की पूर्णता नहीं हुई। जीव की शारीरिक वृत्तियां भी उसी की ओर उन्मुख हों, उसी में अर्पित हो जायं तभी लीला-तत्व की पूर्ण स्थिति का बोध सम्भव है। मन-वचन,कर्म से श्रीकृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण की भावना का उच्चतम रूप --जुवतिनि कैं यह ध्यान सदाईं। नैकु न अंतर होहिं कन्हाई' में मिलता है।

प्रेम का परिपाक और पूर्णता चीरहरण'लीला' के द्वारा अधिक स्पष्ट हो जाती है। यहां श्रीकृष्ण और गोपियां अधिक निकट आ जाती हैं। यहां आवरण, निरावरण हो जाता है। अस्तु उनमें स्वच्छन्दता का भाव जागृत हो जाता है। उनका वाह्य एवं अन्तर दोनों समर्पण कृष्ण के प्रणाय से दीप्त हो उठता है। प्रकाश ही प्रकाश व्याप्त हो जाता है। तथापि गोपियां देह की दूरी बनाये रखती हैं। अतएव कृष्ण दानलीला की रचना करते हैं। गोपियों को शारीरिक रूप से निकट लाने का यह श्रीकृष्ण का प्रयास उनके यौवन का दान मांगने में दृष्टिगोचर होता है। सूर की भक्ति में लीला-

---

१. सूरसागर, पद २०८३

रस की चरम परिणाति यही है। जहां कृष्णा के प्रति समर्पण में शरीर त्याज्य नहीं वरन् अपरिहार्य है। यहां कृष्णा और गोपिकाओं में पर्याप्त बहस छिड़ती है, और गोपियों तथा कृष्णा के बीच की दूरी समाप्त हो जाती है —

> माखन दधि कह करौं तुम्हारौ।
> या बन मैं तुम बनिज करति हौ नहिं जानति मोकौं घटवारौ।
> मैं मन मैं अनुमान करौं नित, मोसौं कैसें बनिज पसारौ।
> काहैं कौं तुम मोहि कहति हौ जोबन-धन, ताकौ करि गारौ।
> अब कैसे घर जान पाइहौ, मोकौं यह समुझाइ सिधारौ।
> सूर बनिज तुम करति सदाई, लेखौ करिहौं आजु तिहारौ।[१]

कृष्णा की 'कामरी' योग-माया है जिसके द्वारा वे लीला का उद्घाटन करते हैं। गोपियों की व्यंग्यात्मक चुटकियां कृष्णा की तिलमिलाहट का कारण बनती हैं गोपियां कहती हैं —

> तुम कमरी के ओढ़न हारे पीताम्बर नहिं छाजत।
> सूर स्याम कारे तन ऊपर, कारी कामरि भ्राजत।[२]

तथा —

' को माता को पिता तुम्हारौं, प्रश्न का उत्तर ही कृष्णा की लीला का उद्घाटन है। वे गोपियों पर व्यंग्य करते हैं —

> को माता को पिता हमारे।
> कब जनमत हमकौ तुम देख्यौ, हँसियत बचन तुम्हारे।....
> तुम जानत मोहिं नंद-ढुटौना, नंद कहां तैं आए।
> मैं पूरन अबिगत अबिनासी माया सबनि भुलाए।[३]

श्रीदामा के कहने पर —

सूर स्याम कौ दान देहु री, मांगत ठाढ़े कबके'।, कृष्णा के ब्रह्मत्व का भी गोपियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अन्ततः कामनृपति की दुहाई पर गोपि-

---

१. सूरसागर, पद २१४२
२. सूरसागर, पद २१३५
३. सूरसागर, पद २१३८

कार्य कृष्णा की बात मान जाती है ।[1] और उसके बाद आनंद-मग्न होकर सब सुध-बुध भूल जाती हैं । लोक-लाज की मर्यादा अपने आप टूट जाती है । सोते-जागते केवल कृष्णा का ही ध्यान रहता है । स्याम के रस में ही मतवाली डोलती फिरती हैं । प्रेम की परिपूर्णता का अनुभव उन्हें और सभी कुछ विस्मृत कर देता है । रीती मटकी लेकर गोरस के स्थान पर 'गोपाल' बेचती फिरती हैं । कृष्णा के सम्बन्ध से और सभी नाते समाप्तप्राय हो जाते हैं । कृष्णा के ध्यान में तनमन की सुधि नहीं रह गई । घर में मन नहीं लगता । मर्यादा के वचन, बाण सदृश लगते हैं । माता, पिता-गुरुजन, पति - सभी सम्बन्ध विस्मृत हो जाते हैं । वे स्याम से मिलकर एक रंग हो गई हैं[2] इस प्रेम की परिपूर्णता का दर्शन प्रस्तुत पद में व्यक्त है --

ग्वालिनि प्रगट्यौ पूरन नेहु ।
दधि-भाजन सिर पर धरे कहति गोपालहिं लेहु ।[3]

बाल्यकाल की माखन चोरी, से प्रारम्भ होकर कृष्णा के व्यक्तित्व में माधुर्य-व्यंजक, भावना-प्रधान लीला का सूत्रपात आगे चलकर दान-लीला, पनघट चीरहरण, यमुना-विहार, तथा रास में परिणत होता है । माधुर्य भाव का मनोहर रूप सूर-काव्य की विशिष्टता है । उसका रूप निखरा है श्रीकृष्णा की लीलातत्व के उद्घाटन में । चीरहरण के बाद गोपियां लोक लाज का आंशिक अतिक्रमण करती हैं । दानलीला में तथा यमुना-बिहार में प्रेम को विकसित करने का अवसर मिलता है । भावों की पूर्णता का इतना सुन्दर वर्णन अन्यत्र दुर्लभ लगता है । इस प्रेम का प्राकट्य रासलीला में स्पष्ट दिखाई देता है । श्रीकृष्णा की वंशी-ध्वनि सुन कर गोपियां सब कुछ भूलकर अस्तव्यस्त कृष्णा के समीप दौड़ जाती हैं । कृष्णा-प्रेम की यही सबसे बड़ी विवशता है गोपियों के साथ कि उनकी

---

१. सूरसागर, पद २१३८

२. सूरसागर, पद २२०७, २२०६

३. सूरसागर पद २२५८

तर्क-वितर्क करने की शक्ति भी समाप्त हो जाती है क्योंकि कृष्णा उनकी परीक्षा लेने के लिये रास से पूर्व उन्हें अपने-अपने घर लौट जाने के लिए उपदेश देते हैं । गोपियां कृष्णा के ताने पर असहाय हो जाती हैं । यद्यपि बुलाने के लिये वे कृष्णा को दोषी ठहराती हैं तथापि उनकी अपनी विवशता अधिक है जो इस पद में स्पष्ट है --

आस जनि तोरहु स्याम हमारी ।
बेनु-नाद धुनि सुनि उठि धाई, प्रगटतनाम मुरारी ।
क्यों तुम निठुर नाम प्रगटायो,काहे बिरद भुलाने ।
दीन आजु हम तो कोउ नाहीं, जानि स्याम मुसकाने ।
अपने भुजदंडनि भरि गहियै, विरह सलिल में भासी ।
बार-बार कुल धर्म बतावत ऐसे तुम अबिनासी ।
प्रीति बचन नौका करि राखो, अंकन भरि बैठावहु
सूर स्याम तुम बिनु गति नाहीं, जुबतिनि पार लगावहु ।[१]

इसके पश्चात् कृष्णा का गोपी और राधा से संयोग घटित होता है । इस संयोग में जीव तथा ब्रह्म के मध्य समस्त अन्तर के समाप्त होने की प्रक्रिया विघटित होती है । ब्रह्म श्रीकृष्णा तथा जीव का प्रतीक गोपियां मानी जा सकती हैं । समस्त अवरोधों के समाप्त होने के कारण प्रगाढ़ सान्निध्य एवं परस्पर समभावना एवं संलग्नता के दर्शन होते हैं ।[२] माधुर्य भाव की भक्ति का चरम उद्देश्य एवं चरम गति यही मानी जाती है । रासलीला से पूर्व गोपियों के मन में गर्व रहता है, किन्तु रासलीला से उसकी समाप्ति हो जाती है । अध्यात्म-वादी व्यक्ति इस लीला को भी भौतिक रूप में ग्रहण नहीं करते , वे तो श्रीकृष्णा को आत्मा के रूप में और गोपियों को वृत्तियों के रूप में देखते हैं । वृत्तियों का आवरण नष्ट होना ही चीरहरण लीला है और उनका आत्मा में रम जाना

---

१. सूरसागर, पद १६४७

२. सूरसागर पद १६६६, १७५०, १७५१

रास-लीला है।'[1] रागात्मिका भक्ति की पूर्णता पूर्ण आत्म समर्पण में ही है। श्रीकृष्ण के सम्पर्क से जीव और परमात्मा के बीच पड़ा आवरण भी हट जाता है। चीर-हरण का प्रतीकार्थ यही है। रासलीला में वंशी की ध्वनि का महत्त्वपूर्ण स्थान है।' वेदों में भगवान् के दो स्वरूप बतलाये गये हैं — नाम और रूप। वेणु-गीत ~~का~~ भगवान के नामात्मक स्वरूप का बोध कराता है। ..... ' वेणु-गीत का तात्पर्य भक्ति-मार्ग की स्थापना है। भागवत में वेणु का प्रभाव बतलाते हुए लिखा है --अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्' अर्थात् बांसुरी की तान से मनुष्यों की तो क्या, सभी चलने वाले चेतन पशु-पक्षी और जड़ नदी आदि स्थिर हो जाते हैं तथा अचल वृक्षों को भी रोमांच हो आता है[2]।

अस्तु श्रीकृष्ण का अवतार ग्रहण करने का कारण भी लीलातत्व का उद्घाटन करना ही था। संहार तो वह अपने धाम से भी कर सकते थे। किन्तु यह लीला प्रेम-लक्षणा भक्ति के द्वारा ही सम्भव है —

'भाव अधीन रहौं सबही के और न काहू नैकु डरौं।
ब्रह्मा कीट आदि लौं व्यापक, सबको सुखदैं, दुखहिं हरौं।
सूर स्याम तब कहीं प्रगटिही जहां भाव तहं तें न टरौं।

भाव ही लीला का मूलाधार है। लीला रस में चार भाव हैं --प्रथम दास्यभाव पर आधारित प्रीति रस ।

द्वितीय सख्यभाव पर आधारित - प्रेम रस
तृतीय वात्सल्य पर आधारित - वात्सल्य रस
चतुर्थ शृंगार ~~पर मधुर~~ भाव पर आधारित मधुर रस , उज्ज्वलरस

ये भाव क्रमश: एक दूसरे से उच्चतर हैं। मधुर भाव में तीन भेद हैं -- एक तो श्रेष्ठ साधारणी रति जिसमें काम-भाव विद्यमान रहता है, सुख की कामना भी रहती है -- जैसे कुब्जा। दूसरा समन्जसा भाव --ऐश्वर्य भाव स्वयं कृष्ण तथा द्वारिका की रानियां| और अन्तिम समर्था भाव हैं जिसमें केवल

---

१. सूर और उनका साहित्य- डा० हरवंश लाल शर्मा, पृ० २०७
२. सूर और उनका साहित्य - डा० हरवंश लाल शर्मा, पृ० २०६-२०७

श्रीकृष्ण की कामना रहती है --गोपी भाव । इस रति में महाभाव सबसे ऊँचा होता है --सान्द्रतम रस, जिसकी प्रतीक राधा है । अन्तत: गोपियां राधा-कृष्ण की नित्य विहार-लीला की कामना करती है । यह रस की अन्तिम स्थिति है ।

दास्य की दूरी सख्य से हट जाती है । वहां लीला की घनिष्टता आ जाती है । वात्सल्य में कृष्ण अनुकम्प्य हो जाते हैं । माधुर्य सर्वश्रेष्ठ इसलिये है कि उसमें तादात्म्य की स्थिति और भी घनिष्ट हो जाती है । यह तीनों भावों से ~~ऊपर~~ ऊपर की स्थिति है । उदात्तता तथा भाव की गहराई मधुर भाव में ही है ।

राधा-कृष्ण की निकुंज-लीला में सामीप्य, सालोक्य, सायुज्य तथा सारूप्य स्थितियां एक साथ बनी रहती हैं । इन चारों का अतिक्रमण कर जिस तत्व की उपलब्धि होती है वह चरम आनंदानुभव की अनुभूति है । लीला स्वयं अपने में लक्ष्य है । इसका कोई प्रयोजन नहीं, वह स्वत: साध्य और साधन है । लीला की चरम परिणति तक पहुंच कर भी जीव-ब्रह्म की अलग स्थिति अनिवार्य है । लीला ह्लादिनी शक्ति से स्फुरित होती है । विना श्रीकृष्ण-राधा के लीला सम्भव नहीं है । ईश्वर की सृष्टि में लीला ही लीला है । लीला का विकास भाव में , भाव का महाभाव में, इसके पश्चात् महाभाव फिर राधा और अन्त में ईश्वर । तक व्याप्त है । आनन्द की चरम स्थिति में संहार भी क्रीड़ा में तिरोहित हो जाता है । जहां कृष्ण का प्रभुत्व, सर्वशक्तिमयता का रूप केवल आनंद से आच्छादित हो जाय, वही लीला का चरम उत्कर्ष है । कृष्ण के सभी कार्य लीला ही हैं क्योंकि वह सहज रूप मेंघटित होते हैं । माखन चोरी से लेकर - चीरहरण, रास, पनघट-लीला, दान-लीला, हिंडोल-लीला, फागलीला, बसंत और वियोग लीला । वियोग रसात्मकता के वाद सारूप्य और सायुज्य की स्थिति है --राधामाधव भेंट भई[1] यह लीला की अन्तिम स्थिति है । एक दूसरे

---

१. राधा माधव भेंट भई ।
   राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति है जु गई ।

(आगे जारी)

में प्रतिबिंबित हो जाना ।

सूरदास ने भगवतलीला के माध्यम से अपने अन्तस्तल का उद्घाटन ही किया है । लीला की प्रतीकात्मकता उसकी प्रमुख विशेषता है । कृष्णा की अलौकिकता की प्रतिष्ठापना करना सूर का उद्देश्य नहीं प्रतीत होता । यही कारण है कि उनकी दृष्टि अधिक सहज, मनोरम है एवं मनोवैज्ञानिकता का संस्पर्श करती है । भक्ति भावना को स्थिर रखते हुए सूर ने लौकिक वर्णन में ही यथा स्थान अलौकिकता का पुट भी दे दिया है । आध्यात्मिकता एवं भक्तिभावना तथा धार्मिकता का प्रभाव अक्षुण्य रखते हुए भी सूरदास श्रीकृष्णा-लीला में मानव गुणों का समावेश कर देते हैं । श्रीकृष्णा से साक्षात्कार होते ही मानव-मन की दुर्बलतायें नष्ट हो जाती हैं । कृष्णा के संयोग-शृंगार के वर्णनों में भी कहीं वासना की अतिशयता अथवा चरित्र की शिथिलता नहीं दिखाई पड़ती । यह शृंगार भी उनके व्यक्तित्व की भाँति ही असाधारण है । सूर साहित्य में एक ओर तो आध्यात्मिक रहस्य आद्योपान्त है जिसके कारण हम इसे निस्सन्देह धार्मिक काव्य मानते हैं और दूसरी ओर उसमें भावों की वह बंधन विहीन क्रीड़ा भूमि है जिसमें लौकिक शृंगार-लीला को भी सम्यक् विकास पाने का पूर्ण अवकाश प्राप्त है ।[१]

श्रीकृष्णा की लीला में सूर की भक्ति के सभी पक्ष समाहित हो जाते हैं । दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन का तिरोभाव लीलातत्व में हो जाता है । सूरदास की भक्ति पुष्टिमार्ग का अनुसरण करती है । प्रेम-मार्ग का आत्मसमर्पण

पिछले पृष्ठ का शेष —

माधव राधा के रंग राचे, राधा माधव रंग रई ।
माधव राधा प्रीति निरन्तर, रसना करि सो कहि न गई ।
विहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अन्तर, यह कहिकै उन ब्रज पठई ।
सूरदास प्रभु राधा माधव, ब्रज-विहार नित नई नई ।।

—सूरसागर, पद ४६१२

---

१. सूर की काव्य कला, डा० मनमोहन गौतम, पृ० २६.

रास-लीला में पूर्णता की स्थिति प्राप्त करता है । उपासना- मार्ग में आध्यात्मिकता के साथ-साथ लौकिकता का इतना सजीव सरलतम सामंजस्य अन्यत्र दुर्लभ प्रतीत होता है ।

धाम (सूरदास)

वैष्णव पद्धति के अनुकूल ही सूर ने भी 'धाम' का यथास्थान वर्णन किया है । तुलसी की भाँति सूरदास ने भी बैकुण्ठ, स्वर्ग, क्षीरसागर, सुरपुर, हरिपुर आदि का उल्लेख किया है । इन धामों का उल्लेख भक्ति सम्बन्धी पदों में प्राय: मिलता है । पापियों का उद्धार, अपराधियों की क्षमा-याचना तथा कभी कभी शक्ति की खोज में भी सूरदास का साधक हरिपुर, स्वर्ग तथा बैकुण्ठ की कामना करता है —

तुम मोसे अपराधी माधव केतिक स्वर्ग पठाए । [१]

अथवा

याहि समुझि जो रहै लौ लाइ । सूर बसै सो हरिपुर जाइ ।[२]

हरि-पद सौं उन ध्यान लगायौ । अन्त काल बैकुण्ठ सिधायौ ।[३]

जान अजान नाम जो लेइ । हरि बैकुण्ठ-बास तिहिं देइ ।[३]

नाम सुनत त्यौं पाप पराहिं । पापी हूँ बैकुण्ठ सिधाहिं ।

उपर्युक्त पदों में नाम-महिमा के साथ ही धाम की चर्चा की गई है । अतएव सूर की दृष्टि में भी नाम बैकुण्ठ को प्राप्त कराने वाला है । यह मान्यता तुलसी की भी है ।" यों कहि पुनि बैकुण्ठ सिधारे । विधि हरिदेव महादेव सुर सारे ।[४] इससे ज्ञात होता है कि सूर ने देवताओं के निवास को भी बैकुण्ठ कहा

---

१. सूरसागर, पद ७

२. वही, पद ३६४

३. वही पद, ४१५,८२,१०,१०४,४०४,४२४,४२५,६२७

४. वही, ३६६

है। सुखधाम की भी व्यंजना इसी धाम से है, जहाँ बहुत से खल तरने के बाद चले गए हैं। यह संतरण भी भगवान की विशेष कृपा का परिणाम ही है।[1]

कुछ धामों की रहस्यात्मक व्यंजना प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए 'सरोवर' शब्द लिया जा सकता है –

१. चकई री चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।[2]

२. चलि सखि तिहिं सरोवर जाहिं।
जिहिं सरोवर कमल कमला रवि बिना विकसाहिं।[3]

यह अद्भुत सरोवर हरि, श्रीकृष्ण का आश्रय छोड़कर और क्या हो सकता है जो राग-द्वेष, हर्ष-विषाद, तथा अन्धकार अर्थात् भ्रम, मोह आदि कुप्रवृत्तियों से मुक्त है। साधक ऐसे धाम की कल्पना करता है जहाँ प्रेम वियोग न हो। सूर की लीला-भक्ति की यह सबसे बड़ी विशेषता है। जहाँ संभ्रम नहीं, सन्निकटता आवश्यक है, जहाँ समवेत व्यक्तित्व कृष्ण को अर्पित हो जाता है। यहाँ वियोग की स्थिति का प्रश्न कहाँ उठता है। वह सौन्दर्य अथवा वह धाम ऐसा समुद्र है जहाँ मन रूपी नदी पहुँच कर बहना भूल जाती है, उसमें स्थैर्य अपने आप आ जाता है। अपने को उसमें विलीन करना या उसका सम्पूर्णत: स्वीकार्य दोनों एक ही बात हुई। ऐसे धाम में पहुँच कर पाप-पुण्य सबसे जीव ऊपर उठ जाता है। उसकी सारी प्रवृत्तियाँ श्रीकृष्ण में लीन हो जाती हैं। ऐसे ही धाम की कल्पना सूर के मन में है –

सूर क्यों नहीं चलै उड़ि तहं, बहुरि उड़िबो नाहिं।[4]

श्याम कमल पद, निज-पद, अभय-पद, आदि धामों का भी संकेत स्थान-स्थान पर

---

१. सूरसागर, पद १५८ केसी, कंस कुबलया, मुष्टिक सब सुखधाम सिधारे।

२. वही, पद ३३७

३. वही, पद ३३८

४. वही, पद ३३८

भृंगी री भजि स्याम पद कमल जहाँ न निसि को त्रास
जहं विधु भानु समान एकरस सो बारिज सुखरास ।। ३३६ सूरसागर

मिलता है।[१] निज पद के संदर्भ में नाम कीर्तन का माहात्म्य वर्णन करते हुए सूर ने यहाँ तक कहा है –

जाके गृह में हरिजन जाइ। नाम कीर्तन करैं सो गाइ।
जद्यपि वह हरिनाम न लेई। तदपि हरि तेहिं निज पद देई।[२]

यहाँ सूर ने नाम-जप, नाम संकीर्तन के साथ श्रवण-भक्ति की महिमा की भी महत्ता का प्रतिपादन किया है। नाम-जप, श्रवण, तथा स्मरण निज-पद प्रदाता रहा है। सभी सुखों का प्रदाता तो हरि का नाम है, उसका रूप है। बिना उसकी स्थिति के धाम की कल्पना भी व्यर्थ है। उसका अपरिमित सौन्दर्य ही वह केन्द्र बिन्दु है जिसका साक्षात्कार कर नेत्रों की गति स्थिर हो जाती है। जिसका मन नंदलाल में आसक्त हो गया है उसे दूसरे धाम से क्या आसक्ति हो सकती है? कहीं उसका चित्त स्थिर हो सकता है? –

ऐसे सूर कमल-लोचन त, चित नहिं अनत डुलावै।[३]

सम्पूर्ण रूप से कृष्ण के रूप में अपना अस्तित्व मिला देना सूर की भक्ति का श्रेष्ठतर पक्ष है। इसे स्पष्ट करते हुए आगे के पदों में सूर ने कहा है कि जो भक्त केवल भगवद् भजन में प्रतीति रखते हैं जिनका हरि चरणों में दृढ़ अनुराग है, उन्हें स्वर्ग, नरक का सुख-दुख व्याप्त ही नहीं होता। हरि का नाम ही वह अमृत फल है जो चौरासी लाख योनियों से छुटकारा देता है। अस्तु 'भयहूं करि कोउ लेइ जो नाम। हरि जू देहिं ताहि निज धाम' का कथन यहाँ चरितार्थ होता है।

ईश्वर की लीला, धाम, श्रवण, सेवा, संगति आदि अवस्थाओं में सूर जिस आनंद का अनुभव करते हैं वह मुक्ति में भी दुर्लभ है। उस आनंद को सूरदास

---

१. तदपि हरि तेहिं निज पद देइ। सूरसागर, पद ४१५
रंक सुदामा कियौ अजाची दियौ अभयपद ठांउ। सूरसागर, पद १६४
२. सूरसागर, पद ४१५
३. सूरसागर पद ३५३

ने बड़े-बड़े मुनियों के लिये भी स्पृहणीय माना है। वेद, उपनिषदादि धर्म-ग्रन्थों में जिस परम-धाम का वर्णन है वह सूरदास का लीला-धाम है, उनका भजनानंद ब्रह्मानंद से बढ़कर है।[१] अपनी हरिलीला गायन में सूर ने गोकुल, वृंदावन को जो महत्त्व दिया है उसकी तुलना कोई धाम नहीं कर सकता। इन दोनों में भी वृंदावन का महत्त्व अधिक है। यही श्रीकृष्ण का नित्य लीलाधाम है, यही गोलोक है। इससे बढ़कर इसकी महत्ता और क्या हो सकती है कि स्वयं पूर्ण-पुरुष श्रीकृष्ण इसमें निवास करते हैं। सूर ने स्थान-स्थान पर इसे श्रीकृष्ण का निज-धाम कहा भी है। वहाँ रहकर साधक किसी स्वर्ग की कल्पना क्यों करेगा ? यहाँ तो केवल मनमोहन का धाम, नाम-स्मरण ही चारों फलों को प्रदान करता है, वही पूर्ण आनंद की उपलब्धि करा देता है। ब्रजवासियों के भाग्य की सराहना नारायण और कमला वैकुण्ठ से ही करते हैं।[२] कृष्ण की मुरली की ध्वनि इतनी अद्भुत और आकर्षक है कि उसमें समस्त चेतना विलुप्त सी हो जाती है। हरि संग व्यतीत किया हुआ एक पल भी तीनों भुवनों के सुख की तुलना में अधिक है।' जो सुख स्याम करत वृंदावन, सो सुख तिहुं पुर नाहीं' में सूर की वृंदावन धाम के प्रति स्पष्ट रूप से आसक्ति झलकती है।'[३] इसी को सूर ने नित्य-धाम भी कहा है 'नित्यधाम वृन्दावन श्याम, नित्य रूप राधा ब्रजधाम।

सूर ने वृंदावन को लौकिक तथा अलौकिक दोनों दृष्टियों से व्यंजित

---

१. भजनानंद अलि हम प्यारो। ब्रह्मानंद सुख कौन विचारो। सूरसागर।

सूर और उनका साहित्य- डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० २१६

२. मुरली धुनि बैकुण्ठ गई।

नारायन कमला सुनि दम्पत्ति, अति रुचि हृदय भई।
सुनो प्रिया यह बाणी अद्भुत वृंदावन हरि देखो।
धन्य धन्य श्रीपति मुख कहि कहि जीवन ब्रज को लेखो।
रास-विलास करत नंद-नंदन, सो हमतें अति दूरि।
धनि बन-धाम धन्य ब्रज धरनी, उड़ि लागै जो धूरि।
वह सुख तिहूं भुवन में नाहीं जो हरि-संग पल एक।
सूर निरखि नारायन इक टक भूले नैन निमेष। सूरसागर, पद १६८२

३. वृन्दाबन हरि बैठे धाम —सूरसागर, पद ३०४६

किया है । वृंदावन स्वत: भी धन्य है जहाँ कृष्णा विविध लीला करते हैं । इसकी समता कल्पवृक्ष और कामधेनु भी नहीं कर सकते ।[१] इसी लिए वे माधौ से याचना करते हैं --

माधौ मोहिं करौ वृंदावन-रेनु ।[२]

सूर स्याम जिनके संग डोलत,हंसि बोलत, मथि पीवतु फेनु ।

भक्त-हृदय की यह अभिलाषा सूर की अपनी मौलिकता है । सूर ने रसरूप कृष्णा की लीला की उपासना की है । लीला का क्षेत्र वृंदावन होने के कारण इसकी विशेष महिमा गाई गई है । वृंदावन और परब्रह्म के आदि लोक में कोई अन्तर नहीं । दोनों का स्वरूप एक ही जैसा है, ऐसा साधकों का विश्वास है । तभी तो वृंदावन की रज भी प्रशंसनीय है जहां कृष्णा गायों को चराते हैं, नित्य निवास करते हैं । परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णा के अक्षर धाम आदि वृंदावन ही हैं --

धनि गोपी धनि ग्वाल धन्य ये ब्रज के वासी,
धन्य यशोदा नंद भक्ति वश किये अविनाशी ।....
वृंदावन ब्रज को महत्त, व्यापै बरन्यो जाइ ।
चतुरानन पग परसि के लोक गयो सुख पाइ ।[३]

'वृंदावन' धाम की सृष्टि की सम्पूर्णतम सिद्धि प्राप्त है । यह वृंदावन स्वयं कृष्णा की रचना है अस्तु इसका आनन्द और सौन्दर्य कृष्णा से कम नहीं है । उन्हीं की भांति यह भी सच्चिदानन्दमय है । इसे देखने के लिए दिव्य चक्षु अनिवार्य है ।[४]

---

१. धनि यह वृंदावन की रेनु ।....
सूरदास ह्यां की सरवरि नहिं, कल्पवृक्ष सुर-धेनु । सूरसागर पद ११०९

२. सूरसागर,पद ११०७

३. सूरसागर, दशम स्कंध (वें०प्रे०), पृष्ठ १५८ ।

४. ब्रज ही में नित करत विहारा । जसुमति भाव-भक्ति हित कारन ।
यह लीला इनको अति भावै । देह धरत पुनि-पुनि प्रकटावै ।
नैकु तजत नहिं ब्रज नर-नारी । इनमें सुख गिरिधरत मुरारी ।
--सूरसागर, पद १०६९

मीराबाई

ईश्वर प्राप्ति के अनेकानेक साधनों, पंथों एवं मार्गों में भक्ति मार्ग का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। अन्य साधनों अर्थात् ज्ञान, कर्म आदि की अपेक्षा इसकी लोकप्रियता भी अधिक रही है। इसका एक कारण तो समकालीन परिस्थितियों का प्रभाव माना जा सकता है किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रमुख कारण भी हैं। संभवत: भक्ति का मूल आधार मानव-हृदय की नैसर्गिक भावनाओं पर केन्द्रित था। इसमार्ग का अनुसरण करने वाले साधक सांसारिक जीवन से भी सन्निकट थे, और इसका महत्वपूर्ण कारण था कि इस साधना के इष्ट हैं विष्णु या हरि के अवतार, राम, कृष्ण। जिनका रूप स्वभावतऽपास्त समस्त दोषं, अशेष कल्याण गुणैक राशिम् कहकर उपस्थित किया गया है।

इसी संदर्भ में मीरा की भक्ति पर दृष्टिपात करना है। किसी भी कवि अथवा साधक के सम्पूर्ण रूप को समझने के लिए उसके अन्तर्जगत का उद्घाटन आवश्यक होता है। यद्यपि यह कार्य अत्यन्त कठिन है क्योंकि कभी समुचित प्रभावों के अभाव में और कभी कवि की स्वत: उल्लेख्य कुछ पंक्तियों के कारण बड़ी असमंजस की स्थिति उपस्थित हो जाती है तथा अन्तिम रूप से किसी निष्कर्ष पर पहुंचना बड़ा दुष्कर कार्य हो जाता है, तथापि उस साधक कवि विशेष की रचनाद्वारा उसके काव्य तथा तत्कालीन परिस्थितियों के अध्ययन के माध्यम से किसी न किसी ठोस निष्कर्ष तक पहुंचने में सहायता तो मिलती ही है।

मीराबाई भगवान श्रीकृष्ण की परम उपासिका होने के कारण वैष्णव धर्म को मानने वाली थीं, यह तथ्य तो स्पष्ट हो जाता है। किन्तु उनकी रचनाओं को पढ़ने तथा उनके समय पर दृष्टिपात करने से इस विषय में अभी तक कुछ न कुछ मतभेद रहता आया है कि वे किस आचार्य की शिष्या थीं अथवा किस सम्प्रदाय विशेष में दीक्षित थीं। कुछ लोग उन्हें वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्गी-भक्ति की अनुयायी मानते हैं, कुछ लोगों ने जीव गोस्वामी को मीरा का दीक्षा गुरु माना है। श्री वियोगी हरि का कहना है कि मीरा के सिद्ध गुरु जीव गोस्वामी ही थे और वे इसी कारण श्री चैतन्य सम्प्रदाय की ही वैष्णव थीं।

प्रमाण स्वरूप निम्नलिखित पद भी उद्धृत किया है -

अब तो हरी नाम लो लागी

सब जग को यह माखन चोरा, नाम धर्यो बैरागी ।[१]

किन्तु बिना किसी पुष्ट प्रमाण के इस तरह के पदों को मीराकृत मान लेना उचित नहीं लगता । यहाँ संक्षेप में मीराबाई पर पड़े प्रभावों पर एक दृष्टि डालना आवश्यक हो जाता है ।

मीराबाई और कृष्णोपासक सम्प्रदाय :-

यों तो भक्ति का इतिहास तथा उसकी सम्यक् व्याख्या एवं मीमांसा की इति नहीं है किन्तु यहाँ उसका विस्तृत विवेचन अपेक्षित नहीं है । यहाँ हमें मीरा की भक्ति के संदर्भ में केवल कृष्ण-भक्ति पर संक्षिप्त रूप से दृष्टिपात करना है । भारतवर्ष में ईश्वर-प्राप्ति के अनेकानेक साधनों एवं पंथों में भक्ति-मार्ग का इतिहास अत्यंत प्राचीन एवं रोचक भी है । सम्भवत: यही कारण इसकी लोकप्रियता का रहा हो ।

मीरा के काव्य में किसी दार्शनिक मववाद की सूक्ष्म रेखाएं खोजना सर्वथा अन्याय है । वे केवल भक्त थीं, चिरन्तन प्रियतम के लिए अनन्त प्रणाय की भावना की साकार प्रतिमा थीं । ऐसे प्रणाय को दार्शनिकता का जामा पहनाना अनुचित सा लगता है । कवि हृदय होने के कारण संयोग-वियोग की नाना प्रकार की अनुभूतियाँ अनायास ही अनेक पदों में अभिव्यक्ति पा गई हैं । उन्होंने ठाकुर जी के अतिरिक्त किसी अन्य की आराधना के पद नहीं गाया है । नागरीदास का भी प्रमाण है कि मीरा पद बनाकर 'ठाकुर' के आगे गाती थीं ।[२]

---

१. मीराबाई की पदावली - आचार्य परशुराम चतुर्वेदी

२. आपुन गिरधर न्याव कियौ यह, छान्यौ दूधरु पानी

मीरा प्रभु गिरधर नागर के चरन कमल लपटानी ।

—मीराबाई - डा० प्रभात, ३०३

गिरधर नागर ही उनके अभीष्ट थे । उन्हीं के रूप-नाम-लीला का गायन उनकी आसक्ति थी । राधावल्लभी, चैतन्य सम्प्रदायो, निम्बार्क सम्प्रदायी आदि विभिन्न सम्प्रदायों के कृष्णोपासक इसी धारणा से सहमत हैं ।

मीरा का जीवन स्वत: उनके सगुण साधिका होने का प्रमाण है । यही कारण है कि मीरा के विरोधी वल्लभ सम्प्रदायी तथा अन्य कृष्णोपासक सम्प्रदाय उनके आराध्य के रूप में "गिरधरनागर" का ही उल्लेख करते हैं । रामोपासक सगुण साधक भी मीरा के इसी रूप को सत्य मानते हैं ।

संत-सम्प्रदाय और मीरा

मीरा के कतिपय पदों को पढ़कर ऐसा अनुभव होता है कि उन पर संत मत का भी यथेष्ट प्रभाव था उनके कुछ पदों से ऐसा भी विश्वास होता है कि उनके गुरु संत रैदास थे जिनके प्रति उन्होंने अपनी कृतज्ञता व्यक्त की है । किन्तु समय ~~सम्य~~ का सही ज्ञान न होने से यह निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता ।

वातावरण के प्रभाव का परिणाम नि:संदेह साहित्य और साधना को नवीन मोड़ देने में समर्थ होता है । मीरा का समस्त घरेलू वातावरण विष्णु-भक्ति से प्रभावित था । "सन्तन ढिग बैठि-बैठि लोक लाज खोई" मात्र कह देने से मीरा को संत-मत में दीक्षित मान लेना उचित नहीं प्रतीत होता है । संत का अर्थ ईश्वर भक्त, साधु या महात्मा भी हो सकता है । अतएव उसे संकीर्णता के दायरे में बांधना उचित नहीं जान पड़ता । भक्त और संत के अर्थ तथा उनके परमात्मा प्राप्ति के मार्ग की विवेचना पिछले ~~आचार्यों~~ अध्यायों में विस्तार पूर्वक किया जा चुका है । भक्तों के उपास्य सगुण साकार अवतारी राम-कृष्ण हैं तथा संतो के साध्य निर्गुण-निराकार परमात्मा है । चूंकि मीरा कृष्ण-भक्ति की उपासिका थी अत: उन्हें संतमत में दीक्षित नहीं माना जा सकता ।

हिन्दी साहित्य के कतिपय समीक्षकों ने मीरा के गिरधर नागर के प्रति माधुर्य प्रेम दिखाकर उनके प्रेम की तुलना संतो के प्रेम से किया है । पण्डित

रामचन्द्र शुक्ल ने भी मीरा की प्रेमसाधना में सूफियों के प्रेम का संकेत किया है। मीरा के कुछ पदों से संतमत के प्रभाव का संकेत मिलता भी है –

> हेणी सुरत सोहगिन नार, सुरत मेरी राम से लगे।.....
> राम नाम का चूडलो हो, निरगुन सुरमो सार।
> मीरा के प्रभु गिरधर नागर, हरि चरणा बलिहार।[1]

किन्तु इतने मात्र से उन्हें निर्गुण साधना के अन्तर्गत दीक्षित नहीं माना जा सकता।

कुछ आलोचक उन्हें नाथपंथी मानते हैं। 'जोगी मत जा मत जा मत जा' आदि द्वारा वे अपने कथन की पुष्टि करते हैं। अथवा 'के तो जोगी जग में नाहीं, केर बिसारी मोई,' में प्रेमिका की प्रगाढ़ आत्मीयता मात्र के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार 'जोगिया जी निसदिन जोऊं बाट', 'जोगिया जी आज्यो जी इण देस', आदि पद प्रेमातिरेक में मानव मन की व्यग्रता एवं कातरता ही व्यक्त करते हैं। इन पदों से मीरा के 'गिरधरनागर' एक साधारण नश्वर व्यक्ति की कोटि में कदापि नहीं रखे जा सकते प्रत्युत प्रेम अथवा आसक्ति की गहराई की अभिव्यक्ति अवश्य इन पदों को पढ़ने से प्रतीत होती है। मीरा के लिये तो वह सदैव उपास्य है। मीरा की उपासना पद्धति ने नाथ परम्परा के अनुकूल ही आचरण किया हो ऐसा आवश्यक नहीं प्रतीत होता वरन् उनका अपनी रचना में तदनुकूल भावों की अभिव्यक्ति करना तत्कालीन विचारधारा का प्रभाव सम्भव हो सकता है। 'जोगी' से किसी विशेष योगी का ही अभिप्राय आवश्यक

---

१. मीराबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी

२. फागुन के दिन चार रे होली खेल मनारे
   बिनि करताल पखावज बाजे अनहद की झणकार रे
   बिनि सुर राग छतीसो गावै, रोम रोम रंगसार रे.....
   मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कंवल बलिहार रे। वही, पृ० २४५

नहीं प्रतीत होता । क्योंकि स्वयं योगिनी बनकर प्रियतम की खोज में रत साधक यदि अपने आराध्य को जोगी नाम से अभिहित करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ।

मीरा की साधना पद्धति :-

वास्तव में मीरा की साधना पद्धति किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध नहीं थी । मीरा की भक्ति वियोग-प्रधान दास्य-भावना-मिश्रित थी । कृष्ण के प्रति मीरा की भक्ति विशुद्ध प्रेम पर आधारित है । नंदनंदन, गिरधर नागर ही उनके पति हैं । उनके अतिरिक्त ~~किसी~~ किसी दूसरे से उनका सम्बन्ध नहीं है । मीरा की समस्त साधना कृष्ण के सगुण-साकार अवतारी रूप पर ही केन्द्रित है । मीरा के एकमात्र आराध्य कृष्ण हैं । इसके अतिरिक्त यदि किसी सम्प्रदाय वाले उन्हें निर्गुण निराकार की उपासिका मानें तो उन्हें आपत्ति नहीं । उनकी भक्ति-साधना तो हृदय की सहज प्रवृत्ति स्वरूप कृष्ण के रूप पर आधारित है । जहां पहुंच कर उनके नेत्रों को अन्य कुछ भी देखने की इच्छा नहीं शेष रह जाती ।[१]

पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी की भारतीय संस्कृति, साहित्य, इतिहास तथा वातावरणजन्य परिस्थितियों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उस समय ज्ञान, भक्ति, योग अथवा कर्म से सम्बन्धित प्रमुख रूप से तीन विचार धारायें कार्य कर रही थीं । प्रथम ज्ञान,योग की धाराकी परम्परा से चली आती इस विचारधारा का चरम लक्ष्य चित्त-वृत्तियों के निरोध द्वारा परम तत्व की साधना का था । दूसरी प्रेम मार्गी कवियों की चिंता धारा थी जिनका लक्ष्य था

---

१. निपट बंकट छब अटके

म्हारे णेणा निपट बंकट छब अटके ।
देख्यां रूप मदन मोहन री, पियत पियूख मटके
बारिज भवां अलक मतवारी, णेणा रूप रस अटके
टेढ़यां कर टेढ़े करि मुरली, टेढ़्या पाग लर लटके
मीरा प्रभु रे रूप लुभाणी, गिरधर नागर नट के ।१।

मीराबाई की पदावली, पृ० १०३

परमात्मा के साथ तादात्म्य-भाव । भक्ति भाव की धारा तीसरी थी, यहाँ भक्त और भगवान का संबंध पिता, पुत्र, सखा, स्वामी, पति आदि का माना गया है । साधक अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए नवधा भक्ति का आश्रय ग्रहण करता है । भक्ति-धारा की इसी श्रेणी में मीरा का नाम लिया जा सकता है ।

मीरा की भक्ति कान्त-भाव की थी । वे गिरधर लाल को स्वकीया की भाँति अपना पति समझती थीं । इसीलिए कृष्ण को पिया, पिय, धणी, सैया आदि नामों से संबोधित करती हैं । मीरा निःसंदेह भक्त थी और नागर कृष्ण की माधुर्य भाव से उपासना ही उनकी इष्टथी ।

कृष्ण का अवतारी रूप

वस्तुतः मीरा की समस्त साधना-पद्धति कृष्ण के सगुण-साकार अवतारी रूप पर आधारित है । कृष्ण का सगुण रूप उनकी साधना का केन्द्रबिन्दु है, उनका लक्ष्य है और उनकी भक्ति का उद्देश्य भी है । कृष्ण के इस अवतारी रूप ने मीरा को विशेषतया दो प्रकार से प्रभावित किया है । प्रथम तो उनका बाल रूप– जिसकी लीला देखकर साधारण जनसमाज भी सुखी होता है –

सखी म्हारो कानूड़ो कलेजे की कोर ।
मोर मुगट पीताम्बर सोहे, कुण्डल की झकझोर ।
बिन्द्रावन की कुंज गलिन में, नाचत नंद किसोर ।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, चरण कंवल चितचोर ।[१]

तथा

कान्हो गोकुला के बासी भले ही आए गोकुला के बासी ।
गोकुल की नारि देखत, आनंद सुखरासी ।

---

१. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १४६, पद १६४

एक गावत, एक नाँचत, एक करत हाँसी ।
पीताम्बर फैटा बाँधे, अरगजा सुबासी ।
गिरधर कै सुनवल ठाकुर, मीराँ सी दासी ।[1]

यद्यपि मीरा ने कृष्णा के बाल रूप का वर्णन किया है किन्तु उनकी मानसिक आस्था कृष्णा के तरुणा गोपीपति रूप पर अधिक थी । मीरा का आकर्षणा भी इसी रूप पर था तथा मीरा की प्रेमाभक्ति का आधार भी यही रूप था :–

णौणाँ लोभाँ अटंका, शक्याँ णा फिर आय ।
रूम-रूम नख सिख लख्याँ, ललक ललक अकुलाय ।
..... भलो कह्याँ काँइ कह्याँ बुरो री सब लया सीस चढ़ाय ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर, बिणा पल रह्याँ णा जाय ।[2]

प्रेम की तन्मयता प्रकट करने वाली इस प्रकार की उक्तियाँ मीरा में सर्वत्र मिलती हैं । प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी मीरा का प्रेम रूपासक्ति से प्रारम्भ होकर पत्नी-भाव की आराधना में परिणात होता है । इस प्रकार के पदों में हृदय पक्ष की ही प्रधानता है । यहाँ पर मीरा की भक्ति कृष्णा के प्रति माधुर्य भाव की थी । वे कृष्णा को पति मानकर उनसे प्रणाय की भिक्षा माँगती हैं । 'हृदय की भावना मन्दाकिनी की भाँति कलकल करती हुई आई और मीरा के कंठस्थ सरस्वती की संगीतधारा में मिल गई यह भावना संगीत का सार बनी और उसी में मीरा के हृदय की अनुभूति मिली । मीरा ने 'गिरधर गोपाल' को रिझाया है, उन्हें अपना लिया है ।'[3]

---

१. मीराबाई की पदावली, पृ० १४६

२. वही, पृ० १०४

३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास , डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ५८३

जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ।

और इसी रूप के कारण उन्होंने कुल की कान और मर्यादा को भी तिलांजलि दे दी । [१]

श्रीकृष्ण का अविनाशी स्वरूप :--

साकारोपासक साधकों की यह एक बहुत बड़ी विशेषता रही है कि उन्होंने भगवान् को अवतार मानकर उनकी पूजा उपासना करने के साथ ही ब्रह्म के निर्गुण, निराकार, सर्वशक्तिमान रूप की वास्तविकता को भी स्वीकार किया है । तुलसी सूर, मीरा सभी के काव्य इसके प्रमाण हैं । ब्रह्म के निर्गुण रूप को प्राथमिकता न देने की एक मात्र विवशता इनकी रूप और लीला के प्रति अगाध श्रद्धा और आकर्षण है । सूर ने तो स्पष्ट शब्दों में इसे कह दिया है कि साकार स्वरूप के अभाव में मन निराश्रय तथा निरावलम्ब होकर इधर-उधर चंचल रहता है[२]।

मीरा ने भी अपने आराध्य के सगुण-साकार रूप की साधना के साथ ही उसके अनिर्वचनीय, पूर्णानन्द रूप की कल्पना भी की है किन्तु अन्ततोगत्वा वह 'हरि अविनाशी' मीरा का वही 'आराध्य' 'गिरधर गोपाल' का रूप ग्रहण कर विविध प्रकार की लीला द्वारा रूपायित होने लगता है । अन्ततः अविनाशी का आश्रय लेकर मीरा ने अपनी भौतिक विवशता को पराजित करने का प्रयास अवश्य किया है --

---

१. थारो रूप देख्या अटकी ।
कुल कुटम्ब सजण सकल बार-बार हटकी ।
बिसर्‌या णा लगां मोर मुगट नटकी ।
म्हारो मण मगण स्याम लोग कह्यां भटकी ।
मीरां प्रभु सरण गह्यां जाण्या घट-घट की ।
—मीराबाई की पदावली, पृ० १०३

२. रूपरेख गुन जाति जुगत बिन निरालम्ब मन चकृत धावै ।
—सूरसागर, पद - २

जग सुहाग मिथ्या री सजणी होवाँ हो मिट जासी
बरन कर्यां अविनाशी म्हां तो काल व्याल न खासी ।[१]

सभी सांसारिक सम्बन्धों की नि:सारता उनके अन्तरतम को पीड़ित करती रहीं तभी तो उन्होंने एक शाश्वत, कभी न समाप्त होने वाले, सम्बन्ध का निर्वाह करने का ही निश्चय कर और नश्वर तथा संसारी सम्बन्धों का त्याग कर दिया —

माँ सागर जग बंधन झूंठा, झूंठा कुलटा न्याती ।
पल-पल थारा रूप निहारां निरख-निरख मदमाती ।[२]

यही मीरा का जीवन संगीत था जो वैविध्य और भाव-विस्तार की ओर अधिक न जाकर उनकी सीमित अनुभूति, मौलिक संवेदना की सीमित पूंजी भर बन सका । यही कारण है कि मीरा का प्रणय भाव आध्यात्मिक होते हुए भी लौकिकता की सीमा का निस्तरण नहीं कर सका और उसकी स्वाभाविकता अथवा सहजता उसी रूप में बनी रही । आत्मसमर्पण की चिरंतन, दुर्दम्य कामना मीरा के प्रणय का मूल उत्स है । उनके काव्य का अनुशीलन करने से यह भले ही ज्ञात हो कि उन्होंने ब्रह्म के अविनाशी स्वरूप का भी समर्थन किया है किन्तु उन्हें उसको प्रमाणित करने अथवा इससे अधिक किसी दर्शन या मत विशेष की प्रतिष्ठा करने की किंचित लालसा नहीं थी । मीरा का आराध्य असीम तो है पर वह सीमा से उसे बांधना चाहती हैं । यही उनकी विशेषता है । " मीरा भी अपने आराध्य के उस सर्वमय और सर्वातीत रूप को पहचानती थीं । इस बात को उन्होंने नहीं भुलाया कि जो उनके मानस में प्रणय का आलम्बन बन कर लीलाकर रहा है, जिसकी आराधना के गीत बनकर वे स्वयं गूंज रही हैं, उसका एक अगम्य और अनिर्वचनीय रूप भी है जिसे " वेदपुराण " भी नहीं व्यक्त कर सके ।"[३]

---

१. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १५८पद १६४
२. वही, पृष्ठ १३३।१०६
३. मीराबाई - डा० प्रभात, पृ० ४०३

मीरा ने अपने आराध्य के रूप का वर्णन अपने अनेक पदों में किया है। रूप वर्णन की इस प्रक्रिया में अधिकतर पद कृष्ण की मोहनी सूरत और आकर्षक छवि के ही हैं। उनमें अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य को सम्पूर्ण रूप से आस्वादन करने की उत्कट लालसा परिलक्षित होती है। इस सम्बन्ध में यह सम्पूर्ण पद दृष्टव्य है -

निपट बंकट छब अंटके।
म्हारे णेणा निपट बंकट छब अंटके।
देख्या रूप मदन मोहन री, पियत पियूख्न मटके।
बारिज भवाँ अलक मतवारी णेणा रूप रस अंटके।
टेढ्याँ कट टेढे करि मुरली टेढ्या पाग लर लटके।
मीरा प्रभु रे रूप लुभाणी, गिरधर नागर नटके।[१]

मीरा के नयनों में जो नंदलाल बसे हैं उनका रूप कुछ इस प्रकार है। उनकी मोहनी मूरत और सांवरी सूरत है, सुन्दरवदन, कमलदल लोचन और नयनों में समा जाने वाली वारिज भंवर मतवारी अलकें हैं। ये सब उस मनमोहन की भुवन-मोहिनी मूर्ति में अनन्त आकर्षण मंत्र है।[२] मीरा कृष्ण के रूप पर आसक्त हैं। केवल उस मनमोहन के आकर्षक चितवन और असाधारण लीला का परम प्रकाम्य रस उन्हें अभीष्ट है। उन्होंने उसके नख,शिख वर्णन में उलझ कर अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करना अपना मन्तव्य कभी नहीं बनाया। यही कारण है कि मीरा के पदों में हार्दिकता की प्रधानता है। वे चिरकाल से कृष्ण के रूप-विरह की

---

१. मीराबाई की पदावली- परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०३
२. मीराबाई की पदावली - परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०४

सांवरो नंद नंदन दीठ पड्याँ माई।
डार्‌याँ सब लोकलाज, सुंध बुध बिसराई.... ।
नटवर प्रभु धर्‌याँ रूप जग लोभाई।
गिरधर प्रभु अंग अंग, मीराँ बलि जाई।।

म्हा मोणारो रूप लुभाणी।......
तन मन धन गिरधर पर वाराँ चरण कंवल मीरा विलमाणी।।

आसक्त रही हैं ।

कृष्ण का रूप सौन्दर्य ही ऐसा है कि वह सहज ही अपनी ओर आकृष्ट करता है, उसमें मोहित करने की असीम क्षमता है । संसार का विरलमनुष्य भी उस रूप सौन्दर्य का दर्शन कर उसकी ओर उन्मुख हो जाता है । मीरा के साथ भी यही हुआ । वे तो स्पष्ट शब्दों में कहती हैं -

> आली री म्हारे नैना बान पड़ी ।
> चित चढ़ी म्हारे माधुरी मूरत ह्यिाणी अणी गड़ी ।
> अटक्या प्राण सांवरो प्यारो जीवन मूर जड़ी ।[1]
> मीरां गिरधर हाथ बिकाणी लोग कह्यां बिगड़ी ।

मीरा का कृष्ण के रूप के प्रति यह आकर्षण एक दो जन्म या पल दो पल की बात नहीं । यह तो जन्म-जन्मान्तर का प्रेम है जो कभी रिक्त नहीं हो सकता ।

नाम :-

यह संसार नश्वर है । इसके रहस्य को समझ कर भी उससे निस्तार पाना बड़ा दुष्कर कार्य है । जीव इसके माया जाल में उलझ कर अपने कर्त्तव्य का निर्धारण नहीं कर पाता । अपनी सामर्थ्य से इस संसार रूपी भवसागर से जीवन का बेड़ा पार कर पाना बड़ा कठिन है । मानवीय कर्म, सामर्थ्य, ज्ञान, बुद्धि विवेक से भी ऊपर कुछ है जो स्वभावत: अदृश्य है - उसी की खोज साधक के जीवन का लक्ष्य है । उसकी प्राप्ति बहुत सरल नहीं है - किन्तु जीवन में उसका एहसास, उसकी अनुभूति भी कुछ सीमा तक शान्ति प्रदान कर साधक को एक विशेष दिशा का निर्देश करती है । यह साध्य सर्व शक्तिमान है, असीम सामर्थ्यवान है । साधक कभी तो उसके रूप की खोज में उसकी अनेकों मूर्तियां, प्रतिमायें स्थापित कर डालता है, कभी उसकी विविध लीला के आधार पर उसका नामकरण कर डालता है । कुछ भी हो, वह सर्व शक्तिमान है - उसका तेज असीम है, उसके

---

१. मीराबाई की पदावली, पद सं०१५४।१४

नाम में अमोघ शक्ति है तथा उसकी सामर्थ्य का कोई पार नहीं है। वे आराध्य कालीनाग को नाथ सकते हैं, गिरि को उठा सकते हैं, मघवा का गर्व चूर कर सकते हैं। इतना ही नहीं ब्रह्माण्ड स्वयं उनकी चरणों में भेंटता है। परिणाम-स्वरूप वह गिरिधरनागर, नटवर सारंगपानी, गोविंद, कृष्ण, ब्रजनाथ, दीनानाथ, हरि, अविनासी, प्रतिपालक, सरणागत रक्षक बनकर अनेक रूपों में नाम धारण करता है।

उसके नाम में भी असीम शक्ति है। उसका नाम लेने मात्र से पत्थर भी पानी पर तैर गये, गणिका कीर को पढ़ाने से ही बैकुंठ चली गई, अजामिल के समस्त पाप क्षण मात्र में नष्ट हो गये, और यम का त्रास नष्ट हो गया। उनका नाम-जप समस्त पापों को धोकर भक्त का उद्धार कर देता है, वेद, पुराण भी इसके साक्षी हैं।

मीरा का प्रेम, मीरा का विश्वास अद्वितीय था। उनका सम्पूर्ण जीवन ही कृष्ण के ध्यान, प्रार्थना, एवं अनेक नाम-कीर्तन को समर्पित था। भगवन्नाम के प्रति मीराबाई की निष्ठा अनुपम थी, अपने पदों के माध्यम से उन्होंने जनमानस को नाम-जप की ओर उन्मुख करने की चेष्टा की है। यह उनका बड़ा प्रसिद्ध पद है --

राम नाम रस पीजै मनुआं, राम नाम रस पीजै
तज कुसंग, सतसंग बैठ नित, हरि चरचा सुण लीजै। [१]

राम-नाम के बिना जीव की मुक्ति असंभव है। जन्म-जन्मान्तर तक वह जरा-मरण के चक्र में फंसकर दुख भोगता रहता है। सच्चे सुख की खोज राम-नाम में ही सम्भव है, वही मधुर और परम मंगलमय है। यह पद दृष्टव्य है :--

रमइया बिन यो जिवड़ो दुख पावै
कहो कुण धीर बधावै।
यो संसार कुबुधि को भांडो, साध संगति नहिं भावै
राम नाम की निंदा ठाणो, करमहि करम कुमावै।

---

१. मीराबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १६०

राम नाम बिन् मुकुति न पावै फिर चौरासी जावै ।
साध-संगति में कबहुं न जावै, मूरख ! जनम गवावै ।

< < <

राम नाम का बांध बेड़ा, उतर पर ले पार ।[1]

मीरा की नाम-प्रेम के प्रति तीव्र अनुभूति उनके पदों में साकार हो उठी है। वे कृष्णा-नाम की अनन्य उपासिका थीं। उनके पदों को देखकर ही ऐसा आभास होता है कि वे कृष्णा के दिव्य नाम की अहर्निश साधना और उसी के ध्यान में मग्न रहती थीं। राम-नाम की शक्ति एवं उसकी महिमा का उन्हें पूरा ज्ञान था और इस अमोल 'रतन धन' को पाकर वे स्वयं को पूर्ण अनुभव करती थीं उन्होंने समस्त सांसारिक सुख वैभव को नगण्य समझकर नाम-भक्ति में अपने जीवन को कृतार्थ समझा। उनके अनेकानेक पद इस भावना के द्योतक हैं, यथा--

म्हारो मण सांवरो णाम रट्यारी ।
सांवरो णाम जपां जग प्राणी, कोट्यां पाप कट्यारी ।
जणम जणम री खतां पुराणी, णाम स्याम मट्यारी ।

< < <

मीरा रे प्रभु हरि अविनासी, तण मण स्याम पट्यारी ।[2]

--मीराबाई की पदावली-परशुराम चतुर्वेदी, पृ०१६०

मीरा ने अपने आराध्य कृष्णा को अनेक नामों से स्मरण किया है। उनके नाम के साथ भक्ति का कोई रूप अथवा सम्प्रदायगत कोई अवरोध उनके मार्ग में नहीं आया। यही कारण है कि कान्हा, गोपाल, हरि, मोहन, मुरारी, बांकेबिहारी, लाल गिरधर, प्रभु, अविनासी, नटवर, नंदलाल, गोविंद, दीनानाथ, बृजनाथ, स्वामी, सरताज, स्याम, रत्नाकर, भक्त बछल, सांवरा, पिया, महाराज, रमइया, धूतारा जोगी इतने सारे सम्बोधन वे अपने एक मात्र प्रीतम के लिये प्रयुक्त कर डालती हैं।

---

१. मीरा सुधा सिन्धु, संपा० स्वामी आनंदस्वरूप, प्रका० मीरा प्रका०समिति, भीलवाड़ा पृ० ~~७६६~~ ८६८

भव-बंधन से छुड़ाने वाले इस भगवन्नाम के रूप, रत्न, धन की प्राप्ति पर वह पूर्णत: आश्वस्त हैं। " पायो जी मैंने राम रतन धन पायो" के बाद किसी भौतिक सुख की न मीरा को आकांक्षा है न उसके प्रति कोई आकर्षण। नाम-जप की यह प्रक्रिया शनै: शनै: साधक की वृत्ति को प्रभु के ध्यान में तन्मय करने लगती है। नाम-जप के कई आधार हैं। साधना के प्रति अडिग विश्वास साधक को चरम लक्ष्य तक ले जाता है। यही वह स्थिति है जो भक्ति और भगवान के प्रति मन में आस्था उत्पन्न करती है तथा चरित्र में दृढ़ता लाती है। मीरा ने भी अपने सहज विश्वास के बल पर ही संसार का समस्त वैभव ठुकरा दिया और उनका विश्वास गीत बनकर फूट पड़ा —

पिया तेरे नाम लुभाणी हो।
नाम लेततिरता सुण्या,पाहण पाणी हो।
नाम महातम गुरु दियो, सोई वेद बखाणी हो।
मीरा दासी रखलो अपणी कर जाणी हो।[1]

भक्ति भाव के उद्रेक के साथ कुछ पद उपदेशात्मक भी हो गये हैं —जो जनजीवन के प्रति कहे गये हैं —

१. हरिना बिना नर ऐसा है, ज्यों जग में खोटा पैसा है,
दीपक बिन मंदिर जैसा है,
जैसे बिना पुरुष की नारी है, जैसे पुत्र बिना महतारी है।
जल बिना सरोवर जैसा है।

२. जपत क्यों नहीं हरि नाम।
पांउ दिये तीरथ के ताईं हाथ दिये दे दान
दांत दये मुख की शोभा को जीभ दई भजि राम
नैन दिये निरखो राम को कान दिये सुन ज्ञान
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरि चरणां धर ध्यान।

---

१. मीरा सुधा सिंधु- स्वामी आनन्द स्वरूप- मीरा प्रका०समिति,भीलवाड़ा,पृ०८६६

पहले पद में मीरा ने नाम की महत्ता को स्थापित करने के प्रयास में बहुत ही साधारण शब्दों का प्रयोग किया है किन्तु उसका अर्थ विस्तार महत्त्व-पूर्ण है। जिस प्रकार जीव जगत के पारस्परिक सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण हैं जिनके उपभोग में मनुष्य सुखी होता है और वियोग में दुख का अनुभव करता है, उसी प्रकार राम-नाम की भी स्थिति प्रत्येक प्राणी के जीवनमें अनिवार्य है। दूसरे पद में सम्पूर्ण मनुष्य योनि की सार्थकता उसके अंग प्रत्यंग की महत्ता नाम-जप से ही है। भक्ति के सभी साधन तथा भक्तिमार्ग के प्राथमिक उपकरण अर्थात् अर्चन, वंदन, सेवन आत्मनिवेदन, ध्यान, जप द्वारा मनुष्य अपना उद्धार कर सकता है। नाम-भक्ति साधक के जीवन पर अपना प्रभाव अवश्य डालती है। यहाँ तक की वह जीव को अमरत्व प्रदान करने में भी सक्षम होती है।(१) नाम सामर्थ्य ही साधिका को यह निश्चय करने पर बल देती है और उसमें इतना आत्म विश्वास जगाती है कि वह दृढ़तापूर्वक कहती है –

> हरिनाम से नेह लाग्यो रे अब लाग्यो रे म्हारे
> हरिनाम से नेह लाग्यो ।
> यो रसिया म्हारे मन में बसियो ज्यूं माला बिच तागो रे ।[2]

नाम-साधना के उपकरण : गुरु

नाम-साधना के संदर्भ में अन्य साधनों की भाँति मीरा ने भी 'गुरु' की महत्ता को स्वीकार किया है। सद्गुरु की ही भाँति भक्ति में एकान्त निष्ठा बनाये रखने के लिये सत्संग भी आवश्यक है। सांसारिक विषयों से बचने के लिए यह आवश्यक है कि भक्त की संगति ऐसी है कि जहाँ भक्ति विरोधी

---

१. ज्यों चित (मन) ल्याय हरिजप करै
   अमर होय मरै न कबहूं काल जासै डरै। मीरासुधासिंधु, पृ० ८७३

२. मीरा सुधा सिंधु-स्वामी आनन्द स्वरूप, पृष्ठ ८७१

परिस्थितियां उत्पन्न ही न हो और भगवान् के गुणों का श्रवण कीर्तन तथा नाम स्मरण का वातावरण सर्वत्र उपलब्ध हो। मीरा ने गुरु की आवश्यकता का अनुभव किया है किन्तु संतों की भाँति गुरु के अनिवार्य शब्द-वाण की अपेक्षा उन्हें उस सीमा तक नहीं थी, यद्यपि मीरा ने यह स्वीकार भी किया है कि नाम महात्म्य सतगुरु ने ही उन्हें प्रदत्त किया है। इस संदर्भ में कुछ पद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं -

१. राम नाम मेरे मन बसियो रसियो राम रिझाऊं, ए माय

मन को मार सजूं सतगुरु सूं धुरमत दूर गमाऊं एमाय।[१]

२. स्याम तेरी आरति लागी हो
गुरु परताप पाइया, तन दुरमति भागी हो।[२]

मीरा की भक्ति के संदर्भ में गुरु उनका मार्ग दर्शक अथवा पथ प्रदर्शक है, यह बात उन्होंने अपने पदों में स्वीकार किया है क्योंकि उन्होंने कहा है कि 'सतगुरु औषद ऐसी दीन्हीं, रूम रूम भइ चैना'[३] गुरु ही वह ज्ञान प्रदान करता है जिससे मन के समस्त विकार तथा तद्जनित अज्ञान दूर हो जाते हैं। गुरु ही वह साधन है जो साधक की 'भरम किवारी' का उद्घाटन कर देता है और मन राम की खुमारी में मगन हो जाता है। इसी विश्वास के आधार पर मीरा ने यह निश्चय किया था कि -

जाको नाम निरंजन कहिए, ताको ध्यान धरूंगी हो
गुरु समान रंगू तन कपड़ा, मन मुद्रा फेरूंगी हो।[४]

---

१. मीरापदावली, परशुराम चतर्वेदी, पृ० २४४
२. ,, ,, ,,
३. ,, ,, पृष्ठ २४५
सतगुरु जस्या वैद न कोई पूछो वेद पुराना
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, अमर लोक में रहना।
४. मीरा पदावली - परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २४५

सत्संग :-

सत्संग मीरा की साधना का एक आवश्यक अंग था । सत्संग की यही अगम्य इच्छा मीरा को महल की विशाल प्राचीरों से बाहर खींच लायी । परिवार में इसका विरोध हुआ किन्तु मीरा को भक्ति के इस मार्ग से कोई भी विचलित न कर सका । उनका विश्वास था कि भक्ति-प्राप्ति हेतु महापुरुषों की कृपा आवश्यक है । प्रेम रूपा भक्ति भगवत्कृपा के बिना मन में उत्पन्न नहीं हो सकती । इस भक्ति का उदय सत्संग से ही सम्भव बताया है - सत्संग का तात्पर्य है कुसंगों का त्याग विषय विकार से मन का विमुख होना, अर्थात् समस्त सांसारिक संगों का त्याग । मीरा के इसी विश्वास ने उन्हें बड़ी से बड़ी चुनौती स्वीकार करने का साहस प्रदान किया ।[१] भगवद्गीता, नारद भक्ति सूत्र, आदि महान ग्रन्थों ने भी इस बात की पुष्टि की है । श्रीमद्भागवत् में इसे योग, ज्ञान, धर्म, वेदाध्ययन, तप, त्याग, व्रत, यज्ञ, तीर्थ, यम और नियम इन सबके वशीभूत करने वाला बताया गया है ।[२] मीरा का स्वयं का भी विश्वास है कि महापुरुषों का सत्संग दुर्लभ है । उसे प्राप्त करने के लिये सभी लौकिक सुखों का त्याग करना पड़ता है । यह बिरले साधक को ही प्राप्त होता है क्यों कि बिना प्रभु की कृपा के सत्संग भी असम्भव है ।[२] तुलसी ने भी कहा है 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।

सत्संग मीरा के जीवन की प्रमुख विशेषता थी । साम्प्रदायिकता के अभाव में मीरा सबसे मिलती थीं । साधु संगति की बात उन्होंने अपने अनेक पदों में कही है :-

राम नाम रस पीजै मनुआँ राम नाम रस पीजै ।

दियो

१. राणा जी थे जहर म्हे जीणी ।

सब संतन पर तन मन वारों चरणा कंवल लपटानी
मीरा को प्रभु राखि लई है, दासी अपणी जाणी ।" वही, पृष्ठ ११३
म्हारा री गिरधर गोपाल दूसरा णां कूयां ।

साधा ढिग बैठ बैठ लोक लाज खूयां ।
भगत देख्यां राजी ह्यां जगत देख्यां रूयां ।

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)

तज कुसंग सतसंग बैठ नित, हरि चरचा सुण लीजै ।[1]

साधा संत री संग,ग्यान जुगतां करां ।
धरा सांवरो ध्यान, चित्त उजलो करां ।[2]

साधु संगति मीरा के लिये वह बेड़ा है जो संसार सागर से पार उतार देता है —

साधो संगत हरिगुण गास्यां और णा म्हारी लार ।
मीरां रै प्रभु गिरधर नागर थें बल उतर्या पार ।[3]

भक्ति मार्ग की सबसे बड़ी बाधा दु:संग है । इसके निवारण के लिये साधक को सतत प्रयत्नशील रहने की आवश्यकता होती है । सर्वदा सर्वभावेन निश्चित होकर भगवान का भजन करना, सुख-दु:ख , इच्छा, लाभ-हानि का सम्पूर्ण रूप से त्याग आदि नाम-भक्ति के प्रथम सोपान हैं ।

विषय से विरक्त होकर प्रभु को अपनी साधना अपनी आसक्ति अपने अनुराग का एकमात्र केन्द्र बना देना भक्ति का प्रमुख साधन है । गीता में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है —

अनन्य चेता: सततं यो मां स्मरति नित्यश:
तस्याहं सुलभ: पार्थ नित्य युक्तस्य योगिन: ।[4]

पिछले पृष्ठ का शेष —

< < <

मीरा री लगण लग्यां होणा हो जो हूयां । मीरापदावली, पृ० १०६
२. महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च । लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ।
— नारद भक्ति सूत्र- ३९,४०

---

१. मीराबाई की पदावली, पृ० १६० २. वही, पृ० १५८
३. वही, पृ० १५६ बरजी री म्हां स्याम विणा न रह्यां ।
साधां संगत हरि सुख पास्यूं जग सूं दूर रह्या । ,वही,पृ०११
४. गीता — ८।१४

भगवत-भजन अभ्यास की वह प्रक्रिया है जो भक्त को भगवान के सन्निकट लाती है। मीरा ने प्रेमासक्ति में भजन को महत्त्वपूर्ण माना है क्यों कि उनका कथन है कि बिना भगवद्भजन के भगवान् के प्रति आकर्षण तथा विषयों का त्याग चिरन्तन नहीं हो सकता।

गुण-श्रवण-कीर्तन भी भक्ति के विविध उपकरण हैं। भगवान ने स्वयं कहा है कि जो लोग मुझमें मन लगा कर श्रद्धा और आदर के साथ मेरी नाम-गुण-लीला कथा को सुनते हैं, गाते हैं और उसका अनुमोदन करते हैं उनकी मुझमें अनन्य भक्ति हो जाती है।[१] मीरा की यह सहज भावना उनके अनेक पदों में मिलती है –

१. माई म्हा गोविंद गुन गास्यां।[२]

२. सीसोद्यो रूठ्यो तो म्हारो कांई करलेसी।
म्हे तो गुण गोविंद का गास्यां, हो माई।[३]

मीरां मगन भई हरि के गुण गाय।
× ×
भजन भाव में मस्त डोलती गिरधर पै बलि जाय।[४]

मीरा के कृष्ण अपना ऐतिहासिक, पौराणिक और पारलौकिक अस्तित्व समाप्त कर प्रेम की परिपूर्णता के प्रतीक बन गये हैं। यहां तक कि वह नाम-रूप-लीला की परिधि से उठकर मीरा के अपने अस्तित्व में समाहित हो जाते हैं। प्रेम साधना की इससे ऊंची चैतन्य स्थिति और क्या हो सकती है –

म्हां गिरधर रंग राती, सैयां म्हां।

× ×

---

१. तायै शृण्वान्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृता:
मत्परा: श्रद्धानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि। श्रीमद्भागवत ११।२६।२६

२. मीराबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ ११३

३. ,, ,, पृष्ठ ११२

४. ,, ,, पृष्ठ ११४

वां भिरमिट मां मिल्यो सांवरो, देख्यां तण मण राती
जियरो पियां परदेस बस्यांरी लिख लिख भेज्यां पाती
म्हारा पियां म्हारे हीयड़े बसतां णा आवां णा जाती
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर मग जोवां दिण राती ।[1]

हृदय और आत्मा की इतनी गहरी अनुभूति सर्वत्र नहीं मिलती। मीरा के पदों में निरन्तर आराध्य के स्मरण ध्यान में लवलीन रहने और नाम रटते ही जीवन व्यतीत करने की सहज साध मिलती है।

मीरा की नाम-भक्ति कहीं उपदेशात्मक है, तो कहीं वह ज्ञान की गहराई को स्पर्श करती है। किन्तु उसकी महिमा के प्रति उनके मन में विश्वास अडिग है। कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं :--

<u>विश्वास</u> -   पिया तेरे नाम लुभाणी हो /
नाम लेत तिरता सुण्या जैसे पाहण पाणी हो ।[2]

<u>ज्ञान</u>   १. राम नाम मेरे मन बसियो रसियो रामरिझाऊं ए माय।[3]

२. मैं अमली हरि नाम का म्हाने बायहु आवै,
और अमल भई काम को चढ़न उतर जावै ।[4]

३. राम नाम धन खेती मेरी सुरता प्रभु में रेती
एक साल मैंने खेती पाई गंग जमुना रेती
राम नाम का बीज पड़ा है, निपजत हीरा मोती ।[5]

---

१. मीराबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०८
२. मीरासुधा सिंधु, पृष्ठ ८६६
३. ,, पृ० ८६६
४. ,, पृ० ८७३
५. ,, पृ० ८७५

उपदेश

४. राम नाम रस पीजै मनुआं, राम नाम रस पीजै ।
तज कुसंग सतसंग बैठ नित हरि चरचा सुनि लीजै ।[१]
हरिनाम बिना नर ऐसा है, ज्यौं जग में खोटा पैसा है ।
दीपक मंदिर जैसा है । [२]

राम नाम साकर भटका, हारे मुख आवै अमीरस घटका ।[३]
जपत क्यौं नहीं हरिनाम.... ।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, हरि चरणां धर ध्यान ।[४]
श्री राम नाम की हरि जस बूंटी भर भर प्याला पिया करौ ।[५]
बोल मां बोल मां बोल मां रे राधा कृष्ण बिना बीजुं बोल मां ।[६]
सबां ही मिल हरि हरि कहौ नर नारी ।
हरि का भजन बिना कैसे उबरोगे, भवसागर यो मारी ।[७]

एक राम नाम हिरदा बीच राखो जब जागो जब लिया करौ
राम नाम की खेती कर लो ब्याज बदे सो मजा करौ ।
राम नाम की प्रेम की बूंदी भर प्याला पिया करौ ।[८]

नाम-प्रभाव

मेरो मन रामहि राम रटै रे
राम नाम जप लीजै प्राणी । कोटिक पाप कटै रे ।[९]

---

१. मीरा सुधा सिंधु, पृ० ८७०
२. वही, पृ० ८७१
३. वही, पृ०८७२
४. वही, पृ० ८७२
५. वही, पृ० ८७२
६. वही, पृ० ८७२
७. वही, पृ० ८७६
८. वही, पृ० ८७०
९. वही, पृ० ८७०

पायौ जी म्हैं तौ, राम रतन धन पायौ
वस्तु अमौलक दी मैरै सतगुरु, किरपाकर अपनायौ
सत की नाम खेविटिया सतगुरु भवसागर तट आयौ ।
मीरां कै प्रभु गिरधरनागर हरख-हरख जस गायौ ।[१]

नामौं की बलिहारी गज गणिका तारी ।
ज्यौ चित (मन) ल्याय हरि जप करै ।
अमर होय मरै न कबहूं, काल जासै डरै ।[२]

निष्कर्ष :-

अष्टछाप के प्राय: सभी कवियौं नै कृष्णा के आनन्द स्वरूप कौ ही अधिक महत्ता दी है । यह स्वरूप बहुत कुछ शुद्धाद्वैत के सिद्धान्तौं के अनुकूल है । इन सभी कवियौं नै कृष्णा के सगुण-निर्गुण दौनौं रूपौं की व्याख्या की है ।

वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तौं मैं राधा का कोई स्थान नहीं है । आगे के अन्य सभी सम्प्रदायौं नै राधा कृष्णा के युगल स्वरूपो की भी उपासना की । राधावल्लभीय तथा हरिदासी सम्प्रदाय मैं तौ राधाकृष्णा के युगल स्वरूप कौ ही सर्वोपरि महत्व प्रदान किया है । सर्वप्रथम राधाकृष्णा के युगल रूप कौ निम्बार्क सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृति मिली । इन कवियौं नै राधा की आह्लादिनी शक्ति और कृष्णा कौ आनन्द स्वरूप माना है ।[३]

कृष्णा भक्त कवियौं नै कृष्णा के रसिक रूप कौ भी अत्यधिक महत्व प्रदान किया है ।

---

१. मीरा सुधा सिंधु , पृष्ठ ८७०

२. वही, पृ० ८७३

३. सदा सर्वदा जुगल इक एक जुगल तन धाम
आनंद अरु आलहाद मिलि विलसत है इवै नाम । निम्बार्क माधुरी, पृ० ६३

कृष्णा अपने साधकों-भक्तों के उद्धार के लिए अवतार धारण करते हैं। वे स्वयं अवतार हैं तथा स्वयं ही अवतारी भी। इसी प्रकार कृष्णा से सम्बन्धित राधा, गोपी, वेणु आदि का भी प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण किया है। वेणु शब्द ब्रह्म का प्रतीक है। गोपियां वेद की ऋचायें हैं।

कृष्णा के विराट रूप की कल्पना भी सूर ने कृष्णा की आरती में की है[1] जो कि अद्वितीय है। समस्त सृष्टि को उनके मुख के अन्तर्गत प्रदर्शित करना कृष्णा के विराट रूप का ही प्रतिपादक है।

इसके अतिरिक्त भी कृष्णा भक्ति साहित्य में कृष्णा के अनेकों रूप उपलब्ध होते हैं। जितनी विविधता इस व्यक्तित्व में है उतनी सम्भवतः ब्रह्म के किसी अवतार में नहीं है। जहां शुद्ध भक्ति भावना से साधक का हृदय नत होता है वहां भक्ति के स्वरूप द्वारा कृष्णा की परमसत्ता होने का परिचय अधिक मिलता है। कहीं शृंगार भावना से अभिभूत राधा-गोपियों का चित्रण कृष्णा को सहज ही मानवीय धरातल पर लाकर खड़ा कर देता है। जो कि जन समाज के अधिक निकट एवं सुलभ बन गया है। इसी आधार पर उसके नामकरण भी अनगिनत संख्या में हुए हैं। कुछ तो सम्प्रदायगत हैं कुछ लीला से सम्बन्धित तथा कुछ परम्परागत, रूप से सम्बन्धित तथा किसी में धाम की विशेषता को उभारा है। कृष्णा की इन अनेकानेक उपाधियों का वर्णन कुछ तो तात्त्विक दृष्टि से हुआ है और कुछ का भावनात्मक सम्बन्ध है। सूरदास ने उसे अनेक उपाधियों से विभूषित किया है। ये नाम सगुण वाची तथा निर्गुणवाची दोनों प्रकार के हैं -

परमहंस तुम सबके ईस, बचन तुम्हारे श्रुति जगदीस
तुम अच्युत अविगत अविनासी, परमानन्द सदा सुखरासी।[2]

---

१. हरि जू की आरती बनी।
मही सराव सप्त सागर घृत बाती शैल घनी।
रवि शशि ज्योति जगत परिपूरण हरत तिमिर रजनी।
उड़त फूल उडगन नभ अन्तर अंजन घटा घनी। सू०सा०, पृ० ४७

२. वही, दशम स्कंध उत्तरार्द्ध

अष्टछाप के अन्य कवियों द्वारा भी इन नामों का प्रयोग मिलता है । इस भाव की चरम सीमा प्रस्तुत पद में दृष्टव्य है –

> निरवधि, नित्य, अखंडल,जोरी गौरी स्यामल,सहज उदार ।
> आदि, अनादि, एकरस अद्भुत मुक्ति परै पर सुख दातार ।
> अनंत अनीह अनावृत अव्यय, अखिल, अखंड अधीश अपार ।[१]

कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों में सबने अपनी रुचि एवं परम्परा के अनुसार नामों का प्रयोग किया है । वस्तुत: ये नाम वस्तुगत नहीं प्रतीत होते । और न ही इन नामों में कोई भेद परिलक्षित होता है ।

सखी भाव की प्रधानता निम्बार्क, गौडीय तथा राधा वल्लभीय सभी सम्प्रदायों में प्राप्त होती है । इसके अतिरिक्त जिस भाव की प्रधानता है वह आराध्य राधा-कृष्ण के युगल-रूप की लीलाओं की है ।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि भक्ति कालीन समस्त साधकों ने भक्ति के सामान्य उपकरणों में सत्संग एवं नामकीर्तन को प्रमुख स्थान दिया है । सत्संग से तात्पर्य गुरु द्वारा प्राप्त सानिध्य से था । गुरु ही साधक को सामान्य भक्ति के धरातल से ऊपर उठाकर ब्रह्म को समझने में सहायक होता था । अतएव यह आवश्यक था कि प्रत्येक भक्त अथवा संत अपना लक्ष्य प्राप्त करने हेतु गुरु की महत्ता स्वीकार करता । गुरु ही सत्संग द्वारा ऐसा वातावरण उपस्थित करता है जो भक्ति भावना के संदर्भ में अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न कर सके ।

नाम-भक्ति को भक्ति के उपकरणों में सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है । उसका विशेष कारण है । निर्गुण उपासना के सोपान इतने क्लिष्ट एवं निराधार थे कि सहज साधक उस तक पहुंचते-पहुंचते निराश होने लगता था, अथवा विचलित हो जाता था । परमसत्ता से साक्षात्कार का कोई सुलभ साधन उपलब्ध न था, जो उसकी सही अनुभूति करा सके । परिणामत: नाम-

---

१. निम्बार्क माधुरी, पृ० ५८

स्मरण अथवा नाम-जप को भक्ति के अन्य साधनों में सर्वाधिक महत्त्व दिया गया क्योंकि भक्त को भगवान का परिचय नाम के ही आधार पर प्राप्त हो पाता है। यह एक ऐसा सेतु है जो भक्त और भगवान् को निकट लाने में समर्थ होता है। यही कारण है कि नाम के विशेष महत्त्व को भक्त कवियों ने व्यापक रूप से स्वीकार किया है।

—

षष्टम अध्याय

सगुण-राम-काव्य में नाम-साधना का स्वरूप

वैष्णव-साधना की ऐतिहासिक क्रमपरिणति के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। राम की उपासना का मूल-रूप प्रकारान्तर से परिवर्तित होता रहा है। उसका विशेष विकास १८वीं शताब्दी ईसवी के पश्चात् हुआ। मुगल-साम्राज्य का पतन होने पर जब पुन: हिन्दू जागरण हुआ तो स्वभावत: दूसरे धार्मिक साहित्य की भाँति राम-भक्ति साहित्य का भी उत्थान हुआ। सम्पूर्ण देश एक बार फिर से व्यवस्थित हुआ। शान्तिस्थापना एवं शासन में व्यवस्था आ जाने के कारण सांस्कृतिक तथा धार्मिक विकास का द्वार उन्मुक्त हो गया था। मंदिरों का पुनरुद्धार किया गया और उनमें आस्था तथा विश्वास के आधार पर विविध प्रकार की देवी तथा देवताओं की मूर्तियों की प्रतिष्ठा की गई। ज्ञान-भक्ति तथा भगवत प्राप्ति में साधनों की संख्या बढ़ती गई। ब्रह्म के प्रति जिज्ञासा का उदय हुआ। राम, कृष्ण आदि नामों का महत्व विशेष रूप से सर्वमान्य हुआ। वैष्णव साधकों में भी अपनी आराधना के स्वरूप के अनुसार सगुण-निर्गुण का विवाद हुआ। सगुण के अन्तर्गत भी दो विभाग हो गए। एक ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम की दास्य-भावना से आराधना की और दूसरे ने कृष्ण के रूप-लीला का रसपान किया। अतएव उनकी भक्ति में माधुर्य, सख्य आदि की प्रधानता हुई।

राम-कथा का विकास

भारतीय संस्कृति का सम्यक् दर्शन यदि एक ही प्रतीक में पुंजीभूत रूप में करना चाहें तो राम का चरित्र पर्याप्त होगा। यह ऐसा चरित्र है जो सदियों से जीवन, दर्शन तथा धर्म का प्रधान लक्ष्य और प्रेरणाकेन्द्र रहा है। यही कारण है कि सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं में 'राम कथा' का विकास एवं विस्तार मिलता है। कभी राम को अलौकिक रूप में स्वीकार किया गया, कभी अवतारी रूप में। किन्तु उस चरित्र में कोई इतना व्यापक परिवर्तन नहीं आया कि उस व्यक्तित्व की एकरूपता पर संदेह प्रकट किया जा सके।

वाल्मीकि के राम से तुलसी के राम तक साधक की निष्ठा केवल उस नाम के प्रति रही, वह चाहे उपनिषदों का अचिन्त्य हो, चाहे वाल्मीकि का राम सम हो और चाहे तुलसी का 'दसरथ-सुत' हो। उत्तरोत्तर इस दिशा में विकास होता गया साथ ही साधकों की श्रद्धा और विश्वास के अनुरूप उसके चरित में कुछ जुड़ता गया।और कुछ का त्याग किया गया। विभिन्न प्रकार के साहित्य के साथ राम का अलौकिक अथवा अग्राह्य रूप लौकिक भाव-भूमि पर आ गया। सहज साधक उस व्यक्तित्व की अलौकिकता से अधिक उसके नाम-रूप-लीला तथा उसके धाम के प्रति आकृष्ट हुआ। चरितगत विशेषताओं के कारण अलौकिकता की दूरी शनैः शनैः कम होती गई और साधक तथा साध्य के सम्बन्ध अधिक रागात्मक होते गए। कालान्तर में तो अवतारों की परम्परा में आने वाले विविध नामों में 'रामनाम' ही सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वग्राह्य बन गया। इस नाम के प्रति साधकों में भी भेदभाव समाप्त हो गया। सगुण तथा निर्गुण दोनों सम्प्रदायों ने उसकी महिमा का गान किया। उसे ही सर्वस्व मानकर उसकी पूजा-आराधना तथा भक्ति की। इन दोनों धाराओं में यह रूप समान रूप में ही मान्य हुआ। सगुण-मार्गियों ने उसे अवतार माना । अतः उसके नाम, रूप, लीला, धाम के प्रति अपनी भक्ति तथा आसक्ति की अभिव्यक्ति की, किन्तु निर्गुण मार्गियों ने उसके नाम तक ही सीमित रहकर ध्यान, जप, योगादि विविध क्रियाओं द्वारा उसे जानने का प्रयास किया। ये दोनों मार्ग एक दूसरे के विरोधी स्वीकार किए गए क्योंकि प्रत्यक्षतः इनकी मान्यताओं में महान् अन्तर था। इतना होने पर भी'रामतत्व' में किसी का विरोध नहीं था, केवल विचारों में अन्तर था। एक ने शुद्ध रूप में आध्यात्मिक भावना को प्रश्रय दिया दूसरे ने जनजीवन के साथ रहकर लोकधर्म की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। परिणामस्वरूप राम के व्यक्तित्व का विकास विविध दिशाओं में हुआ जहाँ एक ओर वह माधुर्य , राग, रूप, लीला ऐश्वर्य आदि गुणों से युक्त है और दूसरी ओर वह पूर्णतः निर्विकार, अलौकिक सत्ता के रूप में प्रतिभासित होता है।

विविध रामकथाओं तथा उसके स्वरूपों में एक प्रकार की मौलिक

एकता मिलती है। आदिकवि वाल्मीकि से पूर्व रामकथा का कोई संगठित रूप नहीं मिलता, किन्तु रामायण में रामकथा विषयक समस्त सामग्री प्रस्तुत की गई है। उस काव्य की लोकप्रियता तथा व्यापकता का साक्षी स्वयं 'राम-कथा' का प्रचार एवं प्रसार है। यद्यपि रामकथा की प्रामाणिकता असंदिग्ध थी तथापि कोई निश्चित प्रमाण न मिलने के कारण इस ओर कोई स्पष्ट संकेत नहीं किया जा सकता था। महाभारत के रामोपाख्यान में, जो स्पष्टतया आदि रामायण पर निर्भर है, इसके व्यापक प्रचार का संकेत मिलता है। प्राचीनकाल में तो रामायण के कथानकको लेकर नाटकों का अभिनय भी हुआ करता था। इससे रामकथा की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई लोकप्रियता का आभास मिलता है। इन्हीं कारणों से रामावतार की परिकल्पना की रूपरेखा भी दृढ़ होती गई। बौद्धों तथा जैनियों द्वारा भी रामकथा स्वीकार की जाने लगी। रामकथा में कुछ परिवर्तन भी हुआ। बौद्धों ने राम को बोधिसत्व मानकर उसे अपने साहित्य में स्थान दिया तथा जैनियों ने राम को आठवें बलदेव के रूप में स्वीकार किया। बौद्धों की अपेक्षा जैन साधकों ने राम के स्वरूप तथा उसकी कथा को अधिक महत्व प्रदान किया।

इस प्रकार समय के साथ राम-कथा अधिक लोकप्रिय होती गई तथा उसका विस्तार होता गया। जहाँ तक साधनागत दृष्टिकोण का प्रश्न है, ऐसा लगता है कि केवल 'नाम' परिवर्तन द्वारा ही विभिन्न साधकों ने एक ही शक्ति को अपनी साधना के अनुरूप ढालने का प्रयास किया। आवश्यकता तथा मान्यता के अनुसार उसके अवतारों के नाम परिवर्तित होते रहे। "इस प्रकार रामकथा मानवीय संस्कृति में इतने व्यापक रूप से फैल गई कि राम को उस समय के तीन प्रचलित धर्मों में एक निश्चित स्थान प्राप्त हुआ — ब्राह्मण धर्म में विष्णु के अवतार के रूप में, बौद्धधर्म में बोधिसत्व तथा जैन धर्म में आठवें बलदेव के रूप में।"[1]

राम-कथा तथा राम के व्यक्तित्व का जो स्वरूप आज उपलब्ध होता है, वह शुद्ध रूप में भक्ति-काल की देन है। यद्यपि राम को विष्णु का अवतार

---

१. रामकथा- डा० कामिल बुल्के, पृष्ठ ७२२

बहुत पहले मान लिया गया था तथापि राम-भक्ति का आविर्भाव शताब्दियों बाद हुआ । डा० कामिल बुल्के का कथन है कि "प्रौढ़ रामभक्ति के प्राचीनतम उद्गारों के दर्शन तमिल आलवारों की रचनाओं में मिलते हैं । इसके बाद बारहवीं शताब्दी में रामानुज-सम्प्रदाय के अन्तर्गत राम-भक्ति तथा रामोपासना-विषयक संहिताओं तथा उपनिषदों की रचना प्रारम्भ हुई । आगे चल कर रामानन्द तथा रामावत सम्प्रदाय द्वारा रामभक्ति जनसाधारण की धार्मिक चेतना का केन्द्र बन गई ।"[१] यह तो रामभक्ति का शास्त्रीय रूप था । चौदहवीं शताब्दी में समस्त भारतीय रामकथा साहित्य आराध्य के प्रति पूजा, अर्चना तथा उसकी भक्ति-भावना से ओत-प्रोत होता गया । साथ ही साथ राम-भक्ति को व्यावहारिक रूप मिला । आचार्यों द्वारा प्रतिपादित शास्त्रीय मान्यताओं को जन समाज में प्रचलित करने में संतों और भक्तों ने अभूतपूर्व सहयोग दिया । वातावरण में क्रमश: परिवर्तन होता गया और तत्कालीन परिस्थितियों के अन्तर्गत राम परब्रह्म तथा पूर्णावतार मान लिये गये । रामकथा का साहित्यिक रूप पूर्णत: धार्मिक बन गया तथा साथ ही इसकी कथावस्तु भी एक नवीन दृष्टिकोण से प्रस्तुत की गई । यह रामकथा का तृतीय सोपान है जहां पहुंचकर रामकथा विष्णु की अवतार-लीला मात्र न रहकर भक्त-वत्सल भगवान् राम के नाम-रूप तथा गुण-कीर्तन में परिणत हो जाती है[२]।"

इसके पूर्व कि राम-भक्ति साहित्य विषयक साधकों की रचनाओं का अध्ययन किया जाय, उनके प्रेरणास्रोत के विषय में भी किंचित् दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है । किसी भी धर्म-दर्शन अथवा भक्ति की स्थापना के पीछे किसी न किसी महापुरुष का चिन्तन होता है । ये आचार्य समय-समय पर विविध प्रकार की मन्यतायें समाज में प्रतिष्ठित करते रहे हैं जिनकी अभिवृद्धि एवं अनुसरित करने में कवियों और साधकों का प्रयास रहा है ।

---

१. रामकथा- डा० कामिल बुल्के, पृ० ७४२

२. रामकथा, डा० कामिल बुल्के, पृ० ७४३

आचार्य भक्ति के संपूर्ण पक्ष को लेकर अपनी सूझ के अनुसार मान्यताएं प्रस्तुत करते थे ।

रामभक्ति-साहित्य बहुत प्राचीन है । इसके कई स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं । डा० भगवतीप्रसाद सिंह ने रामके सम्यक् अध्ययन के लिए उनके स्वरूप-विकास की तीन अवस्थाएं मानी हैं —ऐतिहासिक, साहित्यिक और साम्प्रदायिक ।'[1] राम-भक्ति अथवा राम-भक्ति सम्बन्धी साहित्य की यह सबसे बड़ी विशेषता रही है कि उसमें राम के मर्यादा पुरुषोत्तम परब्रह्म होने के साथ ही साथ राम की अवतार-कल्पना भी उतनी ही आस्था और विश्वास के साथ स्वीकार की गई है । अवतार के ये सूत्र आदि साहित्य से ही मिलने लगते हैं । ऐतिहासिक रूप के अन्तर्गत वेद, वाल्मीकिरामायण, महाभारत, बौद्धग्रन्थ तथा पुराण आ जाते हैं । रामचरित की लोकप्रियता मुख्य रूप से वाल्मीकिरामायण से प्रारम्भ होती है । इसी लोकप्रियता के परिणामस्वरूप रामकथा में उत्तरोत्तर परिशोधन एवं परिवर्धन होते रहे । पुराणों में राम-चरित सम्बन्धी प्रचुर सामग्री मिलती है । इनमें रामावतार तथा रामपूजा सम्बन्धी सामग्री मिलने के साथ ही साथ रामचरित की प्रतिष्ठा भी बढ़ती गई है ।

साहित्यिक रूप में राम की प्रतिष्ठा को अधिक बल मिला है । रामचरित का वह स्वरूप समक्ष आता है जहां वह लोकभावना से प्रभावित होकर राजपुत्र से पुरुषोत्तम, पुरुषोत्तम से विष्णु, विष्णु से परमपुरुष के पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है । अलौकिक लीलाओं के फलस्वरूप अवतार-वाद को बल मिला । और वह सर्वशक्तिमान मानकर पूजा जाने लगा । राम-साहित्य के प्राचीन काव्यों में राम-विष्णु तथा परब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे । राम-भक्ति के प्रचार-ग्रन्थों में सर्वप्रथम रामायण और महाभारत

---

१. राम-भक्ति में रसिक सम्प्रदाय - डा० भगवतीप्रसाद, सिंह, पृ० ३३

ग्रन्थ आते हैं। कालिदास तक आते-आते इसका व्यापक प्रचार हो जाता है। 'रघुवंश' में ऐसी अनेक स्तुतियाँ हैं जो कि पूर्णतया भक्तिमूलक और अवतार की प्रतिष्ठा करने वाली हैं। रामभक्ति के प्रचलन का प्रमाण पांच-रात्र संहिताओं में भी मिलता है जिनमें राम-नाम के प्रति भक्ति और श्रद्धा व्यक्त की गई है। डा० कामिल बुल्के ने विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर प्रथम शती ई० पू० में रामावतार भावना का प्रचार माना है।[1] "पौराणिक युग से हम रामोपासना का बढ़ता हुआ प्रभाव देखते हैं। इनमें भी हरिवंश, विष्णु, वायु, भागवत, कूर्म, अग्नि, स्कन्द, नारद तथा पद्म पुराणों में रामावतार सम्बन्धी प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। इनकी कोई निश्चित तिथि न दे सकने पर भी हम ई०पू० के पहले से ही रामोपासना का आरम्भ स्वीकार कर सकते हैं।"[2] राम की उपासना का एक प्रमुख कारण उनकी सर्वशक्तिमत्ता भी स्वीकार की जा सकती है। आदिकाल से लेकर भक्तिकाल तक रामचरित सम्बन्धी जितनी सामग्री मिलती है उनमें उनके वीरत्व की चर्चा सर्वप्रथम है। अनेक अवतार का कारण ही दीन दुखियों, साधक-भक्तों के कष्टों का निवारण करना है। अतएव स्पष्ट हो जाता है कि अवतार का उद्देश्य ही कुछ ऐसा निर्धारित किया गया है कि उससे राम के चरित्र का मूल्यांकन सर्वशक्तिमान मानकर किया जाय। यही कारण है कि स्वभावत: वह वीरकार्य से सम्बद्ध हो गया है, और भक्तिकाल तक आते-आते तो राम के चरित्र में वीरत्व ही सर्वश्रेष्ठ गुण रह जाता है। वह आर्त जनों के कष्टों के निवारणार्थ ही अवतरित होते हैं और तुलसी द्वारा उस चरित्र का उद्घाटन भी उतने ही समर्थ भावों तथा सशक्त शब्दों में हुआ है। दास्य और शरणागति भक्ति राम के इसी वीरत्व का प्रतीक है। वाल्मीकि के रामायण से लेकर भक्तिकाल तक इस भावना को पुष्टि मिली है। हनुमान के सम्बन्ध में 'रामायण' में यह कथा आती है कि स्वर्गारोहण के समय भगवान राम से हनुमान ने तीन वरदान मांगे थे- प्रथम इनके चरणों में अनन्य भक्ति, दूसरे रामकथा के जगत में प्रचलित रहने तक आयु की प्राप्ति तथा तीसरे अप्सराओं के मुख से नित्य राम-कथा का श्रवण।[3]

---

१. रामकथा- डा० कामिल बुल्के, पृ० १४५
२. भक्तिआन्दोलन का अध्ययन- डा० रतिभानु सिंह नाहर, पृ० १६३
३. रामायण-उत्तरकाण्ड, ४।११४-२०

अभी तक तो केवल राम को परब्रह्म की समकक्षता प्राप्त थी। किन्तु जैसे-जैसे उनकी पूजा-उपासना को बल मिलता गया वैसे-वैसे उसमें एक के बाद एक विशेषण और जुड़ते गए । राम जोकि केवल एक प्रतीक मात्र थे अब शक्ति और भक्ति के आधार माने गए । रामपूजा के विकास के साथ ही उनकी मूर्तियों और मंदिरों का निर्माण भी होने लगा ।" राममूर्ति और राममंदिर का प्राचीनतम उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है ।" [1] किन्तु यहाँ राम के दाशरथि राम होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता है । इसका पुष्ट प्रमाण चौथी शताब्दी ई० में मिलता है । रामकी मूर्तियों का वर्णन मत्स्यपुराण में उल्लिखित है । इससे ज्ञात होता है कि कम से कम गुप्तकाल के आरम्भ से राममूर्तियों का निर्माण और उनकी पूजा वैष्णवों में प्रचलित हो गई ।[2]

इनके अतिरिक्त रामभक्ति का तीसरा साम्प्रदायिक रूप आता है । आठवीं शताब्दी के पश्चात् रामभक्ति अनेक सम्प्रदायों में विभक्त होकर अपने विकास की चरम सीमा को प्राप्त करती है । इस क्रम में प्रमुख रूप से हम विभिन्न आलवारों की भक्ति, विविध आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सम्प्रदायगत भक्ति, और अन्तिम रामावत्त सम्प्रदाय की स्थापना को प्रमुख मान सकते हैं ।

विविध सम्प्रदाय तथा नाम-भक्ति का स्वरूप

आलवार भक्त

आलवार भक्तों की यह बहुत बड़ी विशेषता रही है कि उन्होंने हृदय-तत्व की प्रधानता को सर्वत्र स्वीकार किया है । यही कारण है कि बौद्धिक पक्ष उतना सबल नहीं हो पाया है । इनकी समस्त साधना भगवान के गुणगान में ही अर्पित थी । अपना सारा ज्ञान उसी की प्राप्ति की जिज्ञासा-शान्ति में समर्पित कर दिया था । भगवान को इन्होंने सर्वस्व माना । वही ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान सबकुछ था ।

---

1. प्रासादे धनपति रामकेशवानाम् - अष्टाध्यायी २।२।३४
2. रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय-डा० भगवतीप्रसाद सिंह, पृ० ५०

इनकी भक्ति का स्वरूप भी उपरोक्त विशेषताओं के कारण शरणागति या प्रपत्ति ही रहा । भगवद्कृपा पर आश्रित रहकर उसी का गुणगान तथा नामकीर्तन ध्यान तथा स्मरण ही इन आलवारों की भगवद्-प्राप्ति का एक मात्र साधन था । "यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भक्ति का जनव्यापी प्रभाव दक्षिण के आलवार गायकों से ही ईसा की छठीं शताब्दी में आरम्भ हो चुका था । जनता के लिये भी वेद विहित याज्ञिक अनुष्ठान की अपेक्षा भक्ति का रागात्मक रूप अधिक आकर्षक था ।"[१]

आलवारों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र तथा निम्न वर्ग के साधक भी सम्मिलित थे । इनका मुख्य उद्देश्य भगवत्प्राप्ति के साधनों में रत रहना था । आलवार शब्द का अर्थ ही है" जो ईश्वरीय ज्ञान के मूल तत्त्व तक पहुंच चुका है । उसके ध्यान में मग्न रहता है ।"[२] आलवारों की रचनाओं में विष्णु के प्रति साधना का उत्कृष्ट स्वरूप प्राप्त होता है । उनकी भक्ति केवल मन तक सीमित न रहकर वाणी द्वारा पदों के रूप में अभिव्यक्त हुई । शठकोप, कुलशेखर, आन्दाल आदि कुछ प्रमुख साधक हुए हैं जिन्होंने अपना समस्त जीवन प्रभु की साधना को समर्पित कर दिया । इनकी भक्ति में जिस अनन्य भाव की अभिव्यक्ति हुई है वह अन्यत्र दुर्लभ है । ये साधक प्रभु के अनुग्रह को भी महत्वपूर्ण मानते हैं । भक्त को केवल अपने सर्वस्व का समर्पण करना चाहिए तदुपरान्त बिना किसी प्रयत्न के भगवान् का प्रेम उसे प्राप्त हो जाता है । ये भगवान की भक्ति को ही मोक्ष मानते हैं । शठकोप का विश्वास है कि प्रभु का दर्शन बाहर की आंखों से नहीं, श्रद्धा-संवलित अन्त:करण की आंखों से ही होता है । कुलशेखर की भक्ति भी अनन्य भाव की है । उन्होंने लिखा है -" यद्यपि अग्नि अपनी समस्त आभा से प्रगट होती है, फिर भी कमल को विकसित करने में वह असमर्थ है । कमल तो तभी प्रफुल्लित होगा, जब उसे प्रखर किरणों वाले सूर्य का प्रकाश प्राप्त होगा । इसी प्रकार मेरा हृदय

---

१. हिन्दी साहित्य (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ १६०

२. भक्ति का विकास - मुंशीराम शर्मा, पृष्ठ-३५४

आपके (प्रभु के) चरण-कमलों के प्रेम के बिना अन्य किसी भी साधना से द्रवित नहीं हो सकता।[1] साधक का मन अन्ततः भगवान् के ध्यान में ही सम्पूर्ण शान्ति एवं विश्राम पाता है। भक्त के हृदय में प्रभु के लिए विशुद्ध श्रद्धा और प्रेम की भावना ओतप्रोत होनी चाहिए।

आलवार साधक दक्षिण में इतने लोकप्रिय हुए कि इनके बाद इनकी मूर्तियों की स्थापना करके उसकी पूजा की गई। इनकी भक्ति में दास्य-भाव की प्रधानता थी तत्पश्चात् वात्सल्य और कान्ता-भावों की प्रधानता मिलती है। भगवान् का स्मरण तथा उसका नाम-जप करते-करते कभी-कभी ये मूर्च्छा अवस्था में आ जाते थे। यह आनन्द की चरम परिणति होती थी जहाँ पहुँच कर साधक आत्मविभोर होकर अपना अस्तित्व खो देता है। इस प्रगाढ़ प्रेम की अवस्था में वह स्तब्ध हो जाता है। उसके समक्ष भगवान का नाम और उसका रूप साकार हो उठता है। आलवार साधक भगवान के अनेकों नामों में उनको नारायण, राम, भगवान्, कृष्ण, वासुदेव, आदि नामों से पुकारते थे। आलवारों की रचनाओं में ब्रह्म के इन नामों के प्रति सर्वत्र ही श्रद्धा और प्रेम का अतिरेक परिलक्षित होता है।

आचार्य :-

आचार्यों का समय सामान्यतः दसवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक माना जाता है। इनका वैदिक कर्मकाण्ड तथा मीमांसा का ज्ञान अद्भुत था। इसके अतिरिक्त समय-समय पर वाद-विवाद द्वारा विरोधी पक्ष की मान्यताओं का खण्डन-मण्डन करना तथा धर्म के नए प्रतिमान स्थापित करना भी इनका प्रिय विषय था। इसीलिए भारतीय धर्म तथा दर्शन को अनेकानेक मान्यताओं एवं परिस्थितियों के मध्य से गुजरना पड़ा। कभी उसका स्वरूप अद्वैत रहा तो कभी विशिष्टाद्वैत, कभी द्वैत तो कभी द्वैताद्वैत अथवा शुद्धाद्वैत आदि-आदि।[1] इन आचार्यों ने कर्म एवं भक्ति, लोक तथा वेद दोनों में सामंजस्य स्थापित करके, भक्तिमार्ग को विप्र-शूद्र, स्त्री-पुरुष सबके लिए उन्मुक्त कर दिया।[2]

---

१. भक्ति का विकास - मुंशीराम शर्मा, पृष्ठ ३५६

२. भक्ति का विकास - डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० ३६१

वैष्णव धर्म के प्रचार में जिन प्रमुख आचार्यों ने सहयोग दिया उनमें सर्वप्रथम नाम रंगनाथ मुनि का लिया जाता है। विशिष्टाद्वैत का प्रारम्भ भी इन्हीं से माना जा सकता है। रंगनाथ के पश्चात् यामुनाचार्य आते हैं जिन्होंने वैष्णव भक्ति एवं धर्म में प्रचार एवं प्रसार में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया। भागवत धर्म की स्थापना के साथ-साथ वैष्णवभक्ति तथा पांचरात्रों के सिद्धान्तों का मनन-चिन्तन करके उनका प्रतिपादन किया। सर्व प्रथम शंकर के मत का खण्डन करके भक्ति को सर्वसुलभ एवं जनव्यापी बनाने का महान् कार्य इन्होंने ही अपनी हार्दिक लगन एवं प्रयास से किया। भगवद्भक्ति के अनेक साधनों में आत्म-समर्पण को स्वीकार कर इन्होंने भगवान् के प्रति अपनी साधना व्यक्त की। 'स्तोत्ररत्न' इनका सर्वप्रमुख ग्रन्थ है जिसमें इन सभी भावनाओं की पुष्टि की गई है।

आचार्य रामानुज :-

भक्ति के विकास तथा उसके स्वरूप-निर्धारण में रामानुज का सबसे अधिक और महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है। सर्वप्रथम इन्होंने ही ब्रह्म के अचिन्त्य स्वरूप को भक्त साधकों हेतु चिन्त्य बनाया। इनका कथन है कि ईश्वर सदैव सगुण है। वह कल्याण-गुण, अनंतज्ञान-स्वरूप और सृष्टि का मूल कारण है। इनके अनुसार ईश्वर भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये पांच स्वरूप धारण करता है — पररूप, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार। 'पर' वह रूप है जो परमानन्दमय और अनन्त है। यह शक्ति, तेज, और ज्ञान से युक्त है। 'व्यूह' रूप में वह विश्व की सृष्टि और लय करता है। 'विभव' रूप में वह नर-लीला करता है। इस संदर्भ में विष्णु के अवतार मुख्य हैं। 'अन्तर्यामी' रूप में वह जीवों के अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर उनका नियमन करता है। वह सर्वज्ञाता समस्त ब्रह्माण्ड की गति जानता है। अन्तिम 'अर्चावतार' है। यह ब्रह्म का वह स्वरूप है जो साधना और भक्ति की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। भक्त जिस स्वरूप में उसको प्राप्त करना चाहता है उसी रूप में ब्रह्म उसे सुलभ हो जाता है। यही कारण है कि साधक-भक्त की रुचि इस रूप के प्रति अधिक होती है। प्रकारान्तर से रामभक्ति तथा राम के स्वरूप की इतनी प्रतिष्ठा बढ़ गई कि उनके चरित के गुण-गान तक ही सीमित

न रहकर आचार्यों ने उनके नाम-मंत्र तथा उनकी पूजा को भी उतनी ही निष्ठा के साथ स्वीकार कर लिया । भक्ति के संदर्भ में रामानुज की यह सबसे बड़ी देन थी ।

आचार्य रामानुज ने भगवद्-प्राप्ति के साधनों में नाम-साधना को भी स्थान दिया है । भक्ति की प्राप्ति के लिये अनवरत अभ्यास की आवश्यकता है । यह अभ्यास उसके नाम-जप द्वारा ही सम्भव है । गुरु का भी महत्वपूर्ण सहयोग होता है । भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए गुरु ही एक मात्र साधन है । 'रामानुज की भक्ति में विष्णु और नारायण नामों की प्रधानता है । व्यूहों के साथ वासुदेव नाम भी आ जाता है, पर राम, कृष्ण और विशेष रूप से राधा तथा गोपाल, कृष्ण नाम नहीं आते । रामानुज, भक्ति भावना में परमेश्वर के सतत ध्यान पर बल देते हैं जो यह उनकी उपासना के अंगों के अन्तर्गत आता है, जिसमें असीम प्रेमभाव या माधुर्य भाव की भक्ति नहीं होती ; जो चैतन्य या वल्लभ के भक्तिमार्ग में आगे चलकर दिखाई देता है ।'[१]

मध्वाचार्य :-

आचार्य मध्व का सम्प्रदाय 'ब्रह्म सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है । इस सम्प्रदाय के मतानुयायी ब्रह्मा को ही अपने सम्प्रदाय का मूल प्रवर्तक मानते हैं ।

आचार्य मध्व की मान्यता है कि 'हरि' ही इस समस्त विश्व का संचालक और संहारक है । वही मोक्ष प्रदाता है, वही विष्णु है, वही समस्त ज्ञान, अज्ञान का कारण है । अस्तु उससे बड़ा और कोई नहीं है । वेदों में वर्णित देवतागण भी हरि के ही रूप हैं । इन्होंने भगवान् को विष्णु कहकर पुकारा है । राम और कृष्ण नाम भी इनकी साधना के अन्तर्गत प्रयुक्त हैं ।

मध्वाचार्य के ब्रह्म सम्प्रदाय में रामभक्ति के सूत्र मिलते हैं । इनकी साधना के अन्तर्गत रूपोपासना पर भी बल दिया गया है । ऐसा प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने शिष्य से, जगन्नाथपुरी से रामसीता की मूर्ति मंगाई थी ।[२] माध्व सम्प्रदाय में

---

१. भक्ति का विकास - डा० मुंशीराम शर्मा, पृष्ठ ३६४
२. रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय- पृष्ठ ६० (डा० भगवतीप्रसाद सिंह)

रामोपासना के ये बीज आगे चलकर रामभक्ति के विकास उसके प्रचार तथा उसकी स्वतंत्र परम्पराओं की स्थापना में सहायक हुए ।

रामावत-सम्प्रदाय :-

मध्वाचार्य ने रामोपासना पर ध्यान तो अवश्य दिया किन्तु जो प्रतिष्ठा उसे श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्राप्त हुई वह उसे ब्रह्म-सम्प्रदाय में न मिल सकी । दक्षिण भारत में रामोपासना का प्रचार निश्चित रूप से श्री-सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा हुआ । उस समय भागवतों पर कृष्ण का इतना अधिक प्रभाव था कि राम की पूजा उपासना को उतना महत्त्व न मिल सका । आंशिक रूप से श्री तथा ब्रह्म सम्प्रदाय में राम की उपासना होती रही । अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में अर्थात् रुद्र-सम्प्रदाय और सनक-सम्प्रदाय आदि में भक्ति-साधना कृष्ण तक ही सीमित रह गई । राम की उपासना का व्यावहारिक रूप इनमें प्राय: नहीं मिलता ।" वास्तव में राम की उपासना को साम्प्रदायिक रूप एवं स्थायित्व प्रदान करने का पूरा पूरा श्रेय स्वामी राघवानन्द तथा रामानन्द को ही दिया जाता है ।[१]

राघवानंद-राघवानन्द का नाम रामानुज की परम्परा में आता है । इनका भक्ति-साधना सम्बन्धी प्राय: अधिक कार्य उत्तर भारत में ही सम्पन्न हुआ । यहाँ आकर इन्होंने राम-भक्ति का प्रचार एवं प्रसार कार्य बड़ी लगन और निष्ठा के साथ किया । इनके गुरु द्ययानंद रामोपासक थे । उन्हीं से दीक्षा लेकर उनके आदेशानुसार ही ये राम-भक्ति का प्रचार करने उत्तर भारत आए थे । दक्षिण में जाति-पाँति का बंधन इतना कठिन था कि वहाँ सहजभाव से साधना का प्रचार हो ही नहीं सकता था । उत्तर में यह बंधन कुछ ढीला था । 'अनंत स्वामी' ने भी राघवानंद के दक्षिण से आकर उत्तर भारत में राममंत्र का प्रचार करने की चर्चा की है । उससे ज्ञात होता है कि ये योगपरक सगुणरामभक्ति के प्रतिपादक थे ।

---

१. भक्ति आन्दोलन का अध्ययन-डा० रतिभानु सिंह नाहर, पृ० १९५

अत: इष्टदेव की पूजा में आरती, अर्घ्य, चरणामृत आदि बाह्य उपचारों की आवश्यकता स्वीकार करते हुए भी आन्तरिक श्रद्धा को अधिक महत्व देते थे।"[1]

इनके गुरु का स्वर्गवास होने के पश्चात् दक्षिण भारत में ये अधिक दिन तक न रह सके। आचार संबंधी अपनी सहिष्णुता के कारण इन्हें उच्चवर्गीय समाज से पृथक कर दिया गया। इस घटना के पश्चात् ही आचार्य राघवानन्द काशी आये, रामावत सम्प्रदाय की स्थापना का मूल कारण भी यही था। इनकी विचारधारा पर नाथ पंथियों का भी प्रभाव स्पष्ट ही झलकता है। रामभक्ति की इस परम्परा में आने वाले आचार्यों में अगला और महत्वपूर्ण नाम स्वामी रामानन्द का आता है।

रामानंद--

रामभक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा कर उसे संकुचित दायरे से बाहर निकाल कर उसका सर्वव्यापी रूप स्थिर करने का प्रशंसनीय कार्य रामानन्द द्वारा ~~समारम्भ~~ सम्पन्न हुआ। इनसे पूर्व श्री सम्प्रदाय में राम की उपासना की प्रारम्भिक स्थिति मिलती है, राम की प्रधानता नहीं थी। लक्ष्मी-नारायण को ही विशेष रूप से पूज्य और साधना का लक्ष्य माना जाता था। सम्प्रदाय विभेद के कारण धीरे-धीरे आराध्य के स्वरूप का भी विभाजन हो गया। वैष्णव साधकों में ही विविध वर्ग होने लगे। राम के स्वरूप को आराध्य मानने वाला वर्ग अपने आचार-व्यवहार में उदारता का समर्थक था जबकि दूसरा वर्ग इसका कट्टर विरोधी था। स्वामी रामानन्द ने वैष्णवों के श्रीनारायण के स्थान पर राम-सीता की उपासना पर बल दिया तथा रामतारक अथवा षडक्षर राममंत्र को साम्प्रदायिक दीक्षा का बीजमंत्र माना।

---

१. रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय - डा० भगवतीप्रसाद सिंह, पृ० ६२

वंदे श्री राघवाचार्य रामानुजकुलोद्भवम्।

याम्यादुत्तरमागत्य राममंत्र प्रचारकम्। योगप्रवाह, पृ०सं०, पृ०२२(पादटिप्पणी

वह समय ऐसा था कि समाज में अचानक कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना बहुत सरल न था । श्री-सम्प्रदाय मतावलम्बियों में आचार-विचार की कठिन प्रणाली को रामानन्द स्वीकार न कर सके । फलत: उनके मार्ग में अनेकों व्यवधान आए । उनके समक्ष केवल रामोपासना के प्रचार-प्रसार का ही प्रश्न नहीं था प्रत्युत उसकी सैद्धान्तिक स्थापना का जटिल प्रश्न भी था । प्राचीनता का खण्डन करने का ध्येय इनका कदापि नहीं था, किन्तु कुछ नवीन उद्भावनाओं ने इन्हें अवश्य प्रभावित किया। युग की प्रत्येक गतिविधि को समझने का प्रयास स्वामी रामानंद ने बड़ी सफलता के साथ किया । इनके व्यक्तित्व की व्यापकता का कारण उनकी उदार एवं सारग्राही प्रवृत्ति थी । इसी की प्रेरणा से इन्होंने सभी वर्ग और जाति के साधु, जिज्ञासु, भक्तों, संतों को अपनी शरण में ग्रहण कर लिया । उपासना की दोनों पद्धतियों अर्थात् सगुणनिर्गुण को उनसे विकास की प्रेरणा मिली । यही कारण है कि कबीर जैसे संत साधक निर्गुण के उपासक से लेकर तुलसी जैसे सगुण रूपोपासक सभी इनकी शिष्य परम्परा में आते हैं । इनके बारह प्रधान शिष्यों में सभी जाति के साधक थे ।

रामानन्द ने रामानुज के विशिष्टाद्वैत को ही स्वीकार किया है । राम, सीता तथा लक्ष्मण की त्रिमूर्ति को उपासना का वाह्य विग्रह माना । भगवान राम को ईश्वरतत्त्व माना । उन्हीं के गुणों का ज्ञान करने का आदेश दिया । उन्हीं की प्राप्ति की भक्ति को मुक्ति माना । इसकी प्राप्ति के विविध साधनों में भक्ति को सर्वप्रमुख स्थान दिया । ध्यान, स्मरण और अनुराग पर बल दिया । भगवान् राम के सतत् ध्यान का अभ्यास होने पर अहर्निशि उसके नाम का जप करने से उनसे साक्षात्कार किया जा सकता है । "वैष्णवमताब्जभास्कर" में राम-भक्ति विषयक ये पद मिलते हैं :-

सा तैल धारासमनित्यसंस्मृति: संतानरूपेशि परानुरक्ति: ।

भक्तिर्विवेकादिकसप्तजन्या तथा यमाघष्ट सुबोधकाङ्गणा ।६५।

अर्थात् तैल की अविच्छिन्न धारा के समान राम का नित्य अनुराग सहित स्मरण ही भक्ति है ।"[१]

---

१. भक्ति का विकास-डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० ३८५

तुलसीदास :-

आदिकाल से मानव की यह सहज जिज्ञासा रही है कि वह उस असीम शक्ति से परिचित हो जिससे यह समस्त चर-अचर संचालित है । वेदों से लेकर क्रमश: उपनिषद्,ब्राह्मणधर्म,बौद्ध धर्म, जैन धर्म सभी सम्प्रदायों का जन्म इस 'क्या-क्यों' की जिज्ञासा का परिणाम है । किन्तु उनका उत्तर तथा समाधान हर बार प्रश्न बनकर एक नए धर्म अथवा दर्शन को जन्म देता रहा । शताब्दियों से मनुष्य अपनी इस चिर जिज्ञासा की शान्ति का मार्ग ढूंढ़ता रहा । परिणामस्वरूप कभी वह ज्ञान की गंभीरता में डूब गया कभी कर्म से संतोष किया और कभी भक्ति में असीम आनन्द की रसानुभूति कर शान्त हो गया ।

शंकराचार्य का 'अहं ब्रह्मास्मि' का सिद्धान्त परम ज्ञानोन्मुखी था । अत:[१८] तत्कालीन जनसमाज की पूर्णतया सन्तुष्टि न कर सका । शंकर के ब्रह्मवाद का संशोधन रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में हुआ । परिणामस्वरूप निम्बार्क,मध्वाचार्य और विष्णुस्वामी भी अपने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर सके और देखते ही देखते असीम शक्ति का नियंता परम सत्ताधारी विष्णु, राम और कृष्ण अवतार धारण कर पृथ्वी पर अवतरित हुआ । भक्ति की यह पराकाष्ठा थी जहाँ ब्रह्म ने अपने साधकों हेतु अनेकों रूप धारण कर उन्हें अपने नाम-रूप-लीला-धाम का दर्शन दिया ।

वैष्णवों ने साधना के रूप को इतना सरल और सुलभ बना दिया कि समस्त जनमानस उसके आकर्षण से अपने को विरक्त न रख सका । यह कार्य कवि-साधकों द्वारा सम्पन्न हुआ । अपने भक्तिकाव्य में कला, संगीत को लोकभाषा द्वारा प्रस्तुत कर उसे समाज के और भी निकट लाकर उनमें भगवान के प्रति, विश्वास एवं आस्था बनाए रखने का कार्य किया । वैष्णव-साधना में भगवत्कृपा पर सबसे अधिक बल दिया गया । भगवान राम तथा कृष्ण की यह विशेषता बन गई कि 'भाव कुभाव अनख आलसहूँ' उनका नाम-स्मरण घोर से घोर पाप का निवा-

रणा करने में समर्थ होगा । इतना बड़ा विश्वास भक्ति का मेरुदण्ड बन गया । यह इतना बड़ा साधन था भगवान् को प्राप्त करने का जो मीमांसकों और वेदान्तियों को उपलब्ध न था । वैष्णव-साधकों ने भगवान को इतना सरल, सहज और दानी तथा कृपालु बना दिया कि वह भक्तों के वश में हो गये और शताब्दियों तक देश इस विश्वास को लेकर आश्वस्त था कि भगवान सभी प्रकार के क्लेश से मुक्त करेगा । वह साधक का रक्षक बन गया । साधना के क्षेत्र में इतना असीम विश्वास ही तुलसी, सूर, मीरा को जन्म दे सका — आगे चलकर इस विश्वास को अधिक पुष्ट बनाने और उसे समाज के समक्ष काव्य मय रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय इन्हीं साधक भक्तों को है ।

राम-भक्तों में तुलसीदास का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है । तुलसी को वाल्मीकि के समकक्ष समझा जाने लगा और उनकी वाणी ऋषिवाणी मान ली गई, क्योंकि उनके अकेले 'रामचरितमानस' में यह सब कुछ था जो तत्कालीन समाज को अपेक्षित था । तुलसी ने अपने अकाट्य तर्कों द्वारा हर उस बात को वैदिक घोषित किया जिन्हें लोग अवैदिक घोषित कर त्याग सकते थे । साधना के क्षेत्र में इस उदार भावना का भव्य स्वागत हुआ ।

वैष्णव साधकों का भक्ति-रहस्य गंभीर है यद्यपि वह सर्व सुलभ और सहज भी है । तुलसी की यही सबसे बड़ी उपलब्धि मानी जा सकती है कि उन्होंने इसी रहस्य को वाणी द्वारा उद्घाटित किया । उनकी काव्य-साधना मात्र कविता और राम की कथा न होकर एक विशिष्ट साधना-पद्धति, से सम्बन्धित वाणी है । रामचरित मानस, विनय पत्रिका, दोहावली, कवितावली आदि कृतियों में उनके सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन हुआ है । यहाँ हम उनके भक्ति से संबन्धित विविध पक्षों पर दृष्टिपात करेंगे ।

भक्ति तथा उसके विविध पक्ष

तुलसी की उपासना सहज सापेक्ष है । उसमें आवेश की कहीं प्रधानता नहीं है । वह हृदय-बुद्धि, और मन की सहज गहराई से उद्भूत उनकी संतुलित साधना की

नींव पर आधारित है । साधना की इतनी गहराई उनकी 'अनन्य गति' स्वभाव के कारण ही बन पड़ी है । अन्यथा भक्ति के इतने विशिष्ट एवं विराट् स्वरूप का उद्घाटन इतनी सरल वाणी द्वारा सम्भव न था ।

" तुलसी ने दर्शन और धर्म की संधि में भक्ति का रूप संवारने की चरम प्रतिभा प्रदर्शित की । भक्ति के सहारे एक ओर उन्होंने विशिष्टाद्वैत के पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामिन् और अर्चावतार की मान्यताओं को बल दिया और दूसरी ओर शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र, नारद-भक्तिसूत्र की आसक्तियों में हृदय की प्रवृत्तियों को इन्द्रियों के विष से मुक्त किया । इस भांति उन्होंने दर्शन की गंभीरता और नीरसता को धर्म के विश्वासों से जोड़ कर जीवन का अंग बना दिया। इस कार्य के लिये भक्ति को ही सबसे अधिक महत्त्व प्रदान किया ।" डा० रामकुमार वर्मा का यह कथन तुलसी की भक्ति के रूप का उद्घाटन करने में पूर्णरूप से सक्षम है । सगुण-राम ही उनके उपास्य हैं । तुलसी की भक्ति का यह अत्यन्त सहज और सरल पक्ष है कि उन्होंने अपने सहज, सगुण, साकार अवतारी राम के साथ ही साथ निर्गुण राम, हरि, कृष्ण आदि अन्य अवतारों एवं शिव आदि अन्य देवी-देवताओं को भी राम का ही रूप मानकर अपनी भक्ति-भावना का निरूपण किया है । तुलसी की दृष्टि में तो राम-भक्ति का मार्ग ही राजमार्ग है क्योंकि राम ही ऐसे कृपालु हैं जो शरणागत की भावनाओं को पूर्ण कर देते हैं । राम का स्वभाव ही यह है कि भक्ति का उद्रेक होते ही वे अविलम्ब अपने भक्त पर कृपा करते हैं । उनकी अहैतुकी कृपा सम्पन्न-विपन्न, मूढ़-ज्ञानी, निर्बल-सबल, भक्त-आस्तिक-नास्तिक, सभी पर हुई ।

जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिए दस माथ ।
सोइ संपदा विभीषनहि सकुचि दीन्ह रघुनाथ ।।[1]

---

1. रामचरितमानस- सुन्दर काण्ड, पृ०४९ ल, दो० ४९ ख

वे भक्त के प्रेम के वशीभूत हैं ।[1] इस प्रेम में वह शक्ति है कि वह पाहन से भी परमेश्वर को प्रकट करने की क्षमता रखती है ।[2] इस प्रेम की भी शर्त है —वह राम के चरणों में निश्छल भाव से होना चाहिए । भक्ति के अर्थ की व्यंजना करने के लिये तुलसी साहित्य में अनेकों शब्दों का प्रयोग किया गया है —भाव के अन्तर से वह भक्ति के स्वरूप का निर्धारण करता है —अनुराग, राग, प्रेम, प्रीति, रति, स्नेह आदि शब्द भगवान की भक्ति के लिये प्रयुक्त हैं । प्रेम का अतिरेक व्यक्त करने के लिये तुलसी ने अनेक स्थलों पर उसे परम प्रेम, परानुरक्ति, की कोटि पर ला दिया है । 'रघुपति पद परम-प्रेम, तुलसी यह अचल नेम',[3] अथवा—

कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ।[4]

द्वारा भी तुलसी ने प्रेम का अतिरेक ही व्यक्त किया है । प्रेम में तल्लीनता, सहजता, दृढ़ता और अविरलता होना ही तुलसी की भक्ति को अपेक्षित है । भक्ति के लिये तुलसी की बहुत बड़ी शर्त है — होइहिं भजनु न तामस देहा ।[5]

तुलसी का साधक मनसा-वाचा-कर्मणा भगवान को समर्पित है । इसकी स्वाभाविक विशेषता प्रतीति, विश्वास और प्रीति है ।[6] भक्त की भगवान में

---

१. 'भावबस्य भगवान सुखनिधान करुनाभवन । मानस, ७।९२ सो०
'सोइ सुकृती सुचि साँचो जाहि, राम ! तुम रीझे ।
× × ×
तुलसी सहज सनेह राम बस, और सबै जल की चिकनाई । वि०प०- २४०

२. प्रेम बदों प्रह्लादहि को जिन पाहन तें परमेश्वरु काढ़े । कवि० ७।१२७

३. वि०प० - १६

४. मानस ७।१३०

५. रा० ३।२३।२

६. तुलसी अकाज काज राम ही के रीझे खीझे
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हैं। वि०प० - ७६

अनन्य रति और गति ही भक्ति की चरम परिणति है – विनय-पत्रिका का यह पद द्रष्टव्य है –

जाऊं कहाँ तजि चरन तुम्हारे ।[१]

भगवद्भक्ति के संदर्भ में तुलसी ने अनेक साधनों का व्यवहार किया है । वह कहीं उपदेशात्मक हो गये हैं तो कहीं विनय-भावना के द्योतक हैं । उन्होंने अपनी भक्ति के प्रमुख उपकरणों में उपासना, पूजा, ज्ञान, विवेक, वैराग्य, यज्ञ, जप, तप दानधर्म, गुरु,संत,सेवा आदि का विशेष उल्लेख किया है, मुक्ति के अनेक मार्गों का वर्णन किया है ।[२] ज्ञान-भक्ति तथा कर्म ~~भक्ति-के~~ तीन प्रमुख साधन हैं मोक्ष प्राप्ति के । तुलसी ने यद्यपि इन तीनों मार्गों का विशद विवेचन अपने काव्य ग्रन्थों में किया है तथापि भक्ति-श्रेष्ठता का निरूपण करने के लिये अनेक प्रकार की बौद्धिक एवं भाविक आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं । उन्हें राम के चरणों में सहज सनेह ही अपेक्षित था ।[३] भक्त(भक्ति ही एकमात्र साध्य होती है –

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउं निरबान
जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन ।।[४]

बिना रामभक्ति के भव-संभूत क्लेश नहीं मिट सकते । राम के प्रति प्रीति-प्रतीति होने मात्र से सम्पूर्ण लोभ-मोह समाप्त से हो जाते हैं । तुलसी ने मानस में कहा है –

---

१. वि०प०- १०१

२. नाना पथ निरबान के नाना बिधान बहु भांति
तुलसी तू मेरे कहे जपु राम-नाम दिन राति । वि०प०-१६२

३. जाहि न चाहिअ कबहुं कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु
बसहु निरन्तर तासु मन सो राउर निज गेहु । मानस २।१३१

४ मानस२।२०४

करम बचन मन छाड़ि छलु जब लगि जनु न तुम्हार
तब लगि सुख सपनेहुं नहीं किये कोटि उपचार ।[१]

भक्ति के प्रकार

प्राचीन ग्रन्थों में विभिन्न दृष्टियों से भक्ति के विविध वर्गीकरण प्रस्तुत किये गये हैं। किन्तु सर्वत्र भक्ति का एक व्यापक अर्थ में निर्वाह किया गया है। तुलसी ने अपनी भक्ति का निर्धारण करने में एकांगी दृष्टिकोण का कहीं भी परिचय नहीं दिया वरन् बड़ी सतर्कता के साथ उसके समस्त प्रचलित रूपों को अपने काव्य में समेटने की चेष्टा की है। उसमें कबीर का मानसिक प्रेम, सूफियों का असीम नूरयुक्त प्रियतम, मीरा के गिरधर गोपाल तथा सूर के स्याम, सभी को एक साथ एक माला में गूंथने का प्रयास मिलता है। कहीं विद्रोह नहीं है। किसी की निंदा नहीं है। ब्रह्म के निर्गुण रूप को वही मान्यता है जो उसके अवतारी राम-रूप को। क्योंकि तुलसी का यह अमिट विश्वास है —

राम अनंत अनंत गुन, अमित कथा विस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिनके विमल विचार।[२]

तुलसी ने अपनी वैष्णव भक्ति के साथ ही साथ अवतार की भी प्रतिष्ठा कर उसे श्रद्धा का विषय बनाया। इस भावना की पुष्टि के लिए उन्होंने प्रारम्भ में ही रामचरित मानस में भारद्वाज से याज्ञवल्क्य के प्रति प्रश्न कराया है।[३]

राम नाम कर अमित प्रभावा। संत, पुरान उपनिषद् गावा।
राम कवन प्रभु पूंछहुं तोही। कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही।

---

१. मानस २।१०७

रामचन्द्र के भजन बिनु जो चह पद निर्वान
ज्ञानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूंछ विषान।
ऐसेहि बिनु हरि भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा।

—मानस ७।७८-७।७९।१

२. मानस - बालकाण्ड, दोहा - ३३

एक राम अवधेस कुमारा । तिन्ह कर चरित विदित संसारा ।
नारि विरह दुख लहेहु अपारा । भयेउ रोषु रन रावन मारा ।
प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि
सत्य धाम सर्वज्ञ तुम्ह,कहहु विवेक विचारि ।।[१]

सती ने भी शंकर से इसी प्रकार का प्रश्न किया था –
ब्रह्म जो व्यापक विरज अज, अकथ अनीह अभेद
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद ।।[२]

तथा गरुड़ को भी संदेह हुआ था –
मोहि भयउ अति मोह, प्रभु बंधन रन महुँ निरखि
चिदानंद संदोह,रामु विकल कारन कवन ।[३]

विविध पात्रों द्वारा किये गये इन संदेहों का निराकरण तुलसी ने मात्र कुछ शब्दों में कर दिया है –
व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन विगत विनोद
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद ।[४]

तथा– विप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार
निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गोपार ।[५]

डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में कह सकते हैं कि भक्ति से तुलसी ने ब्रह्म और अवतार में एकरूपता स्थापित की है । तुलसी ने भक्ति के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण

---

१. मानस- बालकाण्ड, दो० ४६
२. मानस बालकाण्ड, दोहा-५०
३. मानस - बालकाण्ड, दोहा -१६८
४. मानस- बालकाण्ड, दोहा-१६२
५. मुक्ताफल- पृष्ठ ८३-१०

को अत्यन्त व्यापक और व्यावहारिक बनाया है। उन्होंने शताब्दियों की विचार धारा को गतिशील बनाते हुए भी उसमें नवीन प्रेरणाओं की तरंगें उठाई हैं। इस भांति वह प्राचीन मान्यताओं और युग-सम्भूत व्यावहारिक प्रयोगों के बीच सुदृढ़ सेतु के समान है।"

पिछले अध्यायों में भक्ति के विविध स्वरूप पर विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जा चुका है तथापि संक्षेप में यहां हम भक्ति के विभिन्न स्वरूपों पर दृष्टिपात करेंगे। भागवतकार ने भक्ति के स्वरूप, साधन, आदि की दृष्टि से उसके अनेक स्वरूप निर्धारित किये हैं।[१] रूप गोस्वामी ने हरिभक्ति रसामृत-सिन्धु में बारह भेदों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है।[२] 'अध्यात्म रामायण' तथा 'भागवत' की नवधा-भक्ति विशेष रूप से इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। भक्ति के साधनों का विस्तृत विवेचन भी इसमें मिलता है। शाण्डिल्य ने अपने भक्ति-सूत्र में भक्ति का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने ईश्वर विषयक 'परानुरक्ति' को भक्ति कहा है।[३] नारद के अनुसार ईश्वर के प्रति परमप्रेम ही भक्ति है।[४] स्नेहपूर्वक किये गये अनवरत ध्यान को भक्ति कहते हैं।

नवधा भक्ति - श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।[५]

भक्ति के विभिन्न वर्गीकरणों में सर्वाधिक प्रशस्ति एवं ख्याति 'नवधा-भक्ति' को ही मिली है। श्रवण-भक्ति का मूल स्रोत एकमात्र सत्संग है। तुलसी ने भी इसका समर्थन किया है :-

---

१. मुक्ताफल, पृ० ८३-९०

२. हरिभक्ति रसामृत सिंधु - १।२-४

३. सा परानुरक्तिरीश्वरे। शा०भ०सू० १।१।२

४. सा त्वस्मिन् परमप्रेम रूपा। - ना०भ०सू० २

५. श्रीमद्भागवत ७।५।२३

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गएँ बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग ।।[१]

भगवान की मंगलमय लीलाओं के सूचक चरित्रों का कीर्तन अर्थात् भगवद् चरित्रों की कथाओं का पाठ अथवा भगवान के नामों का कीर्तन और जपादि कीर्तन भक्ति है। भगवान के प्रभावशाली नाम, रूप, गुण एवं लीला आदि के लिये किये गये कथामृत का श्रवण तथा कीर्तन का मनन करना तथा इष्ट की लोकोत्तर लावण्यमयी मूर्ति का ध्यान करना ही स्मरण-भक्ति है। पाद सेवन का आदि पुराण में इस प्रकार विवेचन मिलता है -

मम नाम सदाग्राही मम सेवाप्रिय: सदा
भक्तिस्तस्मै प्रदातव्या न तु मुक्ति: कदाचन। अर्थात् जो मनुष्य सदा मेरा नाम लेता है और मेरी सेवा में ही जिसकी सर्वोत्तम प्रीति है उसको देने योग्य भक्ति ही है, मुक्ति नहीं। इस प्रकार भगवान् के चरणों की सेवा करने वाले भक्त को भगवद्भक्ति, वैराग्य और ज्ञान ये सब एक साथ ही प्राप्त हो जाते हैं। वाह्य सामग्रियों के द्वारा अथवा कल्पित रूप से भगवान का श्रद्धापूर्वक पूजन करना अर्चन-भक्ति है। भगवान के चरणों में श्रद्धापूर्वक अनन्यभाव से प्रणाम करना वंदना-भक्ति है। शरीर, मन और वाणी द्वारा भगवान की श्रद्धा और प्रेमपूर्वक दास्य-भाव से सेवा करना दास्य-भक्ति है। भगवान में मित्रभाव से भक्ति सख्य भक्ति है। अहंकार रहित अपने तन,मन,धन का आत्म-समर्पण कर देना आत्मनिवेदन भक्ति है।

रामचरित मानस में वर्णित यही भक्ति शास्त्रीय नवधा-भक्ति है।[२]

---

१. उत्तर०, दोहा- ६१

२. जाते बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई।
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना।
श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं।

< < <

(कृपया अगले पृष्ठ पर भी देखें)

इसके अतिरिक्त भक्ति का एक सहज रूप भी मानस में मिलता है जो सुगम,सर्व-साध्य है वह शबरी के प्रति कही गई है । प्रथम प्रकार की नवधा भक्ति में साधना की समष्टि का दर्शन होता है —तुलसी-मानस के प्रत्येक प्रमुख पात्र भक्ति के एक-एक अंग के प्रतीक स्वरूप हैं —श्रवण के प्रतीक हैं जनक, कीर्तन के सुतीक्ष्ण स्मरण के शिव, पाद सेवन के प्रतीक हैं भरत, अर्चन के लक्ष्मण, वंदन के प्रतीक हैं निषाद, दास्य के हनुमान, सख्य के विभीषण तथा आत्मनिवेदन की प्रतीक स्वरूपा हैं सीता ।[1]

नवधा-भक्ति भी अनेक स्थलों पर तुलसी द्वारा चर्चा की गई है । विभिन्न पात्रों के माध्यम से उसकी महत्ता का प्रतिपादन भी किया गया है । नवधा भक्ति के तीन प्रमुख विभाग किये जा सकते हैं —प्रथम श्रवण,कीर्तन और स्मरण —जो भगवान के नाम सम्बन्धी साधन हैं तथा श्रद्धा,विश्वास की वृद्धि में विशेषत: सहायक सिद्ध हुए हैं —इसके साधन हैं —पादसेवन, अर्चन और वन्दन — ये वैधी भक्ति के विशेष सहायक हैं । दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन ये तीनों मुक्ति-मार्ग में सहायक हैं । तुलसी ने अपनी नवधा भक्ति का वर्णन इस प्रकार किया है :—

प्रथम भगति संतन कर संगा । दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ।
गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान
चौथि भगति मम गुन गन, करइ कपट तजि गान ।
मंत्र जाप मम दृढ़ विस्वासा । पंचम भजनु सो वेद प्रकासा ।
छठ दम सील विरति बहु कर्मा । निरत निरन्तर सज्जन धर्मा ।
सातवं सम मोहिमय जग देखा । मोतें संत अधिक कर लेखा ।
आठवं जथा लाभ संतोषा । सपनेहुं नहिं देखै पर दोषा ।
नवम सरल सब सन छलहीना । मम भरोस हियं हरष न दीना ।[2]

पिछले पृष्ठ का अवशेष— वचन करम मन मोरि गति, भजनु करहिं नि:काम ।
तिन्ह के हृदय कमल महुं करौं सदा विश्राम । मानस अर०,दो०

---

1. डा० रामकुमार वर्मा - आकाशवाणी द्वारा प्रसारित छ: वार्ताओं का संग्रह
2. मानस अरण्यकांड, दोहा ३५-३६

भक्ति का यह रूप सर्व सुलभ था। यह किसी वर्ग विशेष की भक्ति न बनकर साधारण स्तर के व्यक्तियों के लिए भी सुलभ थी। तुलसी के प्रत्येक पात्र के जीवन में भक्ति के महान् सिद्धान्त प्रतिफलित हुए हैं। इसके लिए उन्हें बहुत अधिक उपदेश या चेतावनी देने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

तुलसी के आराध्य के दो स्वरूप मिलते हैं। अथवा यों कहा जा सकता है कि स्वरूप भेद के कारण भक्ति के भी दो प्रकार हो गये हैं —प्रथम निर्गुण-भक्ति द्वितीय सगुण-भक्ति। उत्तरकाण्ड (रामचरितमानस) में सगुण-निर्गुण की विस्तृत विवेचना मिलती है। निर्गुण-भक्ति केवल निराकार ब्रह्म विषयक भक्ति है। सगुण के अन्तर्गत साकार रूप की उपासना, भगवान के नाम-रूप, लीला, धाम आदि की विस्तृत विवेचना प्राप्त होती है। तुलसी को यद्यपि ये दोनों रूप मान्य हैं किन्तु जहां राम के रूप-नाम और उनकी भक्ति का विवाद खड़ा होता है वहां वे स्पष्ट शब्दों में स्वीकार कर लेते हैं :-

> अन्तरजामिहुं तें बड़े बाहेरजामि हैं रामु, जे नाम लिये तें।
> धावत धेनु पेन्हाई ज्यों बालक बोलनि कान किये तें।
> आपनि बूझि कहै तुलसी, कहिबे की न बावरि बात बिये तें।
> पैज परे प्रह्लादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिये तें। [१]

वैष्णव-भक्तों की यह बहुत बड़ी विशेषता रही है कि उन्होंने भगवान् के दोनों रूपों को मान्यता देते हुए अपनी भक्ति का मुख्य प्रतिपाद्य सगुन-भक्ति

---

१. कवि० ७।१२६

> भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
> मोको तो राम को नाम कलप तरु कलि कल्यान करो
> करम उपासन ग्यान वेद मत सो सब भांति खरो
> मोहिं तो सावन के अंधहिं ज्यों सूझत रंग हरो। वि०प०,२२६

ही माना । कारण था उसकी सुसाध्यता, सहजता, तथा आत्मीयकता । तुलसी ने सुतीक्ष्ण और अगस्त्य के संदर्भ में यह स्पष्ट रूप से कहा है :-

> यह बर मागउ कृपा निकेता । बसहु हृदयँ श्री अनुज समेता ।
> अविरल भगति विरति सतसंगा । चरन सरोरुह प्रीति अभंगा ।
> जधपि ब्रह्म अखण्ड अनंता । अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता ।
> अस तव रूप बखानउं जानउं । फिरि फिरि सगुन ब्रह्मरति मानउं ।[१]

तुलसी की भक्ति का आदर्श दास्य भक्ति है । इसी भक्ति को उन्होंने भेद भक्ति भी कहा है । शरभंग और दशरथ के संदर्भ में इसका रूप स्पष्ट किया है -

> १. ताते मुनि हरि लीन न भयऊ । प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ ।[२]
> २. सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं । तिन्ह कहुं राम भगति निज देहीं ।
> ताते उमा मोच्छ नहिं पायो । दसरथ भेद भगति मन लायो ।[३]

तुलसी आगम-निगम, (पुराण) सब पढ़ने का एक मात्र फल राम के पद-पंकज की निरंतर प्रीति ही मानते हैं । इसीलिए बसिष्ठ जैसे ज्ञानी पुरुष ने भी अपनी एक ही इच्छा व्यक्त की है और वह है राम के चरणों में निरन्तर प्रीति, रति और भक्ति -

> नाथ एक बर मागउं, राम कृपा करि देहु
> जन्म जन्म प्रभु पद कमल , कबहुं घटै जनि नेहु ।[४]

---

१. रामचरितमानस- अरण्यकाण्ड, दोहा १३

सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम

मम हियँ बसहु निरंतर सगुनरूप श्रीराम । मानस अरण्य०दोहा - ८

२. मानस, अरण्य०, दोहा ६

३. मानस, लंका०, दोहा ११२

४. मानस, उ०, दोहा ४६

रूपविवेचन

इस काल के धर्म अथवा धार्मिक भावना को दो विभागों में बांटा जा सकता है —एक आस्तिक, दूसरा नास्तिक । आस्तिक भी दो प्रकार के हैं — एक तो वे जो वेद को ही अन्तिम प्रमाण मानकर अपनी साधना अर्पित करते हैं, दूसरे वे जो वेद से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहते । यद्यपि ये वेद-मत से समर्थित नहीं हैं तथापि इन्हें नास्तिक भी नहीं कहा जा सकता । पहले मत के मानने वालों में तुलसी का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है । तुलसी अपने राम की सगुण-निर्गुण, निराकार-साकार, दोनों रूपों में व्याख्या करते हैं । तुलसी के राम चिदानन्द स्वरूप वाले हैं । नरदेहधारी हैं, साथ ही उनका एक विराट स्वरूप भी है । इसका उल्लेख तुलसी ने मानस में इस प्रकार किया है —

एक अनीह अरूप अनामा । अज सच्चिदानन्द परधामा ।
व्यापक बिस्व रूप भगवाना । तेहि धरि देह चरित कृत नाना ।।[१]

अर्थात जो परमात्मा एक, इच्छा एवं चेष्टा रहित, अभिव्यक्त रूप रहित, अभिव्यक्त नाम रहित (एवं जाति गुण-क्रिया-यदृच्छा आदि प्राकृत नामों से रहित) अजन्मा, सच्चिदानन्दस्वरूप, सबसे परे धामवाला एवं श्रेष्ठतम तेज या प्रभाववाला, सर्व चराचर में व्याप्त है, सारा विश्व जिसका रूप है, एवं जो विराट्-रूप, समस्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न है, उन्हीं भगवान् ने (दिव्य) देह धारण करके अनेक चरित किये हैं । तुलसी के राम केवल ब्रह्म हैं —न परमात्मा और न केवल भगवान्

---

१. मानस , बा०, दोहा १३

व्यापक अकल अनीह अज निर्गुण नाम न रूप । मानस-बाल०, दोहा २०५
अज अद्वैत अनाम अलख रूप गुन रहित जो
मायापति सोइ राम, दास हेतु नर तन धरेउ । वै०सं० ४
तेरसि तीन अवस्था तजहु भजहु भगवंत
मन क्रम बचन-अगोचर, व्यापक व्याप्य अनंत । वि०प० २०३

हैं । इन तीनों रूपों में सामंजस्य कर तुलसी ने अपने 'राम', मर्यादा पुरुषोत्तम का स्वरूप स्थिर किया है । तुलसी साहित्य में इन तीनों रूपों की विवेचना प्रस्तुत की गई है । श्री मद्भागवत में एक श्लोक है –

> विन्दन्ति तत्त्वतत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्
> ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।।

इसी आधार पर वैष्णाव भक्तों ने ब्रह्म के प्राय: तीन रूपों का विवेचन किया है – 'ब्रह्म', भगवान् का वह स्वरूप है जो विशुद्ध ज्ञानमय है, दूसरा रूप है परमात्मा –यह योगियों का उपास्य है । यहां ज्ञाता और ज्ञेय में भेद रहता है । यहां वह अपनी अचिन्त्य शक्ति द्वारा नाना पदार्थों में 'परमात्मा' रूप में प्रत्यक्ष होता है । अन्तिम रूप 'भगवान्' है । वैष्णाव आचार्यों ने अपने आराध्य राम-कृष्णा को भगवान् ही माना है । मध्यकालीन साधना के अन्तर्गत ब्रह्म का यही रूप प्रचलित है । साधक का इससे साक्षात्कार होता है, उसके साथ प्रेम का सम्बन्ध हो सकता है, उसकी भक्ति हो सकती है तथा वह साधारण से साधारण जीव का समान धर्म है । इसीलिये साधक के अभीष्ट ब्रह्म का यही रूप है ।

> अरथ न धरम न काम रति, गति न चहौं निरबान
> जनम जनम रघुपति भगति, यह वरदान न आन ।[१]

'संसार के उपासना के इतिहास में रूपों की उपासना की कमी नहीं है परन्तु कहां है वह साहस, वह प्रेम पर बलिदान कर सकने की अद्भुत क्षमता जो मध्यकाल के इन साधक कवियों ने रूप के प्रति प्रकट की है –

> या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूं पुर कौ तजि डारौं,
> आठहु सिद्धि नवौं निधि कौ सुख नन्द की धेनु चराय विसारौं ।'[२]

---

१. मानस अयो०, दोहा २०४

२. मध्यकालीन धर्म साधना- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २५१

यह रूप भी ऐसा है जिसे स्मरण कर रावण भी मगन हो जाता है —

रावन रूप गुन सुमिरत मगन भयउ छन एक ।[१]

तुलसी के लिए राम का अगम्य रूप ही वास्तविक है। वह साधारण जीव की परिधि से महान् है, अगम्य है। उसके रहस्य को जानने वाले साधक भी विरले हैं — जिसे वेद भी नेति-नेति कहकर उसका ठीक-ठीक रूप निर्धारण नहीं कर सके। तुलसी ने वाल्मीकि द्वारा इसी रहस्य का उद्घाटन करने की चेष्टा की है। उसे प्राप्त करने की सबसे बड़ी शर्त है —

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ।[२]

उसका कारण बताते हुए तुलसी ने स्पष्ट किया है —

राम सरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धिपर ।
अबिगत अकथ अपार, नेति-नेति नित निगम कह ।

चिदानन्द मय देह तुम्हारी । बिगत विकार जान अधिकारी
नर तन धरेउ संत सुर काजा । कहहु करहु जस प्राकृत राजा ।[३]

भगवान् का यह विराट रूप रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में तथा मंदोदरी और रावण संवाद में विस्तृत रूप से विवेचित किया गया है :—

बिस्व रूप रघुबंश-मनि, करहु वचन बिस्वासु
लोक कल्पना बेदकर, अंग-अंग प्रति जासु ।[४]
अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि, चित्त महान्
मनुज बास सचराचर, रूप राम भगवान ।[५]

---

१. मानस, लंका०, दोहा ६३
२. मानस, अयो०, दोहा १२७
३. मानस, अयो०, दोहा १२७
४. मानस, लंका०, दोहा० २०
५. मानस, लंका०, दोहा १५

राम-जन्म के समय कौशल्या को भी यही अनुभव होता है :-

माया गुन ग्यानातीत अमाना, बेद पुरान भनंता ।[१]

विष्णु के अवतार रूप में राम चतुर्भुजधारी हैं । कौशल्या इसी रूप को देखकर विस्मित हुई थीं । इस निर्गुण ब्रह्म का न नाम हो सकता है न रूप । जब इसमें कोई गुण ही नहीं है तो फिर यह समझने का विषय किस प्रकार हो सकता है । तुलसी ने ऐसी चर्चा को असम्भव कहकर दूसरे ही मार्ग का अनुसरण किया है । वे उसी ब्रह्म को निर्गुण भी मानते हैं और सगुण भी । उनका विश्वास है कि सगुण का आश्रय लिये बिना निर्गुण या निराकार की चर्चा कैसे हो सकती है[२] और यदि यह मानलिया जाय कि वह सर्वव्यापी है तो वह निराकार अवश्य होगा । वह कबीर का 'तेज', जायसी का 'नूर' हो सकता है । आकार में तो एक देशीयता आवश्यक है किन्तु ब्रह्म सर्वदेशीय है । इसलिये तुलसी ने भी जब कभी उसके इस रूप की चर्चा की वहाँ उसका कोई विशिष्ट आकार नहीं है । यदि वह रूप ग्रहण करता है तो किन्हीं विशेष परिस्थितियों से बाध्य होकर करता है । वह सर्वान्तिर्यामी है ।[३] तुलसी ने भी इस मत की पुष्टि की है -

अव्यक्त मूलमनादी तरु त्वच चारि निगमागमस भने ।
षट कंध साखा पंचबीस अनेक परम सुमन घने ।[४]

राम का दूसरा रूप उनका परमात्मा रूप है । यह उसका महा विष्णुत्व गुण युक्त रूप भक्तों के समक्ष आता है । इस रूप में वह सर्जक, पालक एवं संहारक भी है । 'विष्णु कोटि सम पालनकर्ता' की शक्ति राम के इस रूप में समाहित है ।[५]

---

१. मानस, बाल०, दोहा १६२

२. निर्गुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास । दोहावली -२५१

३. सर्वत: पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं ।
सर्वत: श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति । गीता १३।१३

४. मानस, उत्तर०, दोहा १३

५. देखरावा मातहिं निज अद्भुत रूप अखंड, रोम२ प्रति लागे कोटि२ ब्रह्मण्ड, मा०बा० दोहा २०१
जाकी कृपा लवलेस तें मतिमंद तुलसीदासहूँ,
पायउ परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ । मानस-उत्तर०, दोहा १३०(क)

'सुराकार परमात्मा की न तो उत्पत्ति होती है न मृत्यु । उनका तो आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है । गोस्वामी जी कहते हैं कि' हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रकट होहिं मैं जाना । अगतग मय सब रहित विरागी, प्रेम ते प्रभु प्रकटइ जिमि आगी ।' इसीलिये उन्होंने रामजन्म के समय लिखा है :-

जग निवास प्रभु प्रकटे, अखिल लोक विश्राम ।[1]

तुलसी की वृत्ति तो राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप में ही अधिक रमी है । तुलसी के राम का यह रूप आकृति, प्रकृति और परिस्थिति तीनों दृष्टियों से एक आदर्श पुरुष का रूप है । राम के अवतारों का उल्लेख तुलसी ने कई स्थल पर किया है । अवतार के कई कारण हैं - तथा उसके कई रूप भी हैं ।[2] किन्तु तुलसी के राम का स्वरूप क्या था जो उनका अभीष्ट भी था -

अनुज जानकी सहित प्रभु, चाप बान कर राम।
मम हिय गगन इन्दु इव बसहु सदा निष्काम ।[3]

अथवा -

देखि राम छवि नयन जुड़ाने ।.....
प्रभु आसन आसीन,भरि लोचन सोभा निरखि ।[4]

---

१. तुलसीदर्शन - डा० बल्देवप्रसाद मिश्र - पृष्ठ १५५

२. वारिचर वपुष धरि भक्त-निस्तार-पर, धरनि कृत नाव महिमातिगुर्वी ।

भूमिभारभार-हर प्रगट परमातमा ब्रह्म नररूपधर भक्त हेतू ।
वृष्णि-कुल-कुमुद-राकेस राधारमन-कंस-बंसाटवी धूमकेतू । सम्पूर्ण पद दृष्टव्य
विनय०,पद ५२ ।

३. मानस,अरण्यकाण्ड, दोहा ११

४. मानस, अरण्यकाण्ड, वसो० ३

(इसी संदर्भ में अत्रि मुनि द्वारा की गई सम्पूर्ण स्तुति दृष्टव्य है)
मनु-सतरूपा की स्थिति भी कुछ इसी प्रकार की वर्णित है --वह सौन्दर्यमय अलौकिक रूप ही ऐसा है जिसे देखकर इन्द्रियाँ तृप्त नहीं होतीं । सम्पूर्ण रूप से मन, उसी में रम जाना चाहता है--उसका आकर्षण ही ऐसा है कि जिसमें दिव्यानुभूति का भान होता है --

छवि समुद्र हरि रूप बिलोकी । एकटक रहे नयन पट रोकी ।
चितवहिं सादर रूप अनूपा । तृप्ति न मानहि मनु सतरूपा ।[१]

हरष बिबस तन दसा भुलानी ।

साधना की चरम प्राप्ति भगवान का रूप-दर्शन है । तुलसी की भक्ति का प्रतिपाद्य राम की अवतार उनकी रूपोपासना मानी जा सकती है । उनके मानस के सभी पात्र भगवद्भक्ति के साथ ही उनके सगुण-साकार रूप के उपासक हैं । कठिन से कठिन तपश्चर्या का प्रतिफल वे यही चाहते हैं :--

जौ अनाथ हित हम पर नेहू । तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू ।
जो सरूप बस सिव मन माहीं । जेहि कारन मुनि जतन कराहीं ।
जो भुसुंडि मन मानस हंसा । सगुन-अगुन जेहि निगम प्रसंसा ।
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन । कृपा करहु प्रनतारति मोचन ।[२]

भक्त-वत्सल-भगवान कृपापूर्वक अपने भक्त की इच्छा पूर्ण करते हैं -- तुलसी को राम का यही रूप अधिक प्रिय था जहाँ वह अपने सगुण साकार रूप में भक्त के समक्ष उपस्थित होता है । इन्द्र द्वारा तुलसी ने अपनी आस्था व्यक्त की है :--

---

१. भगत बछल प्रभु कृपा निधाना । बिस्वबास प्रगटे भगवाना ।
नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम ।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि-कोटि सतकाम । मानस-बाल०, दोहा १४६
२. मानस , लंका०, दोहा ११३

कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव । अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।
मोहि भाव कोसल भूप । श्री राम सगुन सरूप ।[१]

तुलसी को राम का कोसलेस रूप अधिक आकृष्ट करता है । इसीलिए उन्होंने अपनी यह इच्छा मानस के हर पात्र के माध्यम से व्यक्त की है । अरण्यकाण्ड में उन्होंने कहा है यद्यपि आप विशुद्ध, व्यापक, नाश रहित और सब प्राणियों के हृदय में निरंतर वास करने वाले हैं, तो भी हे खरारी ! अनुज-लक्ष्मण और सीता जी सहित आप मेरे मन में बसिये । जो आपको सगुण, निर्गुण, हृदय में रहने वाले अन्तर्यामी रूप जानते हों वे आपको वैसा ही जानें, पर मेरे हृदय में तो कोसलेस, राजा कमलनयन राम हैं , वे ही घर बनायें ।[२]

यही सिद्धान्त अगस्त्य का है ,यथा –
जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता । अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता ।
अस तव रूप बखानों जानों । फिरि-फिरि सगुन ब्रह्म रति मानों ।[३]

राम के रूप सौन्दर्य का इतना सजीव वर्णन कवि की इस धारणा की पुष्टि करता है कि उनकी मोहिनी शक्ति भक्तों, अभक्तों सभी को मन्त्रमुग्ध बना देती है । इस आशय की कुछ पंक्तियां दृष्टव्य हैं –

अस को जीव जन्तु जग माहीं । जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं ।[४]
प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी । थकित भई रजनीचर धारी।
हम भरि जनमु सुनहु सब भाई । देखी नहिं असि सुन्दरताई ।[५]

---

१. मानस, लंका०- ११३ दोहा
२. मानस अरण्यकाण्ड, दोहा ११
३. मानस, अरण्यकाण्ड, दोहा १३
४. मानस, अरण्य० अयोध्या०,दोहा १६२
५. मानस०,अरण्य०, दोहा १६(क)

राम लखन सिय रूप निहारी । होहिं सनेह विकल नर नारी ।[1]
प्रभुहि विलोकहिं टरे न टारे । मन हरषित सब भए सुखारे ।[2]
राजकुँअर तेहि अवसर आये । मनहुँ मनोहरता तन छाए ।
गुन सागर नागर नर बीरा । सुंदर स्यामल गौर सरीरा ।[3]

धनुष-यज्ञ का समस्त प्रकरण ही राम के शील, शौर्य तथा सौन्दर्य वर्णन से ओत-प्रोत है । तुलसी ने राम के स्वरूप वर्णन के साथ ही साथ उनके गुणों का भी विस्तृत वर्णन किया है । यह सत्य है कि रूप और स्वरूप दो भिन्न वस्तुएं कभी नहीं हो सकती हैं । उनका एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है अथवा अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होना सार्थक भी होता है । राम का यह अनंत सौन्दर्य उनकी अनन्त गुण राशि का प्रतिफलन भी माना जा सकता है । वे अगुन, अखंड, अनंत, अनादि, अनीह, अनामय, अविनाशी तथा नित्य समरस होते हुए भी सृष्टा, पालक, ज्ञानी, प्रकाशक, परम उदार, भक्त वत्सल, पतित पावन, अशरणशरण और विषय-विकारों के विनाशक हैं । परिणामस्वरूप जीव-जन्तु सभी अपने हृदय की कुटिलता भूलकर राम के गुण-रूप पर मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं । और राम का दासत्व स्वीकार करके अपने को धन्य समझते हैं । राम शरणागतों की सदैव रक्षा करते हैं । उनके विषय-विकार एवं पापों को नष्ट कर उनकी अभिरुचि भक्ति की ओर उन्मुख करते हैं । तुलसी के राम का यही आदर्श रूप' पूर्ण रूप' है जिसके समक्ष अर्थ, धर्म, कामरति और निर्वाण भी ठुकराकर जनम-जनम राम में रति का वरदान चाहते हैं । सर्वज्ञता, सर्वसमर्थता, न्यायप्रियता, पूर्णकाम तथा पारमार्थिक गुण राम के गुण हैं । इनकी कोटियां निर्धारित करना असम्भव है । ये गुण स्वत: मंगलकारी, तथा भक्तों को सुख देने वाले हैं । डा० मुंशीराम शर्मा ने इसका विशद

---

१. मानस०, अयो०,दोहा ८६
२. मानस०, लंका०, दोहा ४
३. मानस०, २४१,२४३ दोहा ।
संकरु राम रूप अनुरागे । नयन पंचदस अतिप्रिय लागे । मा० दोहा ३१७
निरखि राम छवि विधि हरषाने । आठै नयन जानि पछताने ।
मा०पि० ,दो० ३१७

विवेचन किया है। वह इस प्रकार है —

पारमार्थिक गुण —वे जो भगवान की भगवत्ता उसकी निर्विकारता तथा निर्गुण-निराकरता की ओर संकेत करते हैं।[1]

सर्व समर्थ —राम के तेज, शक्ति, शौर्य, का वर्णन जहाँ मिलता है।[2]

सर्वज्ञता[3]— सत्य संध और मंगलकारी रूप में वह जन्म लेते हैं तथा गुरु, पिता, माता और अपने भक्तों को सुख देते हैं तथा उनकी रक्षा करते हैं। पूर्ण काम होना उनकी विलक्षण शक्ति का द्योतक है। न्यायप्रियता उनका विशेष गुण है।[4] इसके अतिरिक्त कुछ जागतिक गुणों का उल्लेख भी किया है —यह जगत

---

१. अगुन अखण्ड अनंत अनादी। जेहि चिन्तहिं परमारथवादी।
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा। ,मानस०बाल०,दो०१४४
राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा
सकल विकार रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं वेदा। ,, अयो०,दो०९३
सोइ सच्चिदानन्द घन रामा। अज विज्ञान रूप बल धामा।
व्यापक व्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघ शक्ति भगवंता।
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदासी अनवद्य अजीता।......
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह विरज अविनासी। मानस०, उत्तर० , दोहा ७२
सहज प्रकास रूप भगवाना। बा०रा०,दो०११६

२. रामतेज बल बुधि विपुलाई। सेस सहस सत सकहिं न गाई। सुन्दर०,दो०५६
जो चेतन कहं जड़ करई, जड़हि करइ चैतन्य
अस समरथ रघुनाथहिं भजहिं जीव ते धन्य। मानस०,उत्तर०,दोहा ११९
मसक विरंचि, विरंचि मसक सम करइ प्रभाउ तुम्हारो। वि०प०-९४
राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई। बाल०,दो० १२८

३. सुनहु राम सर्वज्ञ सुजाना। धरम नीति गुन ग्यान निधाना। अयो०,दो० २५७

४. पूरन काम राम अनुरागी। मानस,उत्तर०,दो० १२५(क)
सब प्रकार प्रभु पूरन कामा। ,, सुन्दर०, दोहा - २७
सत्य संध पालक श्रुति सेतू। राम जनम जग मंगल हेतू। मानस अयो० दो०२५४

उन्हीं के प्रकाश से प्रकाशमान है, शम्भु, विरंचि/विष्णु उसी के अंश हैं, संसार के कारन और कार्म दोनों हैं, उन्हीं की शक्ति से सृजन, पालन और संहार होता है, उनकी इच्छा से ही समस्त जड़, चेतन संचालित होता है।[1] राम के इस परम ऐश्वर्य एवं शक्ति के समक्ष भक्त की बड़ी सहज प्रतिक्रिया होती है। तुलसी की भक्ति का और चाहे जो भी रूप रहा हो किन्तु दास्य-भक्ति की भावना उनमें प्रबल है। भक्त को भगवान का रक्षक, पालक, उदार, दानी, कोमल, करुनानिधान, सरनागत और भक्त वत्सल रूप ही अधिक आकृष्ट करता है। तुलसी के राम की तो यह प्रमुख विशेषता रही है —

पतित पावन प्रनत पाल असरन सरन बाँकुरे विरद विरुदैत केहि केरे।[2]
अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर उपकारी।[3]

विनय-पत्रिका भक्ति का एक परमोत्कृष्ट काव्य ग्रन्थ है। भक्ति के बदले में उत्तम गति की लालसा अथवा स्वर्ग की प्राप्ति साधक को अभीष्ट नहीं होती। भक्त को तो भक्ति का आनन्द ही कैवल्य पद की प्राप्ति है। वह राम की शक्ति, शील और सौन्दर्य का साधक है। उसी में अपने जीवन की सार्थकता मानता है —

इहै परम फल परम बड़ाई।
नख सिख रुचिर बिंदुमाधव छबि निरखहिं नयन अघाई।[4]

आकृति-जन्य सौन्दर्य की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं। मानस में कुछ स्थल विशेष रूप से दृष्टव्य हैं :—

प्रभु विलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर धारी।
हम भरि जनमु सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई।

---

१. जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान गुन धामू।
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई। मानस०, दो० ११७

२. वि०प०, २१०

३. वि०प०, ११६

४. वि०प०, १३७

'आकृति जन्य सौन्दर्य के मौन प्रभाव का निष्कलंक चित्र इससे उत्तम शायद ही कोई और खींच सका हो। जो लोग समझते हैं कि आकृतिजन्य सौन्दर्य के आकर्षण का अवसान दाम्पत्य-प्रेम में ही पूरा-पूरा बन सकता है वे तुलसी के इस चित्रण को देखें। मनुष्यों की कौन कहे खग, मृग, मीन और यहां तक कि सांप-बिच्छू भी अपने हृदय की कुटिलता भूलकर मन्त्रमुग्ध से बने हुए राम का दासत्व करने के लिए तैयार हैं।'[१]

तुलसी साहित्य में सगुण-निर्गुण अथवा - साकार-निराकार की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की गई है। भक्ति और भावना में बहकर कभी कभी साधक तर्क भूल जाता है। तुलसी ने भी ब्रह्म को निराकार, निर्विकार, निर्गुण मानते हुए भी उसे सगुण, साकार, अवतारी माना है। सती के बाद-विवाद का प्रत्युत्तर शिव 'उमाराम-गुन गूढ़' कहकर देते हैं। साधना के क्षेत्र में भक्त की हृदयजन्य भावना प्रधान होती है। साधक की यही तो सबसे बड़ी विवशता है कि वह 'रूप-रेखगुन जाति जुगुति बिनु' अव्यक्तोपासना के वियोग को सहन नहीं करना चाहता। उसे तो आराध्य का सान्निध्य चाहिए, एकाकार होना भी उसका अभीष्ट नहीं। तुलसी भी इस वाद-विवाद से ऊपर उठकर सगुन-निर्गुन की व्याख्या करते हैं –

> सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।
> अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।
> जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे।[२]

तुलसी कहते हैं कि सगुण की अनुभूति निर्गुण से ऊंची है। उन्होंने कहा भी है -- 'निर्गुण रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोय।' तुलसी निर्गुण-सगुण में तादात्म्य के सिद्धान्त के प्रतिपादन मात्र से संतुष्ट नहीं होते वरन् यहां तक कहते हैं कि निर्गुण ही सगुण का कारण हो सकता है। तुलसी का कहना है कि

---

१. तुलसी दर्शन - डा० बल्देवप्रसाद मिश्र, पृ० १५८

२. राम०मानस।

निराकार निरंजन ब्रह्म ही भूप-रूप धारण करने के लिए विवश हुआ था । भक्तों के आध्यात्मिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए निर्गुण ब्रह्म सगुण रूप धारण करता है[1]। सगुण रूप तथा निर्गुण रूप में विचार और भाव का अन्तर मात्र है । तुलसी के राम की यही विशेषता है कि वे द्विभुज, शरचापधारी हैं तथा सर्व सुलभ आनंद के राशि है । रूप की मौलिक परिधि में रहकर भी तुलसी की साधना असीम है । उसकी कोई सीमा नहीं, कोई बंधन भी नहीं । तभी तो उन्होंने कहा है-

मोहिं तोहि नाते अनेक मनिये जो भावै,
ज्यों-त्यों तुलसी कृपाल चरन सरन पावै ।[2]

यही है तुलसी की रूपोपासना, जहाँ वे वाद-विवाद की स्थिति से ऊपर उठ जाते हैं ।

नाम-रूप विवेचन :-

"सब जानत प्रभु प्रभुता सोई, तदपि कहे बिनु रहा न कोई ।"-

समस्त साधना का मूल उत्स यही माना जा सकता है । सहज जीव की यह भावना ही उसमें परब्रह्म के नाम-रूप के प्रति जिज्ञासा जगाती है । उपासना के लिए ब्रह्म के नाम-रूप और भेद की कल्पना की गई । तुलसी ने नाम और रूप को ईशकी दो उपाधियाँ कहा है ।[3] दोनों अकथनीय हैं, अनादि हैं । उपाधि का अर्थ है --विशिष्टता । नाम अर्थात् निर्गुण तथा रूप अर्थात् सगुण-- दोनों ईश की विशिष्टतायें हैं । नाम अथवा रूप-स्मरण ध्यान दोनों ही साधना के

---

१. निर्मल निराकार निर्मोहा । नित्य निरंजन सुख संदोहा ।
राम धरे तनु भूप । -मानस- उत्तर०, दो० ७२

२. वि०प०- ७६ वाँ पद

३. नाम रूप दुइ ईस उपाधी । मानस बाल०, दोहा - २१

प्रतिपाद्य हैं। ईश्वर ही सृष्टि का निमित्त कारण है। कार्य को उत्पन्न करके भी उससे अलग-अपनी भिन्न स्थिति बनाये रखना ही उसका धर्म है। ऐसी शक्ति, ऐसे तेज या नूर की प्राप्ति का क्या साधन हो—इसका अन्वेषण साधकों का मुख्य उद्देश्य था। परिणामतः नाम और रूप द्वारा उसे व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया। ईश्वर की प्रतिष्ठापग-पग पर नाम-रूप के आश्रय से ही हुई। ईश्वर की प्राप्ति के यही दो मुख्य साधन माने गये।[१] नाम तथा रूप की परिकल्पना में बहुत कुछ साम्य है। इसलिये जब यह प्रश्न उठता है कि दोनों में कौन बड़ा है तो तुलसीदास यह कहकर चुप हो जाते हैं —

को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेद समुझिहहिं साधू।

नाम तथा रूप परमात्मा की दो विशिष्टताएं हैं —तुलसी की यह स्थापना एक बहुत बड़े दार्शनिक तर्क को जन्म देती है। विनय पत्रिका में भी इसी महान् दार्शनिक तथ्य का उद्घाटन है।[२] कई स्थानों पर तुलसी ने स्वयं ही प्रश्न उठाया और उसका समाधान भी किया। नाम-रूप में कौन बड़ा है कौन छोटा ? दार्शनिक इस विभेद को जानते हैं। इसीलिये वे आश्वस्त हैं। नाम-रूप के विवाद से ऊपर उठ कर जो साधक अपनी साधना में रत हैं वे निश्चय ही तुलसी की दृष्टि में उच्च-कोटि के साधक हैं। नाम-जप के साथ रूप के प्रति आसक्ति होना साधक के मन की सहज प्रवृत्ति हो सकती है, किन्तु तुलसी की दृष्टि में वे साधक श्रेष्ठतर हैं जो

---

१. मानस पियूष —पृष्ठ ३३६, बा०भाग १

'रकारो योगिनां ध्येयो गच्छन्ति परमं पदम्। अकारो ज्ञानिनां ध्ययस्ते सर्वे मोक्ष रूपिण:
पूर्ण नाम मुदादासाध्यायन्त्यचलमानसा:। प्राप्नुवन्ति परां भक्तिं श्रीरामस्य समीपताम्।

—महारामायणे (मा०त०) ।(५२,६६,७०)

२. केसव, कहि न जाय का कहिए।

देखत तब रचना विचित्र अति, समुझि मनहिं मन रहिए।.....
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कोउ मानै
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपन पहिचानै।। वि०प०,१११

नाम-जप को ही साधन और साध्य दोनों मानते हैं। उनकी साधना निष्काम भाव की होती है। रूप के विचार से भगवान का ध्यान करना सकाम भक्ति हो सकती है। तुलसी ने कहा भी है कि रूप का ध्यान किये बिना जो केवल नाम का ही जप करते हैं उनसे ईश्वर अधिक प्रसन्न होता है।

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदय सनेह बिसेखें।[1]

तुलसी के अनुसार नाम की मध्यस्थता के बिना सगुण-निर्गुण के भेद-विभेद का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। निर्गुण तथा सगुण के मध्य नाम, उभय प्रबोधक, सुसाखी तथा दुभाखी है।[2] अर्थात् 'नाम' निर्गुण तथा सगुण दोनों का बोध कराता है, दोनों का साध्यस्वरूप है तथा दोनों के मध्य एक कुशल दुभाषिये के रूप में एक को दूसरे का अर्थ बतलाता है। इस प्रकार 'नाम' दोनों विचार धाराओं के बीच की कड़ी है।

नाम-रूप से सम्बन्धित एक दृष्टिकोण और है -- नाम की परिकल्पना दर्शन के दुरूह ऊहापोह को भी जन्म देती है। भारतीय दर्शन में एक विशेष और प्रमुख सिद्धान्त है स्फोट वाद का। यही अन्तिम सत्य भी माना गया है जिससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का उद्भव हुआ है। पाणिनि की अष्टाध्यायी की प्रारंभिक पंक्तियों से ही ज्ञात होता है कि किस प्रकार शंकर के डमरू की 'कासिका' ज्ञान की सहायता से विश्व की सभी वस्तुएं निस्सरित हुई हैं। ठीक उसी प्रकार नाम डमरू का कार्य करता है। यही अन्तिम सत्य है। शब्द ही ब्रह्म है। स्फोटवाद के सिद्धान्त की पुष्टि इसी के द्वारा होती है। सन्त जान के अनुसार प्रारम्भ में 'शब्द' था, शब्द ईश्वर के साथ था, तथा शब्द ही ईश्वर था। जिस प्रकार शब्द मध्यस्थता का कार्य करता है, उसी प्रकार नाम सगुण-निर्गुण के मध्य दुभाषिये का कार्य करता है। तुलसी ने 'नाम रूप दुइ ईस उपाधी' में तीन दार्शनिक

---

1. मानस०, बालकाण्ड, दोहा-२१
2. अगुन-सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी।
   --मानस०, बाल०, दोहा २१

तथ्यों को संजोया है --उपाधिज्ञान--आकार ज्ञान तथा स्फोट ज्ञान ।

वस्तुत: तुलसी ने नाम के साथ स्वरूप चिन्तन आवश्यक माना है । तुलसी तो साक्षात् भगवान् राम के रूप के उपासक थे । इसीलिए नाम के साथ राम के स्वरूप का संकेत करना वे कभी भूले नहीं । नाम-जप का आधार क्या हो ? उसका आलम्बन कौन है ? उसके स्वरूप का ध्यान-चिन्तन, ही वास्तविक साधना है । वह रूप चाहे जिस प्रतीक से सम्बन्धित हो । वह राम चाहे कौशिल्या के पालने में भूलने वाले बालरूप में हों चाहे दनुज का संहार करने वाले धनुर्धारी राम अथवा भक्तों के आराध्य भगवान राम ब्रह्म-राम अथवा विष्णु-राम । सभी रूप उसी एक सत्ता के पर्याय हैं । सभी में वही शक्ति समाहित है । उसके विभिन्न नाम-रूप उसी सत्ता के द्योतक हैं । वस्तुत: नाम-रूप का धनिष्ट सम्बन्ध है --

देखिअहि रूप नाम आधीना । रूप ग्यान नहिं नाम विहीना ।
रूप विसेष नाम बिनु जानें । करतलगत न परहिं पहिचानें । [१]

तुलसी के अनुसार रूप नाम के अधीन है क्योंकि बिना नाम के रूप को पहचाना नहीं जा सकता । रूप-विशेष का कोई नाम तो होना ही चाहिये । अन्यथा उसकी विशिष्ट सत्ता का बोध कैसे हो सकता है ?

"नाम जप के विषय में पतंजलि ने दो सूत्र लिखे हैं वे दृष्टव्य हैं । 'तस्य वाचक: प्रणाव:' , तज्जपस्तदर्थभावनम् अर्थात् प्रणाव का जप और उसका अर्थ विचारने से समाधि होती है । इस प्रकार के नाम-जप का अन्त में फल यह होता है कि साधक के समस्त विघ्नों का नाश हो जाता है । और वह परमात्मा-तत्त्व को प्राप्त कर लेता है । इससे स्पष्ट है कि नाम-जप नामी के स्वरूप चिन्तन--सहित करने पर ही फलदायक होता है ।"[२]

नाम के साथ रूप का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है । तुलसी की यह मान्यता उनके सम्पूर्ण काव्य में देखने को मिलती है । नाम-जप भगवद्भक्ति का

---

१. मानस०, बालकाण्ड, दोहा २१

२. तुलसीदास और उनका युग- डा० राजपति दीक्षित, पृ० २२८

एक महत्वपूर्ण साधन है जिसे भक्ति सम्बन्धी अनेकों ग्रन्थों ने विवेचित किया है, अपने-अपने अनुसार ।

नाम-जप को रूप के प्रति प्रीति-प्रतीति और आसक्ति को जागृत करने का सहज साधन अवश्य स्वीकार किया जा सकता है । उपास्य के प्रति मन की सहज वृत्ति होती है कि वह उसके रूप का अवलोकन करे । उसके नाम में वह अपरमित शक्ति होती है कि वह आराध्य के रूप के प्रति साधक को अधिक से अधिक जिज्ञासु बनाता चला जाता है । नाम के साथ रूप का सानिध्य भी साधक को अपेक्षित होता है । साधक जिस नाम का जप करता है उसी स्वरूप का चिन्तन भी स्वाभाविक है । अत: यह कहना कि नाम-जप की स्वतंत्र प्रक्रिया है, कुछ सीमा तक निरर्थक है । बिना रूप के नाम की कल्पना नितान्त कठिन है । कार्य और कारण का सम्बन्ध शाश्वत है । इसको प्रमाणित करने के लिए तुलसी ने कई स्थलों पर यह प्रश्न उठाया है । रूप-नाम के अधीन है - इसके उदाहरण स्वयं राम हैं — अनेक भक्ति-ग्रन्थों में इस तथ्य की पुष्टि भी की गई है कि देवता मन्त्र के अधीन है ।

> यथा नामी वाचकेन नाम्ना योऽभिमुखो भवेत् । तथा बीजात्मको मन्त्री
> मन्त्रिणोऽभिमुखो भवेत ।*

अर्थात् जैसे वाचक नाम के द्वारा नामी सम्मुख हो जाता है, उसी प्रकार बीजात्मक मंत्र श्रीरामजी को जापक के सम्मुख कर देता है ।[1] नाम लेने से वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है । तुलसी ने बड़े सहज ढंग से इसे प्रस्तुत किया है । उनका विश्वास है कि ये दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध हैं । यदि नाम स्मरण से रूप का ध्यान न हो तो आराध्य के प्रति प्रीति की परिपूर्णता नहीं स्वीकार की जा सकती । इस प्रकार नाम--रूप दोनों की गति अकथनीय है, केवल अनुभव ही सुखद है इसका वर्णन करने की शक्ति शब्दों में सम्भवत: नहीं है ।[2] नाम की

---

१. मानसपीयूष --बालकाण्ड,भाग १, पृ० ३३६

२. नाम रूप गति अकथ कहानी । समुझत सुखद न परत बखानी ।
—मानस०, बाल०दो० २१

कहानी अकथनीय है। उसके द्वारा अनन्त जीवों का उद्धार हुआ है किन्तु नाम के चरित का महत्व मात्र ही महत्वपूर्ण नहीं है —रूप की गति और कथा भी अकथनीय है। भगवान् का दिव्य रूप कैसा है ? इसे कौन बता सका है। राम अनन्त हैं, गिरा-गोतीत हैं, दिव्य हैं, इसलिये उनके रूप का वर्णन नहीं किया जा सकता है। यह दिव्य अनन्त केवल अनुभव से सम्बन्ध रखता है -- यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह[1] श्रुतियों का भी यही कथन है। क्योंकि उससे साक्षात्कार के बाद अपनी अलग स्थिति का ज्ञान किसे रह पाता है।

सगुण-निर्गुण से परे नाम की स्थिति

तुलसी की समस्त कृतियों का प्रधान प्रतिपाद्य राम-नाम महिमा है। भक्तों ने भगवान की नाम-भक्ति को विशेष स्थिति प्रदान कर उसके गौरव को सर्वत्र बढ़ा दिया है। उसका कारण कुछ तो तात्कालीन परिस्थितियों का परिणाम भी अवश्य माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त भी नाम-भक्ति के प्रति आस्था परिस्थिति जन्य ही न होकर कुछ परम्परागत भी है तथा कुछ विश्वासजन्य। नवधा भक्ति के अन्तर्गत आने वाले विविध साधनों में श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि का तात्पर्य भगवान् के नाम-रूप-लीला-धाम का श्रवण स्मरण ही तो है और इन सभी में अन्तर्निहित भावना ब्रह्म की नाम-साधना ही है। निर्गुण साधक इसी नाम का जप करके रहस्यज्ञानी होकर ब्रह्मसुख को अनुभव करता है।[2] और सगुण भक्त इसी नाम का जप करके अपने समस्त कृत्याकृत्य को भगवान् के चरणों में अर्पित कर निश्चिंत हो जाता है।[3] यह बहुत बड़ी

---

१. तै०, ३।२।४

२. नाम जीह जपि जागहिं जोगी। विरति विरंचि प्रपंच वियोगी
ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा।
जानी चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ।
साधक नाम जपहिं लय लाएं। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएं। मानस०,बा०,दो०

३. पतितपावन राम नाम सो न दूसरो। सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो।
--वि०प० ६६

शक्ति है जिसके प्रति प्रत्येक विचारधारा के मानने वाले भक्त अपना विश्वास इसी एक अनुपात में व्यक्त करते हैं। इसका कारण तुलसी ने कई स्थलों पर बताया है जिनमें सर्व प्रमुख कारण मानस में इस प्रकार कहा है —

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी।[१]

अर्थात् वह सगुण-निर्गुण ब्रह्म के मध्य एक दुभाषिये का कार्य करने वाला है। उसे सगुण-निर्गुण का सेतु भी माना जा सकता है जो दोनों को एक बिन्दु पर लाकर साध्य बना देता है। इसीलिये तुलसी ने अपना मन्तव्य व्यक्त किया है कि ईश्वर के सगुण रूप में जिसकी रुचि नहीं है उसमें जिसे आनन्द नहीं आता है और निर्गुण रूप का चिंतन जिसके मन के लिए सम्भव नहीं है उसके लिए राम का नाम-जप ही श्रेयस्कर है — और साथ ही साथ साध्य भी —

सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं निर्गुन मन ते दूरि।
तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवन मूरि।[२]

इस प्रकार नाम निर्गुण और सगुण दोनों का प्रबोधक है। यही यथार्थ रूप से तुलसी की भक्ति और दर्शन है — भगवन्नाम जिसका गढ़ है तथा मूलाधार है। तुलसी ज्ञान-भक्ति में तादात्म्य मानने के लिये विवश हैं। इसके पश्चात् अगला चरण है सगुण-निर्गुण का। यहाँ भी अन्त में तुलसी सगुण-निर्गुण में तादात्म्य की परिणति पर पहुँचते हैं। सगुण-निर्गुण के इसी वाद-विवाद का अग्रिम चरण है नाम तथा रूप। नाम दोनों में श्रेष्ठतर है कहकर तुलसी अंत में शंका-समाधान इसी सिद्धान्त से करते हैं। नाम निर्गुण तथा सगुण के ऊपर न्यायिक-न्यायाधिकरण का कार्य करता है इसलिये वह दोनों को अपने नियंत्रण में रखता है —

मोरे मत बड़ नाम दुहूं ते। किय जेहि जुग निज बस निज बूते।[३]

---

१. मानस०, बाल०, दोहा २१

२. दोहावली, ८

३. मानस०, बाल०, दोहा २३

यह शंका का विषय हो सकता है कि नाम निर्गुण से तो श्रेष्ठ ही हो सकता है पर सगुण से नहीं क्योंकि वह साक्षात् स्वयं उपस्थित होकर अपने भक्तों को इष्ट फल प्रदान करता है, अपने रूप का दर्शन देकर उन्हें मुक्ति प्रदान करता है -किन्तु तुलसी निर्विघ्न रूप से कहते हैं कि मेरा यह दृढ़ मत है कि 'नाम' सगुण से भी ऊँचा है -निर्गुण ते एहि भाँति बड़,नाम प्रभाउ अपार ,

कहउँ नाम बड़ राम तें, निज विचार अनुसार ।[1]

इस तर्क की पुष्टि तुलसी ने अनेकों स्थलों पर की है। इसका सम्बन्ध राम तथा उनके नाम के प्रभाव की उपलब्धियों से है। तुलसी का विश्वास है कि राम से कहीं अधिक महनीय देन नाम, की है -सर्व प्रथम तुलसी कृत राम-चरित मानस में नाम-माहात्म्य पर दृष्टिपात करने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी ।[2]

राम भक्तों के लिए मनुष्य शरीर धारण करके उन्हें सुखी करते हैं। पर नाम-जपमात्र से भक्तों को आनंद-मंगल की प्राप्ति हो जाती है। यदि बरतन उत्तम होता तो यह नश्वर क्यों कहलाता। वह सनातन नहीं है किन्तु नाम सनातन है, नित्य है। राम ने तो एक गौतम की स्त्री को तारा किन्तु नाम ने करोड़ों दुरात्माओं, कोटि खलों का उद्धार किया। इस प्रकार नाम की सर्वव्यापकता का भी सहज ज्ञान हो जाता है। भगवन्नाम जप से बुद्धि भी विशुद्ध हो जाती है। राम ने एक विश्वामित्र के लिये निशिचरों का विनाश किया किन्तु नाम दासों के निशि रूप दोषों, दुखों एवं दुराशाओं का दलन करता है। राम ने केवल एक शिव का धनुष तोड़ा और नाम का प्रभाव मात्र ही भव-भय को नाश कर देता है। राम ने केवल दंडक वन की शोभा बढ़ायी किन्तु नाम ने अनगिनत जन-मन को पावन किया । रघुनाथ ने निशिचरों के समूह को मारा और नाम ने तो कलि के समस्त पापों को आमूल नष्टकिया है। रामने शबरी , जटायु आदि कुछ ही सेवकों को सद्गति प्रदान किया किन्तु नाम ने तो असंख्य खलों का उद्धार किया है।

---

१. मानस०, बा० , दोहा २३

२. मानस०, बाल०, दोहा २३

वेद भी उनके गुणों की कथा का गायन करते हैं। रामायण में नाम-भक्ति का स्वतंत्र विवेचन सम्भवत: इसीलिये अपेक्षित माना गया है।[१] शरणागत की रक्षा एवं भक्तवत्सलता इनकी विशेषता है। सुग्रीव एवं विभीषण को शरण देकर अपने प्रण का निर्वाह भी किया और नाम ने अनेक गरीबों पर कृपा की। यह नाम का श्रेष्ठ यश लोक एवं वेद दोनों में वर्णित है। नाम-जप के साथ खल अथवा सत्पुरुष का बंधन भी नहीं है। जहाँ दैन्य का अनुभव हुआ और हृदय में गर्व एवं अहं की भावना का विनाश हुआ बस राम का नाम साधक को सद्गति देने को बाध्य हो जाता है। राम सायास बानर भालुओं की सहायता से एक छोटे से सेतु का निर्माण करते हैं किन्तु "नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं" अर्थात् नामोच्चारण मात्र से भवसागर सूख जाता है।[२] राम ने रावण को सपरिवार रण में मारा, सीता सहित अयोध्या लौटकर राज्य किया तथा देवताओं ने श्रेष्ठवाणी से उनके गुण गाये पर नामस्मरण ~~मात्र~~ से ही साधक अथवा सेवक बिना परिश्रम ~~अनायास~~ ही प्रबल मोहदल को जीतकर सुखपूर्वक नि:संकोच भाव से सर्वत्र विचरण करते हैं। नाम के प्रसाद अथवा राम-नाम की महती कृपा से उन्हें जागृतावस्था की कौन कहे स्वप्न में भी किसी प्रकार का विषाद नहीं रहता। इस प्रकार तुलसी की यह स्थापना निम्नलिखित पंक्तियों द्वारा अपने चरम परिणति को प्राप्त होती है -

---

१. ब्रह्मांभोधि समुद्भवं कलिमल प्रध्वंसनं चाव्ययं।
श्री मच्छंभु मुखेन्दु सुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा।
संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकी जीवनं,
धन्यास्ते कृतिन: पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्। रामायण-४।१श्लोक २

२. यह भवसागर क्या है? परमेश्वर से मिलने में सात विक्षेप का आवरण है। वे ही सात समुद्र हैं। वे सात समुद्र ये हैं :- मानसिक, कायिक और वाचिक कर्म, अविद्या, दैहिक, दैविक, भौतिक ताप।

—मानस पियूष, बाल०, भाग १, पृ० ३८०

ब्रह्म राम तै नामु बड़ बरदायक बरदानि ।
रामचरित सतकौटि महं लिय महेस जिय जानि ।[१]

शिव की नामोपासना का संकेत गिरधर कृत रामायण मैं इस रूप मैं वर्णित है –

विषपान महादेवै कर्युं, त्यारै थई अग्नि अपार ।
सहु अंग ढाकै विष थकी, दुखिया थया त्रिपुरारि । २४
ललाटै धरियौ चन्द्रमा, शीतल थवानै अंग
भस्म शीतल अंग अर्ची, शीश ऊपर गंग ।
शीतल हिमालय तणी कन्या तै परण्यासार ।
नाग वीट्या तन विषै, करवातै विषनौआहार ।
गजचर्म शीतल करी सज्या, अन्य विधि उपचार
परम अंग शीतल नव थयुं, विष तणीं अग्नि अपार ।
पछी नीलकंठै कंठ मां वै अंक मूक्या सार
राम-नाम प्रताप थी शीतल थया तैणी वार
अै नाम नौ महिमा घणौ महा अधम थाम पवित्र
वाल्मी कै महिमा वर्णव्यौ शतकौटी रामचरित्र ।

अर्थात् विषपान कै उपरान्त शिव कै सम्पूर्ण शरीर मैं अपार जलन हुई । अतएव उस अग्नि कै शमन हेतु शिव नै ललाट पर चन्द्रमा धारण किया जौ शीतलता का प्रतीक है । सम्पूर्ण शरीर पर शीतल भस्म का लैप किया तथा शीश पर गंगा जी कौ धारण किया (यै सभी शीतलता कै दायक हैं) इतनै पर भी जब वह अग्नि न शान्त हुई तौ हिमालय की कन्या सै विवाह कर लिया, कण्ठ मैं सर्पों की माला धारण कर ली, शीतल गज चर्म सै सम्पूर्ण अंग कौ आच्छादित कर लिया इतनै उपचार कै पश्चात् भी शरीर की अग्नि शीतल न हुई, वरन् विष की अग्नि और बढ़ती गयी, अन्त मैं राम-नाम मुंख मैं धारण करतै ही शरीर की सम्पूर्ण अग्नि शान्त हौ गई, ऐसा शतकौटि रामायण मैं वर्णन मिलता है ।[२]

---

१. मानस०, बाल०, दौहा २५

२. गिरधर कृत रामायण - बाल०, अध्याय - २

नाम की प्रशंसा में कहीं-कहीं तुलसी ने भी अतिशयोक्ति-पूर्ण कथन का आश्रय लिया है तथा राम-नाम के बिना मोक्ष के अन्य सभी साधनों की व्यर्थता पर प्रकाश डाला है।[१] युगधर्म की आवश्यकताओं का प्रभाव तुलसी में अधिक दिखाई पड़ता है जहाँ वे इस प्रकार के कथन का प्रयोग करते हैं। यद्यपि नाम-भक्ति का आश्रय भक्तिकाल से पूर्व सभी युगों सभी धर्मों में लिया गया है किन्तु 'कलियुग केवल नाम अधारा' कहकर तुलसी ने नाम-भक्ति की आवश्यकता पर अधिकतम बल दिया है। इसके कुछ परिस्थितिजन्य तथा कुछ अन्य कारण भी थे जिनका संकेत पूर्व के अध्यायों में किया जा चुका है। कलियुग में अन्य मोक्ष के साधनों की जटिलता, धर्म-दर्शन की उलझाती स्थिति, साधना में परिस्थिति-जन्य विघ्न के कारण तुलसी ने नाम के दूसरे सरलतम मार्ग पर चलने का आह्वान किया क्योंकि उसकी शक्ति की महिमा अमोघ है। राम का नाम पावनता, ज्ञान और शान्ति का हेतु है, विधिहरिहरमय है, वेद का प्राण है, ब्रह्मसुखानुभव और अणिमादिक सिद्धियों द्वारा लौकिक सुखों का साधन है।[२] राम का नाम मन को प्रसन्नता प्रदान करने वाला है, चारों फलों को प्रदान करने वाला है और संसार में जीवित रहने का मात्र आधार अथवा साधन है। नाम प्रेम की प्यास को शान्त करता है। समस्त संतापों को शान्त करता है, आनन्द प्रदान करता है तथा असहायों और अशक्तों को सहारा देता है। पाप से पुण्य की ओर संकेत करता है। भक्त का सम्पूर्ण जीवन इसी में सार्थक है, यदि वह नाम का जप करे। क्योंकि राम का नाम वह अग्नि है जिसमें पड़कर समस्त विकार जल जाते हैं।[३] कलिकाल में तो योग-वैराग्य आदि की अपेक्षा राम-नाम अधिक महत्त्वपूर्ण है।[४] नाम-साधक नाम की ओट में स्वयं को संरक्षित अनुभव करता

---

१. राम नाम को अंक है, सब साधन है सून।
अंक गए कछु हाथ नहिं अंक रहे दसगून। दोहावली - १०

२. राम० १।१६।१, १।२२।१,३, १।२०।१, १।११६।२,

३. कवितावली - ७५, उत्तरकाण्ड

४.

है। तुलसी नै इसी विश्वास कै बल पर नाम मैं आत्मसमर्पण की भावना व्यक्त की है –

रावरी सपथ, रामनाम ही कौ गति मैरै।
इहाँ झूठौ, झूठौं सौ तिलोक तिहूं काल है।[१]

राम का नाम ही साधक कौ कृतार्थ करता है, संसार-सागर सै पार पानै कै लियै बैड़े का कार्य करता है। राम कै नाम मैं ही समस्त शक्ति का संचयन मान-कर एकनिष्ठ भाव सै उसका जप करनै सै समस्त भय नष्ट हौ जातै हैं और जीव निर्द्वन्द्व हौकर विश्राम करता है। रामनाम का प्रभाव ही ऐसा है कि वह महा-पातकियौं कौ भी महामुनि की संज्ञा सै विभूषित करादैता है।[२] सम्भवत: इसी विश्वास कौ तुलसी नै शब्दौं की अभिव्यक्ति दी है –

नाथ हूं न अपनायौ लौक झूठी ह्वै परी, पै।
प्रभु हूं तै प्रबल प्रतापु प्रभु नाम कौ ।[३]

तुलसी नै राम-भक्ति मैं दैन्यभाव कौ प्रथम स्थान दिया है यद्यपि वह उनकै अपनै संदर्भ मैं अधिक प्रयुक्त हुई है, तथापि दूसरौं कै विषय मैं भी उनका यही कथन है। मन मैं यदि क्रौध है, वासना है, लौभ है तौ निर्गुण की उपासना असम्भव है। भक्ति का प्रश्न उठनै पर तुलसी नै स्पष्ट ही कहा है कि वह शंभु, शुकदैव आदि कै लिए भी दुर्लभ है, ऐसी स्थिति मैं नाम-साधना ही साधक की जीवर्न शक्ति दैकर शक्ति प्रदान कर सकती है।

वह नाम-जप भी कैसा, जिसमैं न नियम है न कौई बंधन |, यह नाम-साधना का बहुत बड़ा वैशिष्ट्य है जहाँ आदिकवि की' संज्ञा पानै वाला 'ऋषि-राउ' नाम का उल्टा जप करकै भी सिद्धि प्राप्त कर लैता है।[४] किन्तु नाम-जप मैं भी तुलसी की एकनिष्ठा अपैक्षित है। यहाँ तक कि राम-नाम का जप स्वभाव बन जाय तथा जीवन का एक आवश्यक साधन हौ जाय तभी साधक की सच्ची

---

१. कवितावली, उत्तर० ६५
२. कवितावली, उत्तर०, ७२
३. कवितावली, उत्तर० ७०
४. बरवै रामा०, ५४

सिद्धि मानी जाएगी और साधक यह अनुभव करने लगे कि-

राम ही के नाम तें जो होइ सोइ नीको लगे
ऐसोई सुभाउ कछु तुलसी के मन को ।[1]

वे नाम को ही माँ-बाप तथा सर्वस्व समझते हैं ।[2] और सभी देवी देवता राम-नाम के समक्ष नगण्य हैं क्योंकि ये सब भी राम-नाम-जप से ही इस स्थिति को प्राप्त हुये हैं ।[3] समस्त दुष्कृत्य रामनाम के सम्पर्क से नष्ट हो जाते हैं । तुलसी को तो एकमात्र रामनाम की शक्ति का अवलम्बन है । यह शृंखला नाम जबकी, अहर्निशि एक ही धुन से लगी रहे —यही आकांक्षा है तुलसी की । उन्हें और किसी से कोई आकांक्षा नहीं —

भरोसो जाहि दूसरो सो करो ।
मोको तो राम को नाम कामतरु कलि कल्यान करो ।
करम, उपासन, ग्यान, वेदमत सो सब भाँति खरो ।
मोहिं तो सावन के अन्धहिं ज्यों सूझत रंग हरो ।.....
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तो जरि जीह गरो ।
अपनो भलो राम नामहिं तें तुलसिहि समुझि परो ।[4]

विनय-पत्रिका तुलसी की नाम-भक्ति का स्तम्भ है । उन्होंने स्वीकार किया है कि मुझे जितने कल्याण प्राप्त हो सकते हैं वे राम-नाम द्वारा ही सम्भव हैं अन्यथा नहीं —ज्ञान कर्म आदि मेरे ध्यान में ही नहीं आते यद्यपि उनका भी अस्तित्व है तथापि मुझे तो सावन के अन्धे की भाँति हरा ही हरा सर्वत्र दिखायी देता है । राम-नाम वह ब्रह्मानंद है कि उससे पूर्ण संतोष की प्राप्ति हो जाती है । यहाँ तुलसी के प्रेम तथा विश्वास की भावना का प्राधान्य है । वे अपने मन को तथा साथ ही सांसारिक माया-मोह में फँसे जीवों को भी

---

१. कविता०, उत्तर०, ७७

२. बूझि अपनी अपनो हित आप बाप न माय
राम राउर नाम गुरु सुर स्वामि सखा सहाय । वि०प०-२२०

३. कविता०, उत्तर०, ७८

४. वि०प०, २२६

नाम-जप का यथा संभव उपदेश देते हैं। राम से भी उनकी साग्रह यही प्रार्थना है कि आपके प्रति मेरा विश्वास कभी खण्डित न हो।[1] नाम के प्रति आत्म-निवेदन अर्थात् शरणागति का उपस्थापन ही 'विनय-पत्रिका' का उद्देश्य है।[2] नाम-भक्ति की एक अद्भुत धारा विनयपत्रिका में अविच्छिन्न रूप से बहती हुई दृष्टिगोचर होती है। दैन्य और अनन्यता भक्ति के दो मुख्य आधार माने जा सकते हैं। सगुण-निर्गुण का विवेचन भी बड़े ही भावात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। रामनाम की अखण्ड ज्योति तथा उस पर विश्वास जो ग्रन्थ के प्रारम्भ में है उसका अन्त तक निर्वाह किया है। तुलसी की यह एक सफल एवं मौलिक भावना का प्रमाण है कि उनका उपास्य जिस प्रकार अपने नाम-रूप-गुण में अनिर्वचनीय है उस प्रकार तुलसी का नाम-भक्तिपरक कथन तथा प्रीति-प्रतीति और विश्वास भी अखण्ड है। यद्यपि कभी कभी ऐसा लगता है कि एक ही राम-नाम की प्राप्ति तथा उसके महत्व पर प्रकाश डालने के लिए इतने पदों के रचने की क्या आवश्यकता थी तथापि सम्पूर्ण विनय-पत्रिका का एक ही विषय होने के उपरान्त भी उसमें एकरसता अथवा नीरसता का कहीं भी आभास नहीं होने पाता। तुलसी की सच्ची अनुभूति तथा नाम के प्रति निष्ठा का दर्शन स्थल-स्थल पर हो जाता है। परमात्मा तथा उसके नाम को छोड़कर सब कुछ नश्वर है, मिथ्या है, इसका सत्य अनुभव साधक को नाम के प्रति अनुराग की ओर अग्रसरित करता है। इसका प्रमाण तुलसी का यह पद माना जा सकता है —

---

१. नाम भरोस, नाम बल नाम सनेहु। जनम जनम रघुनंदन तुलसिहि देहु।

बo रा० ६८

२. तुलसी तिलोक तिहूं काल तोसे दीन को।

राम नाम ही की गति जैसे जल मीन को। वि०प० ६८

वि०प०- पद १५३, १८२

राम-नाम के जपे, जाइ जिय की जरनि।

मति राम नाम ही सों, रति राम-नाम ही सों,

गति राम नाम ही की विपति हरनि।

रामनाम सो प्रतीति प्रीति राखे कबहुंक,

तुलसी ढरेंगे राम आपनी ढरनि।। वि०प० १८४

प्रिय राम नाम तैं जाहि न रामो ।
ताको भलो कठिन कलि कालहुं आदि मध्य परिनामो ।.....
राम ते अधिक नाम-करतब जेहि किये नगर गत गामो ।
भये बजाइ दाहिने जो जपि तुलसिदास से वामो ।[१]

जिसे स्वयं राम से ही अधिक उनका नाम प्रिय हो उसे नाम की विशेषता का सम्पूर्ण ज्ञान अवश्य होगा । मानस में भी इसी आशय को तुलसी ने व्यक्त किया है । भक्त का यह पावन आवेश उपास्य के समक्ष सब कुछ भूल जाता है । अपने हृदय की सम्पूर्ण आनंदधारा से वह नाम का अभिषेक करने का इच्छुक हो जाता है । भक्ति की तन्मयता में साधक कभी-कभी इतना डूब जाता है कि वह सगुण-निर्गुण के विवाद से ऊपर उठकर चिन्तन करने लगता ह । वहां केवल राम का नाम ही सर्व-समर्थवान प्रतीत होता है ।[२] भक्त प्रतिज्ञापूर्वक नाम-जप का संकल्प करता है । जीवन की सार्थकता नाम-जप में ही है ।[३] इसके बाद तो कैसा भी पापी, पांवर, पातकी होगा नाम की ओट में सभी का संतरण निश्चित है ।[४] कलि-संतरण का इससे बढ़कर सरल दूसरा कोई साधन नहीं है ।[५] यह अनुभूति का विषय है । नाम-विमुख व्यक्ति को भाव में भी अभाव दिखाई पड़ता है तथा अमृत भी उसके लिए विष हो जाता है ।[६] इतना ही नहीं तुलसी की धारणा है कि राम-नाम में जिसकी प्रीति-प्रतीति अथवा आस्था-विश्वास नहीं है वह मानव होकर भी गर्दभ है, उसकी जीभ सर्पिणी है, बदन बिल के समान है ।[७] नाम की विशेषता है उसका मंगलमय तथा पवित्र

---

१. वि०प०- पद० २२८

२. वि०प०,पद० ६७

३. वि०प०, १०५— अबलों नसानी अब न नसैहों ।
पायो नाम चारु चिंता मनि उर करतें न खसैहों ।

४. वि०प०-१९१— कैसेउ पावँर पातकी जेहि लई नाम की ओट
गाठी बांध्या दाम तो परख्यो न फेरि खर खोटि ।

५. वि०प०— २४७,१७३। ६६,।१२६,।१३०,।१५५।१८५।१९२।१९३।२२६।२४७।१५६

६. वि०प० - ६८

७. रसना सांपिनि बदन बिल जे न जपहिं हरि नाम । दो० ४०

होना । तभी तो अधम से अधम पापियों को भी वह इस असार संसार से मुक्ति दिला देता है ।[१]

ब्रह्म के पर्यायवाची विविध नामों में राम-नाम की महत्ता

यद्यपि प्रभु के नाम अनेक हैं किन्तु तुलसी की भक्ति, रागमयी वृत्ति राम-नाम पर ही अधिक रमी है । इसे उन्होंने स्वीकार भी किया भी है -

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका । श्रुति कह अधिक एक तें एका ।
राम सकल नामन्ह ते अधिका । होउ नाथ अघ खग गन बधिका ।
राका रजनी भगति तव, राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडुगन बिमल, बसहु भगत उर व्योम ।[२]

राम-नाम ही तुलसी का इष्ट है, राम-नाम ही समस्त पापों के प्रायश्चित का साधन है । परमेश्वर के अनंत नाम हैं और सभी पाप का नाश करने तथा मुक्ति देने में समर्थ हैं फिर राम-नाम की श्रेष्ठता का क्या कारण है । तुलसी का विश्वास है कि पूर्णिमा की रात्रि यदि भक्ति है तो राम का नाम चन्द्रमा है और अन्य नाम नक्षत्रों के समान हैं —चन्द्रमा रजनी के तम को हरण करने वाला है तो भगवान का राम-नाम समस्त पापों का विध्वंस कर देता है । अन्य व्यक्ति भगवान् के किसी भी नाम का आश्रय ले सकते हैं ।[३] क्योंकि वेदों ने ईश्वर के असंख्य नामों का उल्लेख किया है । इसे तुलसी ने भी स्वीकार किया है । इतना ही नहीं उनका प्रयोग भी यथा अवसर उनके काव्य में हुआ है । ब्रह्म,

---

१. गीतावली - सुन्दरकाण्ड, ४२

२. मानस० अरण्य०, दोहा ४२

३. भरोसो जाहि दूसरो सो करो ।
मोकों तो राम को नाम कल्पतरु कलि कल्यान फरो ।
करम, उपासन ज्ञान वेद मत सो सब भाँति खरो ।
मोहिं तो सावन के अन्धहिं ज्यों सूझत रंग हरो । वि०प०, पद २२६

सच्चिदानन्द, परमात्मा, रघुनन्दन, रघुवीर, रघुकुलमणि, रघुपति, कौशलेश, केशव, हरि, कृपालु, कृपासिंधु, रमानिवास, करुनाकर, नाथ, सीतारवन, जगदीश, कृपानिधान, मयापति, सोभासिंधु, रघुकुलभानु, भानुकुलभूषण, रघुकुल-केतू, क्षमामन्दिर, निधि, निरुपम प्रभु, गोविंद, अनन्त, विष्णु, माधव, उरुगाय, सुरेश, त्रिभुवन धनी, वासुदेव, श्री रंग, ईश्वर, नन्दकुमार, इन्दिरा-रमनतथा ओंकार[1] आदि ब्रह्मवाची नामों का उन्होंने बहुतायत से प्रयोग किया है। राम-नाम का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है।[2] तुलसी साहित्य में।क्योंकि उनकी आस्था इस नाम के प्रति अधिक थी।उन्हें सर्वत्र समस्त अवस्थाओं में राम ही दिखाई देते हैं। राम-नाम ही उनकी माता है, पिता है, सुजन है, सनेही, गुरु, स्वामी, सखा, सहृद, तथा धन आदि सब कुछ है। राम-नाम ही उनके रोम-रोममेंबस गया है।[3] वही सुधारस है, वह सरनागत है, शुभदायक है, राम ही प्रीति की रीति भली भांति जानते हैं,[4] तुलसी ने सब सोच समझ कर राम-नाम में ही अपनी आसक्ति लगाई है। "अपनो भलो राम नामहिं ते तुलसिहि समुझि परो।" "राम कीन्ह चाहहिं सोई होई" यह इस नाम की सबसे बड़ी विशेषता है।

भारतीय धर्म और दर्शन के विकास में भक्ति की अवतारणा तथा उसकी परम्परा का महत्व तो स्पष्ट है ही साथ ही साथ नाम-भक्ति का भी महत्व कम नहीं है। उसके प्रमाण भारतीय ही नहीं अपितु अन्य भाषाओं में भी नाम

---

१. मानस०,उत्तर०— शिवस्तुति के संदर्भ में ओंकार का नाम प्रयुक्त हुआ है — दो०१०८
नोट— उत्तरकाण्ड में इन नामों का प्रयोग सर्वत्र हुआ है। इसके अतिरिक्त भी जहां इनका प्रयोग है वह नाम के अर्थ का उपयोग करते हुए है। यही कारण है कि एक राम-नाम सम्पूर्ण काव्य में न होकर अनेक नामों का प्रयोग है — उदाहरण के लिए-" अमित रूप प्रकटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला। यहां उनकी कृपालुता का दर्शन होता है अस्तु कृपाला शब्द का ही प्रयोग है किसी और नाम का नहीं। जहां जिस रूप में वह अवतरित होते हैं वहां उसी के अनुरूप उनके नाम का प्रयोग है। यह तुलसी की अपनी विशेषता है। उत्तरकाण्ड दोहा १४ से पूर्व की स्तुति में इस प्रकार के अनेकों नामों का प्रयोग हुआ है।

२. रामचरित मानस - बा० ६०,५२,४५,४४,७५,११२,११४,११६, ११६,१२८,१४१, १६०,२४६,२६०,२५६,२८४,३१७,३६१, अयो० पाणी महा सायक चारु चापं

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)

का जो स्वरूप देखने को मिलता है। उससे यही प्रतीत होता है कि भक्त हृदय की यह भावना मात्र भावात्मक आवेग ही नहीं थी अन्यथा इसका इतने विशाल जन समूह पर युगान्तरकारी प्रभाव पड़ना असम्भव था। वैयाकरणों ने शब्द को ब्रह्म के रूप में प्रतिपादित कर उसकी गंभीर विवेचना प्रस्तुत की है। तुलसी ने इसी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर 'नाम'-साधना का नई पथ अंगीकार किया है। विशेषत: तुलसी ने कलियुग में केवल नाम-आधार की जो विचार-सरणि प्रवाहित की है उसका अपना अलग महत्व है। नाम-साधना की इस परम्परा को तुलसी ने चरम परिणति देकर उसे सामाजिक आधार की स्थिति पर ला दिया है। इस नाम-साधना का मुख्य प्रतिपाद्य 'राम-नाम' ही रहा है उसकी शब्दगत विवेचना प्रस्तुत करते हुए उन्होंने नाम प्रकरण के प्रारम्भ में ही अपनी बन्दना का कारण स्पष्ट कर दिया है :-

बंदौ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को।[1]

अर्थात् मैं रघुवर के उस राम-नाम की बन्दना करता हूं जो अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा की व्युत्पत्ति का कारण है। यह राम-नाम साधारण शब्दों की सीमा से अपने अर्थ में परे है। मानस में तुलसी ने स्थल-स्थल पर राम-नाम के प्रति भक्तों से जिज्ञासा व्यक्त करायी है।सती के संदर्भ में यह बात बहुत स्पष्ट है,[2] और हर स्थान पर तुलसी ने इसका उत्तर दिया है।

पिछले पृष्ठ का शेष- नमामि रामं रघुवंशनाथम्, ३८,८३,६३,११०,१२६,१२७, १५५,१६४,२०५। अरण्यकाण्ड - १,६,८,११, २०,२६,३०,३२,४२,४६। किष्किंधाकाण्ड- १०,२५। सुन्दरकाण्ड-२३,३६,४७। लंकाकाण्ड- १श्लोक- ३,१५,६३,७३,१०४,११३,छंद। उत्तर० १३ श्लोक, १७,३०,४६,५२,५३,५८ ७८,८४,६२,११३,चौ०,११६,११६,१२६,१३० आदि

३. वि०प०- पद २५४,२७०,२७३। ४. वि०प० १८३

---

१. मानस०,बाल०दो० १६

२. राम नाम कर अमित प्रभावा.....। एक राम अवधेस कुमारा।.....
संतपुरान उपनिषद्...... गावा। तिन्ह कर चरित विदित संसारा।
प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि। १।४६।मानस०बा०
सत्यधाम सर्बग्य तुम कहहु बिवेकु बिचारि।
राम सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई। मान०,बा०११७

राम नाम अनादि है। रामावतार के पूर्व भी इसी नाम का जप करके अनेकों खल-पातकी, कुटिल, पापी जीवों का निस्तार हो चुका है। भगवान् शंकर तो आदिकाल से यही नाम जपते आये हैं। तुलसी का आशय 'रघुवर' के 'राम-नाम' से ही है। अर्थात् परात्पर ब्रह्म भगवान राम तथा अयोध्या में जन्म लेने वाले रघुवर के राम-नाम में कोई अन्तर नहीं है।

दूसरा कारण इस नाम की वैज्ञानिकता भी हो सकती है। शब्द-शक्ति को संत, भक्त, सभी साधकों ने स्वीकार किया है। क्या कारण है कि तुलसी 'राम' नाम पर ही इतना बल देते हैं? इसे स्वयं उन्होंने ही स्पष्ट किया है। राम-नाम सभी नामों का प्रकाशक है। जितने अन्य मंत्र हैं वे सभी देवताओं के प्रकाश से प्रकाशित हैं। परन्तु राम-नाम स्वयं प्रकाशित है और सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि सभी देवताओं को अपने प्रकाश से प्रकाशित किये हैं।[१]

महारामायण में भी राम-नाम को सब नामों की आत्मा और प्रकाशक कहा गया है --नारायणादि नामानि कीर्तितानि बहून्यपि। आत्मा तेषां च सर्वेषां राम नाम प्रकाशकः।[२] यद्यपि भगवान् के सभी नाम सच्चिदानन्द स्वरूप हैं तथापि राम-नाम में अन्य नामों की अपेक्षा कुछ विशेषता है। र,अ,म,

---

१. सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।

--मानस ०, बा० ११७, दो०

स्वभूर्ज्योतिर्मयो नन्तरूपी स्वेनैव भासते। रा०पू०ता० २।१

रेफारूढामूर्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव च' (रा०ता०२।३, इन श्रुतियों में राम नाम की स्वयम्भू ज्योतिर्मय, प्रणव आदि अनंत रूप धारण करने वाला अर्थात् प्रणवादि का कारण और रेफ के आश्रित समस्त भगवद्रूपों एवं श्री भू और लीलादि भगवच्छक्तियों का होना कहकर सम्पूर्ण मन्त्रों का प्रकाशक और रुद्र द्वारा उपदिष्ट होना बताया गया है। मा०पि०, पृ० २६६, बा०, भाग १

२. ~~महाभारत~~ महारामायण - ५२।४०

में सत्, चित्, आनंद का अभिप्राय स्पष्ट है। रकार पित् का, अकार रत् का और मकार आनंद का वाचक है।' प्रकारान्तर से ये नाम अग्नि, सूर्य और, चन्द्र, तीनों शक्तियों को अपने में समेटे हुए हैं। संसार में परम ज्योतिमान यही तीनों शक्तियाँ हैं। र अग्निबीज है,'अ' भानु , और'म' चन्द्र बीज है।[१] अर्थात् जैसे अग्नि शुभाशुभ वस्तुओं को जलाकर भस्म कर देता है उसी प्रकार'र' के उच्चारण से जीव के समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं, विषय-वासनाओं का नाश हो जाता है तथा जीव अपने स्वत्व को पहचान लेता है। भानुबीज वेदशास्त्रों का प्रकाशक है, हृदय में व्याप्त अन्धकार को दूर करता है, सूर्य की भाँति ही। मोह और अविद्या का अन्धकार नष्ट होने पर ज्ञान का प्रकाश स्वत: प्रस्फुटित होता है।'म' अमृत से परिपूर्ण है। यह शीतलता प्रदान करता है, तथा दैहिक, दैविक, भौतिक तीनों तापों को नष्ट कर देता है। यह संजीवनी शक्ति का द्योतक है। र, अ, म, क्रमश: वैराग्य, ज्ञान और भक्ति के उत्पादक हैं। तुलसी ने अपने साहित्य में राम-नाम में अग्नि, सूर्य और चन्द्र की क्रियाओं और गुणों को लक्ष्य भी किया है।[२] पद्मपुराण , महाशंभु संहिता, आदि ग्रन्थों में भी इसका विस्तृत विवेचन मिलता है। व्याकरण के नियमानुसार भी इस शब्द का कभी क्षय नहीं होता। वेदों में ही ईश्वर का नाम है, और इसी ओउम् में समस्त सृष्टि व्याप्त है। इसी में प्रादुर्भाव और नाश सबकुछ निहित है। 'ओउम्' से राम की निष्पत्ति भी मानी जाती है।[३]

---

१. रकारो नलबीजं स्याधे सर्वे वाडवादय:। कृत्वा मनोमलं सर्वं भस्म कर्म शुभाशुभम्। अकारो भानुबीजं स्याद्वेदशास्त्रप्रकाशकम्। नाशयत्येव सद्दीप्त्या या विद्या हृदये तम:। मकारश्चन्द्रबीजंच पीयूषपरिपूर्णकम् त्रितापं हरते नित्यं शीतलत्वं करोति च। महारामायणे ५२।६२,६३,६४,(मा०पि०बा०,भाग१,पृ० ३००)

२. जासु नाम पावक अघ तूला, २।२४८।मानस
जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा, १।११६ - मानस
राका रजनी भगतितव राम नाम सोइ सोम। ३।४२। मानस

३. मानस पियूष- बा०, भाग १, पृष्ठ ३०७

इस प्रकार तुलसी ने इसे ही वह महामन्त्र माना है जो मुक्तिदायी है जिसका जप करके शिव उपासकों के शिरोमणि हो गये। 'नाम प्रभाव जान शिव नीको' आदि के द्वारा तुलसी ने 'राम' शब्द पर अत्यधिक बल दिया है। मानस में तो कोई संदर्भ बिना राम-नाम के असम्भव है। तुलसी के जीवन के दो बहुत महत्वपूर्ण सिद्धान्त -पहला दास्य-भावना की भक्ति दूसरा नाम-भक्ति - दोनों ही सम्पूर्णत: इसी राम-नाम को समर्पित है। इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है। तुलसी ने अपनी समस्त साधना के फलरूप में यही अभिलाषा व्यक्त की है -

सबु करि मागहिं एक फलु, राम चरन रति होउ।
तिन्ह के मन मन्दिर बसहु, सिय रघुनन्दन दोउ।[१]

नामी से अभिन्न होने के कारण राम-नाम प्राकृत हेय गुणों से रहित एवं भक्तवत्सलता, करुणा, कृपालुता, शरणागतपालन आदि दिव्य गुणों से युक्त है। राम-मंत्र के जप में प्रयत्न-लाघव है। अन्य मंत्रों की भांति उच्चारण की दु:साध्यता न होने से उसकी साधना बड़ी सरल है। तुलसी की दृष्टि में राम मंत्र की आराधना विधि-विधान, होम आदि के अनुष्ठानिक जंजाल से परे हैं। उन्होंने केवल विशुद्ध भाव से हृदय की सरलता, सहजता एवं सचाई पर बल दिया है। राम-नाम जपने के लिये किये गये वाह्याडम्बर की आवश्यकता का निर्देश भी उन्होंने नहीं किया। यही कारण है कि जब भी राम-नाम की महत्ता प्रतिपादित करने की आवश्यकता पड़ी वहां उन्हें उस कथन को उपदेशात्मक बनाने की भूमिका नहीं बांधनी पड़ी। जिसने भी राम-नाम का जप किया उसने सानुराग भक्तिपूर्वक स्वत: प्रेरित होकर। शिव इसके प्रथम और महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। इसी राम-नाम को तुलसी ने मन्त्रराज, महामंत्र, मन्त्रजाप, तथा बीजमंत्र सबकुछ

---

१. मानस०--अयो०, दो० १२६

कहा है।[1] राम-नाम मन्त्र को ही उन्होंने तारक मंत्र का महामंत्र माना है। इस प्रकार सम्पूर्ण तुलसी साहित्य में राम-नाम की विशिष्टता एवं उसके प्रति तुलसी की अगाध श्रद्धा, विश्वास एवं भक्ति की भावना का दर्शन हो जाता है। नाम-जप के प्रतिपादन का आशय भी उनका राम-नाम से ही है। तुलसी के राम की विशेषतायें भी असंख्य हैं। जिसे वेद-पुराण भी नहीं पूरी तरह से समझ सके। उनका राम वह परब्रह्म भी है जिसमें योगियों का मन रमण करता है। वह सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य आदि गुणों से युक्त है। इतने गुणों से युक्त जिस राम के प्रति जीवों की सहज भक्ति नहीं है उन्हें तुलसी स्पष्ट शब्दों में 'खर' की संज्ञा देते हैं –

ऐसे राम नाम सों न प्रीति, न प्रतीति मन, मेरे जान, जानिबो सोइ नर खर है।[2]

तुलसी ने राम-नाम में समस्त शक्ति का संचयन कर दिया है। उनका कथन है कि भाव कुभाव अनख आलसहूँ भी जो राम का नाम ले लेता है उसे मुक्ति सहज ही प्राप्त हो जाती है -- इसकी पुष्टि भी उन्होंने की है :-

'राम-राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्बान : (3)

राका रजनी भगति तव, राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडगन विमल, बसहुँ भगत उर व्योम।[4]

---

1. 'मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा' –मानस० २।१२६।३
'महामंत्र जोइ जपत महेसू' – मानस – १।१६।२
'बीजमंत्र जपिये सोई जो जपत महेस' –वि० १०८
' मन्त्र जाप मम दृढ़ विस्वासा' –मानस०- अरण्य०, दोहा ३६
2. वि०प० – २५५।
रसना साँपिनि बदन बिल जे न जपहिं हरिनाम। दो० ४०
3. राम० अरण्य० – २०
4. राम० अरण्य० ४२। उत्तरकाण्ड दो० ५२,८४

निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै ।[1]
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ।[2]

मृत्यु के समय एकबार भी राम-नाम का उच्चारण सुरधाम की प्राप्ति देने वाला होता है । दशरथ-मरण के समय तुलसी ने स्पष्ट किया है - जियन मरन दसरथ फलुपावा, अथवा 'जियत लैलायो राम', 'राम विरह तनु परिहरेउ'[3] और - राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम ।
तनु परिहरि रघुबर विरह, राउ गयउ सुरधाम ।।[4]

इस कथन से स्पष्ट है कि तुलसी ने राम को जीवन-मरण, लाभ-हानि, मुक्ति-विरक्ति सभी का साधन माना है । अधिक से अधिक राम शब्द का उच्चारण उन्हें अपेक्षित है । विनय पत्रिका में उन्होंने अनेकानेक पदों की रचना की है जिसमें 'राम' शब्द की आवृत्ति है ।

अपनी अन्य समस्त विशिष्टताओं के साथ ही राम का नाम कलि संतरण का सबसे सरल और सहज साधन है । 'कलियुग केवल नाम अधारा' द्वारा राम-नाम की महत्ता का प्रतिपादन कर तुलसी ने भक्ति को सरल रूप प्रदान किया है । राम-नाम में प्रीति-प्रतीति और विश्वास की भावना अत्यावश्यक है ।[5] तुलसी यह कल्पना ही नहीं कर सकते कि 'राम की प्रीति से रहित जीवन कैसे जिया जा सकता है ।[6] अत्यन्त कठिन संसार का कभी अन्त नहीं है, और न जीव की प्रवृ-

---

१. मानस- उत्तर०, दो० ९२ (२) मानस-उत्तर० १०३, ११३
मम परितोष विविध विधि कीन्हा । हरषित राममंत्र तब दीन्हा ।
मानस-उत्तर०-११३

३. दोहावली २२१ ४. मानस, अयो०- १५५ दोहा०

५. राम राम, राम राम, राम राम जपत
मंगल मुद उदित होत, कलिमल छल छपत ।.....
नाम सों प्रतीति प्रीति हृदय सुथिर थपत ।
पावन किए रावन-रिपु तुलसिहु से अपत । वि०प० १३१

६. वि०प०- १३२, ६५, ६६, ६८, १८६

त्तियों का अन्त है। यह जन्म-मरण का चक्र सदैव इसी क्रम में चलता रहेगा। अस्तु तुलसी की यह विनम्र प्रार्थना है कि राम-राम ही कहते रहो। राम के प्रति प्रीति की अनन्यता ठीक वैसी ही होनी चाहिए जैसी मछली और जल की होती है। मन की यह स्थिति बिना राम को अनुकूल हुए नहीं हो सकती। तुलसी की यही आकांक्षा "हौं सब विधि राम, रावरो चाहत भयो चेरो" उन्हें राम के सन्निकट ला देती है।

मानव जीवन को सार्थक बनाने वाला हरिनाम ही है। अन्य साधन भी जीवन के उत्कर्ष में सहायक होते हैं, इसे भी तुलसी ने सदैव स्वीकार किया है किन्तु उन सभी साधनों का पर्यवसान यदि भक्ति में ही हो जाता है तो क्या लाभ अन्य साधनों के पीछे भागने से। देह धारण करने का फल तो सीधे-सीधे यही है है कि 'राम' का भजन किया जाय। यदि उसमें किसी प्रकार की बाधा है तो वह त्याज्य है, निष्कृष्ट है।[१]

तुलसी भक्त हैं और भक्ति के विकास में वे राम और उनके नाम को अपने चिन्तन और मानस का केन्द्रबिन्दु मानकर अपनी मन की समस्त वृत्तियों को उन्हीं के आश्रित कर देना चाहते हैं। उनका सम्पूर्ण काव्य-साहित्य इसका प्रमाण है। राम का नाम तुलसी के लिए वह अक्षय कल्पवृक्ष है जिसकी शरण में जाकर साधक का कल्याण निश्चित है। राम के अलौकिक रहस्य का ज्ञान भक्ति के लिये आवश्यक है। बिना राम की कृपा के उनका प्रभुत्व नहीं जाना जा सकता।[२] इस विश्वास को प्राप्त करने के लिये राम के नाम में प्रीति, प्रतीति आवश्यक है।

---

१. जरउ सो संपति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहज सहाइ।
—मानस —अयो० १८५ दो०

२. सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।
—मानस, अयो०, दोहा १२७

गुरु:—

मध्यकालीन साधकों, भक्तों, संतों के लिए गुरु एक आध्यात्मिक और नैतिक आवश्यकता के रूप में अपना महत्त्व रखता है। दुरूह, विघ्न बाधाओं से आच्छादित जीवन से पार पाने के लिए मार्ग-दर्शक की आवश्यकता का अनुभव बड़ा स्वाभाविक था। सांसारिक आकर्षण, कष्ट एवं अनिश्चय की स्थिति साधक को पथ-भ्रष्ट कर सकते थे —उसी से उबरने का, सही मार्ग पर चलने का मार्ग-दर्शक गुरु था। कबीर ने 'गुरु बिनु कौन बतावै बाट' में इसी भावना का स्पष्टीकरण किया है। मनुष्य का अहं, उसका लोभ, काम-क्रोध, ईर्ष्या, की तीव्र दृष्टि एक भीषण झंझावात की भांति साधक को किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर देते हैं। ऐसी स्थिति में कोई तो पथ-द्रष्टा हो जो साधक को जीवन के इस छोर से सफलतापूर्वक निकाल कर साधना की ओर उन्मुख कर सके। सद्गुरु इस कार्य में सक्षम है। निर्गुण मार्गी कवियों ने तो गुरु को ही सब कुछ मान लिया है। उन्होंने उसकी आवश्यकता एवं विशेषता का निर्देश करते हुए कुछ प्रमुख बातों का उल्लेख किया है —

(१) गुरु की नैतिक आवश्यकता,

(२) सद्गुरु की अपनी स्वयं की कुछ विशिष्टताएं जो वास्तविक सद्गुरु को ढोंगी गुरु से पृथक करती हैं,

(३) सद्गुरु की रहस्यात्मक विशेषताएं जो केवल सद्गुरु में ही विशेष रूप से विद्यमान होती हैं तथा —

(४) सद्गुरु की सामाजिक विशेषताएं जिससे वे मानव मात्र का उत्थान करते हैं।

भक्ति-क्षेत्र में भी गुरु का स्थान महत्त्वपूर्ण है। भक्ति-ग्रन्थों में गुरु की परम्परा का संकेत मिलता है। भक्ति और गुरु का सम्बन्ध भी बड़ा ही घनिष्ट है। सभी सम्प्रदायों में गुरु सभी के साधना क्षेत्र का प्रमुख अवयव अथवा उपकरण दृष्टिगत होता है। वैष्णव, शैव सभी सम्प्रदायों में नाना सुधारपंथियों की उपासना-पद्धति में इनका निर्देश मिलता है।

तुलसी की गुरु विषयक दृष्टि कबीर अथवा अन्य मध्यकालीन कवियों

से किंचित हटकर है । भक्ति के सिद्धान्त प्रतिपादन में उन्होंने प्राचीन भक्तों की गुरु परम्परा का प्रमाण उपस्थित कर अपनी आस्था व्यक्त की है । उनका तो मानस प्रारम्भ ही होता है गुरु वंदना से –

वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकर रूपिणम्
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्र: सर्वत्र वन्द्यते ।[1]

अर्थात् मैं शंकर रूपी ज्ञानस्वरूप, नित्य श्री गुरुदेव जी की वंदना करता हूं जिनके आश्रित अथवा शरण होने से निश्चय ही वक्र चन्द्रमा का भी सर्वत्र वंदन किया जाता है । इसी क्रम में उन्होंने गुरु के माहात्म्य का वर्णन भी किया है –

बंदऊं गुरपदकंज,कृपा सिंधु नर रूप हरि।
महामोह तमपुंज,जासु बचन रविकरनिकर ।[2]

यहां तुलसी ने गुरु की चरण वंदना करते हुए उनकी विशेषताओं का उल्लेख किया है कि वे कृपा के समुद्र हैं, नररूप में हरि ही हैं और जिनका वचन महामोहरूपी अंधकार के समूह के ~~के लिए~~ नाश के लिए सूर्य का किरण-पुंज है । तुलसी के ये गुरु कौन हैं जिन्हें वे 'नररूप हरि' कह कर संबोधित करते हैं ।तुलसी ने अपने इसी काव्य में तीन गुरुओं का उल्लेख किया है –प्रथम तो शिव जी जो प्रारम्भ से लेकर अंत तक मानस में रामचरित कथन के मुख्य पात्र हैं,[3] दूसरे श्री नरहर्यानंद जी जिससे उन्हें वैष्णव-संस्कार प्राप्त हुआ । तीसरे गुरु का संकेत सम्पूर्ण रामचरित है ।

भगवान शंकर को तुलसी ने अपना गुरु कई स्थलों में कहा है- ~~गुरु~~
गुरु पितु मातु महेस भवानी । प्रनवौं दीनबंधु दिन दानी ।
सेवक स्वामि सखा सिय पिय के । हित निरुपधि सब विधि तुलसी के ।।

---

१. मानस- बाल०,श्लोक १

२. मानस, बा०,सोरठा ५

३. सिव अज सुक सनकादिक नारद । जे मुनि ब्रह्म विचार बिसारद ।
सब कर मत खगनायक एहा । करिय राम-पद-पंकज नेहा ।
–मानस- उ०, दो० १२२(क)

कलि विलोकि जगहित हर गिरिजा । साबरमंत्र जाल जिन्ह सिरजा ।।
अनमिल आखर अरथ न जापू । प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू ।।
सो उमेस मोहि पर अनुकूला । करिहिं कथा मुद मंगल मूला ।।[१]

यहां उन्होंने शंकर को जगद्गुरु की स्थिति प्रदान की है । 'जगत मातु पितु संभु भवानी'[२] और 'उन्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना'[३] में तुलसी की इसी भावना का दर्शन होता है । शिव ने ही तुलसी को राम-नाम के प्रभाव से सजग किया है अर्थात् नाम-भक्ति की ओर प्रेरित किया । सम्पूर्ण मानस में शंकर भगवान के द्वारा तुलसी ने भक्ति की स्थापना करायी है । विनय-पत्रिका के भी अनेकों स्थलों पर इसके प्रमाण हैं ।[४] तुलसी का विश्वास है कि बिना अनन्य भक्त हुए भगवान् का रहस्य-ज्ञान कोई नहीं प्राप्त कर सकता । शंकर उनके आदर्श भक्त हैं । भगवान राम ने स्वयं शंकर को अपना श्रेष्ठ भक्त कहा है :-

सिव द्रोही मम भगत कहावा । सो नर सपनेहुं मोहिं न भावा ।
संकर विमुख भगति चह मोरी । सो नारकी मूढ़ मति थोरी ।
संकर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महुं बास ।।[५]

यही कारण है कि उन्हें उनकी भक्ति पर इतना विश्वास है ।[६] जहां कहीं भी गुरु की महिमा का वर्णन किया है वहां प्राय: शंकर का ध्यान उन्हें आ जाता है । मानस के प्रारम्भ में ही 'गुरु पद पदुम-पराग'[७] की स्तुति गुरु-भक्ति का

---

१. मानस - बाल०, दोहा १५
२. मानस, बा०, दो० १०३
३. मानस, बा०, दो० १११
४. गावत बेद पुरान संभु सुक, प्रकट प्रभाव नाम को । वि०प०६६,२०६
५. मानस, लंका०, दोहा २
६. वि०प० २५१
७. मानस, बाल०, दोहा १,२

बंदउं गुरुपद पदुम परागा । सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ।।
अमिय मूरिमय चूरन चारू । समन सकल भव रुज परिवारू ।।

चरमोत्कर्ष तो है ही साथ ही शिव भक्ति का भी प्रतीक है। वे गुरु की चरण रज को शिव के अंग में वेष्टित भस्म के समान पवित्र मानते हैं। उनका कथन है कि इस रज के प्रताप से हृदय विकार शून्य होकर मन्जु दर्पण की भांति स्वच्छ हो जाता है। गुरु के चरणों का ध्यान मात्र दिव्य दृष्टि प्रदान कर देता है। समस्त दु:खों से निवृत्ति मिल जाती है तथा साधक भगवान के नाम - गुण और उसके चरित से सहज ही भिज्ञ हो जाता है। मानस के उत्तरकाण्ड में इसका विस्तृत विवेचन मिलता है। राम जो साक्षात् ब्रह्म हैं उन्हें भी गुरु का चरण स्पर्श करके रोमांच हो आता है।

वस्तुत: कोई कितना बड़ा क्यों न हो गुरु के अनुग्रह बिना वह इस सांसारिक मोहपाश से उबर नहीं सकता।[1] नवधा भक्ति के संदर्भ में तुलसी ने 'प्रथम भगति संतन कर संगा' में इसी तथ्य का उद्घाटन किया है। गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान, कहकर यह बात और भी स्पष्ट कर दी है। अर्थात् दास होकर गुरु की सेवा करना साधक का कर्तव्य है। मध्यकालीन साधकों द्वारा अपनाई गई इस परम्परा का स्रोत प्राचीन है।" गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु-र्गुरुर्देवो महेश्वर:, 'गुरुरेव परब्रह्म' की भावना का समावेश तुलसी के इस कथन में है। भगवद्भक्ति के प्रति आस्था और भगवान के स्वरूप का सच्चा ज्ञान बिना गुरु के और कौन करा सकता है -

बिनु गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं बेद पुरान,सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु।[2]

गुरु वही है जो भक्त को मोह और संशयों का नाश कर दें। यह संशय भगवान् के नाम-रूप-लीला-गुणादि किसी के प्रति उत्पन्न हो सकता है। इससे उबरना सहज साधक की शक्ति से परे है, गुरु के वचन ही 'रविकर निकर' के सदृश इस महामोह का नाश कर सकते हैं। सतगुरु राम-नाम का उपदेश

---

१. गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई। मा०उत्तर०, दो० ९३
२. मा०उत्तर-सोरठा ८६

देता है,[१] वह कर्णधार है, "करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा", अथवा "गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई" आदि कथन में एक ही ध्वनि है।

गुरु के प्रति अभिमान की भावना, उसके समक्ष अपने अहंकार का प्रदर्शन अनिष्टकारी होता है। भगवान भी उस भक्त को नहीं क्षमा करते जिसने गुरु का निरादर किया है। भगवान के बाद कुछ (गुरु) ही ऐसा है जो भक्त के समस्त दोषों को क्षमा कर उसे सद्बुद्धि प्रदान करता है। वह आमरण भक्त पर दया करता है। ऐसे गुरु के प्रति यदि साधक के मन में सम्भाव और भक्ति की भावना का उदय न हुआ तो तुलसी का विश्वास है कि वह रौरव नरक का भागी होता है।[२] तुलसी ने प्रारम्भ से ही इसका स्पष्टीकरण कर दिया है। तुलसी की भक्ति का प्रतिपाद्य नाम-रूप की प्रस्थापना है। उसमें सहायक जितने उपकरण हैं सभी उनके लिये ग्राह्य हैं, वन्दनीय हैं। गुरु के प्रसाद से ही भक्तों के मन में भगवान् के प्रति अविरल भगति का उन्मेष होता है। गुरु के वचनों से ही "राम भगति उर में उपजती है। तुलसी का कथन है कि —

रामकथा के तेह अधिकारी। जिन्ह के सत संगति अति प्यारी
गुर पद प्रीति नीतिरज जेहँ। द्विज सेवक अधिकारी तेहँ।[३]

जो गुरु के चरणों में तत्पर है उन्हें ही तुलसी भक्ति का अधिकारी मानते हैं। गुरु-महिमा के संदर्भ में कहीं ऐसा कथन तुलसी ने नहीं किया जो उन्हें अन्धविश्वास की सीमा पर लाकर खड़ा कर दे। सभी कथन उनके स्वानुभूति-

---

१. बेगि बिलंबु न कीजिये लीजिए उपदेस।
बीजमंत्र सोई, जो जपत महेस। विन० १०८

२. जे शठ गुर सन इरिषा करहीं रौरव नरक कोटि जग परहीं
त्रिजग जोनि पुनि धरहिं सरीरा। अयुत जन्म भरिपावहिं पीरा।
मानस उत्तर०, १०७दो०

हर गुर निंदक दादुर होई। जन्म सहस्र पाव तनु सोई। मानस, उत्तर० १२१दो०

३. मानस उत्तर०- दोहा १२८
कवच अभेद विप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा। मानस, लंका० दोहा ७६

जन्य प्रतीत होते हैं क्योंकि उनमें आस्था विश्वास की जो गहराई है वह साधारण नहीं है। प्रदर्शन की इच्छा से भी उनका कोई कथन बोझिल नहीं लगता, प्रत्युत उनके गुरु भक्ति कथन में उनका दृढ़ विश्वास झलकता है और उसे अन्त तक उन्होंने निभाया है। प्रमाण की आवश्यकता पड़ने पर उसका निर्वाह भी सफलतापूर्वक किया है।

धाम :-

मानव की यह सहज प्रवृत्ति रही है कि वह उस अज्ञात शक्ति की खोज में अपनी समस्त शक्ति लगा दे, जो मानव तथा प्रकृति दोनों से ऊपर है। वह इन दोनों को अपने नियन्त्रण में रखती है। सहज मानव की सफलता-विफलता का कारण भी वही शक्ति है। यह शक्ति भी निश्चित रूप से रहस्यात्मक है। यह तो सगुण मार्गी साधकों की भक्ति भावना का परिणाम था कि उसे मानव विग्रह देकर उसको मानव के सन्निकट ला दिया। उसकी रहस्यात्मकता भी यहाँ पहुँच कर उन्मुक्त हो जाती है। उन्होंने उसके विशेष रूप, विशेष नाम, उसकी लीला तथा गुण और विशेष धाम से सहज जीव का परिचय कराया।

यदि "हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रकट होहिं मैं जाना"[1] के सिद्धान्त पर अटल विश्वास करें तो राम के विविध धामों की व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। किन्तु फिर भी तुलसी को इसकी विवेचना प्रस्तुत करने का एक दूसरा भी कारण था। उनके राम सर्वव्यापी होकर भी अवतार लेकर सीमा के बंधन को स्वीकार करते हैं। भक्तों को सुख देने के लिये उन्हें विविध लीला करनी पड़ती है।

तुलसी ने क्षीरसागर, वैकुण्ठ, कैवल्य, परम धाम, क्षीराब्धि, निज धामा, आदि की ओर संकेत किया है। बालकाण्ड में तुलसी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है -

---

1. मानस, बा०, १८५

एक अनीह अरूप अनामा । अज सच्चिदानंद परधामा ।
व्यापक विस्वरूप भगवाना तेहि धरि देह चरित कृत नाना ।[1]

अर्थात् जो परमात्मा एक, इच्छा एवं चेष्टा रहित, अभिव्यक्त रूप-रहित, अभिव्यक्त नाम रहित अजन्मा, सच्चिदानन्द स्वरूप सबसे परे धामवाला है वही देह धारण करके नाना चरित करता है । धामों की चर्चा में तुलसी ने पुराणों से क्षीरसागर और वैकुण्ठ का संदर्भ लिया है ।

चित्रकूट की महिमा का वर्णन करते हुए तुलसी ने कहा है कि उसकी महिमा किस प्रकार कही जाय वह तो अयोध्या और क्षीरसागर से भी अधिक सुन्दर हो रहा है ।[2] पय, पयोधि से तात्पर्य तुलसी का क्षीर-सागर से है । धाम के सन्दर्भ में जो महत्वपूर्ण शब्द आया है, वह वैकुण्ठ है । इसका दो अर्थों में प्रयोग है । एक तो स्वयं वैकुण्ठ धाम के अर्थ में, दूसरा राम भक्ति से साधक को जो प्राप्ति होती है वह सुख तथा साधक की वह अवस्था भी वैकुण्ठ के सदृश ही होती है । इसका प्रयोग मानस में सर्वत्र मिलता है । दशरथ को भी इस धाम की प्राप्ति में हर्ष होता है — दसरथ हरषि ~~गए~~ गयउ सुरधामा । यह सुरधाम ही वैकुण्ठ है, — ब्रह्मादि देव इसी में निवास करते हैं —

देवन्ह समाचार सब पाये । ब्रह्मादिक वैकुण्ठ सिधाये ।[3]

यह वही धाम है जहां अमृत का उपभोग करके देवता स्वच्छन्द रूप से विचरण करते हैं । सभी संत-भक्त इसी धाम की प्राप्ति करते हैं । साधना की चरम परिणति तथा भक्त की साधना का उद्देश्य भगवान राम के परम पद की प्राप्ति है, और वह परमपद यही वैकुण्ठ धाम है । जब भी राम अपने भक्त से

---

१. मानस०,बा०, ~~१८५~~ दोहा १३

२. पय पयोधि तजि अवध बिहाई । जहँ सिय लखन राम रहे आई ।
मानस अयो०, दोहा १३६
जड़ चेतन मग जीव घनेरे । जे चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ।
ते सब भए परम पद जोगू । भरत दरस मेटा भव रोगू । मानस अयो०,दो०२१७

३. मानस ,बाल०, दोहा ८८

प्रसन्न होते हैं उसे यही वरदान प्रदान करते हैं। इसके उदाहरण विभीषण तथा अन्य भक्त हैं।[1]–

विनयपत्रिका में कई स्थलों पर राम-धाम का वर्णन करते हुए तुलसी ने अपनी विनय के संदर्भ में वैकुण्ठवासी, क्षीराब्धिवासी, आदि धामों का उल्लेख किया है।

वेद विख्यात बरदेश, वामन, विरज, विमल, बागीस, बैकुण्ठवासी।
उरुगायक - सद्मन तरुन पंकज नयन क्षीरसागर अयन सर्ववासी।[2]

यत्र तिष्ठन्ति तत्रैव अज सर्व हरि सहित गच्छन्ति क्षीराब्धिवासी।[3]
इसके अतिरिक्त धाम के विषय में उन्होंने विश्राम धाम, निज धाम, धाम, हरिपुर, अपनो धर्म, अमरपुर, ममधाम, रामधाम, रघुपतिपुर, ब्रह्मपद तथा हरिधाम आदि शब्दों का प्रयोग किया है।[4] इन अनेकों धामों की चर्चा में राम ने स्वयं अपने प्रिय धाम की चर्चा करते हुए अपनी आसक्ति व्यक्त की है :–

जद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना। वेद पुरान विदित जग जाना।
अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ। यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ।[5]

सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा।

अवध के प्रति राम का सहज स्नेह होना बड़ा स्वाभाविक है। जन्मभूमि के प्रति लगाव प्रकट होता है। अयोध्या को स्वयं कवि ने भी सुख राशि तथा भगवान धाम प्राप्त कराने वाली कहा है। राम को स्वयं यह पुरी बैकुण्ठ से भी अधिक प्रिय है।

---

१. करेहु कल्पभरि राज तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं
 पुनि मम धाम पाइहहु, जहाँ संत सब जाहिं। मा० लंका० ११५

२. वि०प०, ५५

३. वि०प०, ५७

४. वि०प०पद – ४५, ७१, ६३, १२५, १३८, १५५, २०६, २१२, २१७,

५. मानस उत्तर०, दोहा ४

तुलसी ने कैवल्य प्राप्ति की चर्चा भी कई स्थलों पर किया है। यह कैवल्य क्या है ? विनय पत्रिका में तुलसी ने कैवल्य प्राप्ति को मोक्ष प्राप्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया है। वृत्रासुर, बलि, बाणासुर, प्रह्लाद, मय, व्याध, गजेन्द्र, जटायु, अजामिल, तथा चाण्डाल यवन आदि संतों के चरणोंदक से अपने समस्त पापों को धोकर मोक्षपद के अधिकारी हो गये। कैवल्य का अर्थ केवलता है, जहाँ आत्म-तत्त्व के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता अवशिष्ट नहीं रहती।"[१]

भक्तों का एक अलग दृष्टिकोण भी है। जहाँ उसका यह अटल विश्वास है कि "लाभ कि किछु हरि भगति समाना/जेहि गावहिं श्रुति वेद पुराना।[२] लंका-काण्ड में "सुनु मतिमंद लोक बैकुंठा। लाभ कि रघुपति भगत अकुंठा/[३] कह कर अपने मत की पुष्टि भी की है। तुलसी ने भक्ति के दो रूप प्रस्तुत किये हैं - एक तो भेदभक्ति जिसमें सालोक्य मुक्ति का सुख है। वहाँ भक्त रामधाम अथवा वैकुण्ठ को प्राप्त करता है, दूसरी अभेद भक्ति -ये भक्त रामके रूप में लीन हो जाना ही अपना अभीष्ट समझते हैं।[४] कुम्भकर्ण, रावण, जटायु, शबरी, तथा राम-रावण युद्ध में मारे गये सभी राक्षस अपनी भक्ति के अनुरूप धाम की प्राप्ति करते हैं। यहाँ तक कि रावण को भी तुलसी के राम "निजधाम" ही भेजते हैं। सभी राक्षस ब्रह्मपद की प्राप्ति करते हैं। शबरी भी सायुज्य भक्ति की ही अधिकारिणी बनती है।

आवश्यकतानुसार तुलसी ने वैकुण्ठ धाम, क्षीरसागर, कैवल्य आदि की चर्चा की है किन्तु अपनी मान्यता को अन्ततोगत्वा इस रूप में प्रस्तुत करते हैं -

पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई।
हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रकट होहिं मैं जाना।[५]

---

१. भक्त का विकास - डा० मुंशीराम शर्मा, पृष्ठ ७०७

२. मानस, उत्तर० ११२

३. मानस, लंका०, २६

४. मानस० अरण्य०, दोहा ६

५. मानस लंका०, दोहा १११

लीला :-

व्यापक बिस्व रूप भगवाना , तैहि धरि दैह चरित कृत नाना ।
सौ कैवल भगतन्ह हित लागी । परम कृपाल प्रणात अनुरागी ।

तुलसी-भक्ति मैं लीला का यही रहस्य प्रतीत हौता है । यहां पृथ्वी का भार हरनै कै लियै स्वयं परमात्मा परब्रह्म हौकर भी भक्त कै उद्धार हैतु मनुष्य रूप मैं प्रकट हौते हैं । तुलसी की अवतार भावना कै अन्तर्गत भी यह प्रभु की लीला का मुख्य उद्देश्य परिलक्षित हौता है । राम कै आदर्श चरित्र द्वारा उन्हौंनै भक्तौं कौ संतौष एवं आनंद की प्राप्ति कराई । नाम, रूप, गुण कौ व्याख्यायित करनै कै लियै ही तुलसी नै अवतार लीला का प्रयौजन किया है । उन्हौंनै भगवान कै चरित्र कौ लीला तथा उनकै अवतार कौ लीलावतार भी कहा है । तुलसी नै अपनै ब्रह्म कै सगुण-निर्गुण रूप का कई बार तथा कई प्रकार सै वर्णन किया है । भक्ति कै परिप्रैक्ष्य मैं जब उसका जौ रूप अपेक्षित हुआ उसै उन्हौंनै लै लिया । जौ ब्रह्म ज्ञान, वाणी तथा इन्द्रिय शक्ति सै परै है, अजन्मा है, मन, माया और गुणौं की सीमा सै अछूता है वही सत्, चित्, आनंद रूप ब्रह्म राम कै रूप मैं नर-लीला करता है ।[1] यौगी, विज्ञानी, वैरागी, सभी उसकी लीला मैं मग्न हैं । उसकै सौन्दर्य का पान करते नहीं थकतै । इस लीला का विस्तार पृथ्वी सै लैकर ब्रह्मलौक तक है । अलग-अलग क्षैत्रौं मैं इस अविरल विश्व व्यापिनी लीला की धारा भिन्न-भिन्न रूप मैं बही है । चाहै वह अयौध्या कै बालकौं द्वारा शुक सारिकाओं कौ राम नाम पढ़ानै मैं हौ, या रावण वध मैं|नारद कै मौहभंग मैं भी उनकी लीला का ही विस्तार है । जयन्त, दैवताओं का अभिमान, ~~मरूड़~~ गरुड़ तथा काकभुशुंडी का अभिमान—सभी मैं लीला तत्व की भावना ही अन्तर्निहित है । यह प्रश्न चिरन्तन है, परिणाम-स्वरूप भगवान् का पृथ्वी पर अवतार हौना तथा उनका अपनी शक्ति का विस्तार एवं प्रवृत्तियौं का समूल उन्मूलन करना ही उनकी लीला का कारण है ।

---

1. ग्यान गिरा गौतीत अज, माया मन गुन पार ।
   सौइ सच्चिदानन्द घन, कर नर चरित उदार । मानस , उ०, दौहा २५

उत्पत्ति, पालन एवं संहार ये तीनों क्रियाएं उस नियंता की विशेष लीलायें हैं। इनके लिये वह भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है। तुलसी के राम तो 'भगत हेतु लीला तनु गहई' अथवा 'धर्म हेतु अवतरेउ गोसाईं'[1] 'अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई', 'भगत हेतु नाना विधि करतऽ चरित्र अनूप' आदि प्रमुख कारणों से लीलावतार करते हैं। स्वयं तुलसी ने राम-जन्म के समय यह स्पष्ट कर दिया है कि भगवान् की यह लीला देवताओं के हित, भक्तों के प्रेम और पृथ्वी का भार हरण के लिए है। जो प्रभु व्यापक है, ब्रह्म है, निरंजन है, निर्गुन है और विगत-विनोद है, वही 'सो अज प्रेमभगति बस कौसल्या की गोद'।[2] सती का शंका-समाधान करते हुए शंकर जी ने स्पष्ट कर दिया है —

सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनुधरहीं।
राम जनम के हेतु अनेका। परम विचित्र एक ते एका।[3]

गिरिजा सुनहु राम के लीला। सुर हित दनुज बिमोहन सीला।[4]

अर्थात् रामचन्द्र की लीला देवताओं का हित और दैत्यों को विशेष मोहित करनेवाली है। सुर, भक्त, बुध, पंडित मुनि, सभी इस लीला से सुखी एवं संतुष्ट हैं।[5]

---

१. यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्। गी०।४।७
मानस कि०, दोहा ६

२. मानस-बा०, दोहा १९८

३. मानस बा०, दोहा १२२

४. मानस बा०, दो० ११३

५. रामदेखि सुनु चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे। मानस० अयो०, १२७
उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं विरति।
पावहिं मोह विमूढ़ जो हरि विमुख न धरम रति। मानस, अरण्य०, सो० १
असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी।
जब-जब राम मनुज तनु धरहीं। भक्त हेतु लीला बहु करहीं। मानस उ०, ७५

रामचरित मानस के बालकाण्ड में अवतार ग्रहण का विस्तृत विवेचन है जो कि 'रूप' के संदर्भ में विवेचित किया जा चुका है। राम की लीला के दो रूप हैं --एक निर्गुण रूप में दूसरा सगुण रूप में। निराकार रूप में भी राम लीला करते हैं इस तथ्य का स्पष्टीकरण तुलसी ने अपने मानस में किया है --

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु कर्म करै विधि नाना ।।
आनन रहित सकल रस भोगी । बिनु बानी बकता जड़ जोगी ।
..... असि सब भाँति अलौकिक करनी । महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ।।[१]

राम सदा स्वतन्त्र हैं। उनका सगुन रूप अधिक अग्राह्य है, बुद्धि, बल और बानी से परे है। तुलसी ने स्वयं कहा है कि राम का सगुण रूप कोई जान नहीं सकता।[२]

इस लीला का उद्देश्य असुरों का दमन सज्जनों का उद्धार तथा उनकी रक्षा करना है। इस सम्बन्ध में कई कथायें भी प्रचलित हैं। मनु शतरूपा का तप भी यही परिणाम लाता है। नारद का शाप और उसका परिणाम -- सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नर लीला।[३] रावण-वध, उसके अत्याचारों से पीड़ित पृथ्वी तथा सुरों के दुख को दूर करना। राम की इस लीला के सहयोगी पात्र हैं स्वयं राम और उनकी शक्ति। शक्ति से तात्पर्य प्रथम तो आदि शक्ति सीता से है जो सदैव उनके साथ रहती हैं और जो सृष्टि के उद्भव, स्थिति तथा संहार का कारण है, क्लेशहारिणी हैं, सर्वश्रेयस्करी हैं तथा प्रभु राम की प्रिया हैं।[४] दूसरे वे जो सगुण उपासक राम भक्त हैं। उदाहरण के लिए अंगद, हनुमान, जामवंत आदि।

---

१. मानस, बा०११८ उमा राम की भृकुटि विलासा। होइ बिस्व पुनि पावइ नासा
—मानस लंका०,दो० ३५(क)
१. नट इव कपट चरित करि नाना। सदा स्वतंत्र रामभगवाना।
—मानस,लंका०दो० ७३

२. निरगुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोय।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होय ।। मानस उ०,दो० ७३(ख)

३. अरण्य०,दोहा २४

४. उद्भवस्थिति संहारकारिणीम् क्लेश हारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ।। मानस,बाल०श्लोक - ५

यह कहा जा सकता है कि लीला का रहस्य, तर्क सभी कुछ आनंद की प्राप्ति कराना है। आनंद के लिए ही वह इस सृष्टि की रचना करता है और यह आनंद भक्त को उसकी लीला में प्राप्त होता है। वह अपने आराध्य से नाना प्रकार के सम्बन्धों का विस्तार करता है, केवल उसकी लीला में भाग लेने के लिये। और इसी माध्यम से वह उसमें अनुरक्त होकर असीम सुख तथा आनन्द का अनुभव करता है।

उपसंहार

उपसंहार

भक्तिसाहित्य में मध्यकालीन संत कवियों ने ब्रह्म की उपासना में नाम-साधना को जो विशिष्ट महत्व दिया है वह उनके अन्तर्जगत की सबसे सुलभ और प्रभावशालिनी साधना प्रणाली है। इसका एक विशेष कारण यह है कि नाम की अन्तर्भावना स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म में अधिक पर्यवसित होती है। महात्मा तुलसी ने तो राम से भी अधिक राम के नाम को महत्व दिया है। राम के व्यक्तित्व को समझने की क्षमता सामान्य साधक के पास नहीं है। जब ब्रह्म का अवतरण किसी व्यक्ति विशेष में होता है तो व्यक्तित्व की सीमा में वह असीम ब्रह्म किस प्रकार से अथवा कितने रूप में प्रकट हो सकता है यह एक रहस्यात्मक स्थिति है। यही कारण है कि सन्तों ने निर्गुण की अपेक्षा सगुण को समझने में कठिनाई अनुभव की है। असीम तो अपने रूप में एक रस और निर्विकार है किन्तु सीमा में बंधने पर उस असीम का निर्विकार रहते हुए भी किस भांति स्थानान्तरण होता है यह साधकों के लिए एक जटिल प्रश्न है। यही कारण है कि सगुणोपासना में भी अवतार के व्यक्तित्व से अधिक उसके नाम को महत्व दिया गया है क्योंकि नाम शाश्वत और एक रूप है। स्थिरता और सीमित होना भी उसका गुण है। यही कारण है कि वह साधक के द्वारा सरलता से ग्रहण किया जा सकता है। यह दूसरी बात है कि साधक अपनी आन्तरिक वृत्ति के अनुसार चाहे जिस नाम को ग्रहण करे तथा रागात्मक वृत्ति से परिचालित होकर उस नाम के माध्यम से चाहे जिस रूप और लीला की परिकल्पना करे।

भक्तिसाधना के क्षेत्र में ब्रह्म की अनुभूति के लिये अनेक साधन माने गये हैं। कर्म और उपासना की दिशा में जितने विस्तार से साधना की दिशाओं की विविधता लक्षित हुई है वह सामान्यत: परिस्थितियों और सम्भावनाओं पर आश्रित है। उस मार्ग में साधकों की निष्ठा ब्रह्म को केन्द्रबिन्दु बनाकर संयोजित की जाती है। किन्तु इन्द्रियों से अनुशासित मनहस कर्म एवं उपासना के क्षेत्र में किस सीमा तक स्थिर रह सकता है, यह चिन्त्य है। भक्तों ने मन को मदमत्त हाथी की संज्ञा दी है वह जिस और चला जाता है उसी ओर समस्त साधना चूर-चूर हो जाती है इसलिए

विविध कर्मकाण्डों की जटिलता में मन का स्थिर रहना सम्भव नहीं है और यह तो स्पष्ट ही है कि मन की एकाग्रता के बिना कोई भी साधना सिद्धि में परिणत नहीं होती । भक्त कवियों ने इसी अस्थिरता से मुक्ति पाने के लिये साधना के क्षेत्र में नाम का प्रतीक स्वीकार किया है । उनका अनुभव सिद्ध प्रमाण है कि नाम ही वह जंजीर है जिससे मन रूपी हाथी बाँधा जा सकता है । इस भाँति एकाग्रता को सहज रूप से अर्जित करने के लिये समस्त साधनाओं में नाम-साधना प्रमुख समझी गई । यह साधना दो रूपों से सिद्ध हो सकती है । पहला रूप बाह्य है , दूसरा रूप आन्तरिक है । इसे विकास के दो सोपान समझकर साधकों ने एकाग्रता पर अधिकार पाने का प्रयत्न किया है । इस पर कुछ विस्तार से विचार किया जा सकता है ।

नाम-साधना की एक दीर्घकालीन परम्परा है । वेदों में भी नाम परमतत्व के द्योतनार्थ प्रयुक्त किये गये हैं और उसी वैदिक परम्परा के अन्तर्गत पुराण तथा उपनिषद् आदि की परम्परा भी समन्वित है । पुराणों में तो भगवान् के नाम-जप पर विस्तृत विवेचन है । भागवत में कहा गया है कि भगवान् के गुण,लीला और स्वरूप में रम जाने का एकमात्र सुलभ साधन नाम-भक्ति है । यह साधना अन्तरानुभूति तथा विश्वास पर आधारित है । प्रत्येक जीव के भीतर वह तत्त्व उपस्थित है जो अनंत शक्ति, ज्ञान और आनंद का स्रोत है । इसके साक्षात्कार हेतु साधक अनेक प्रकार की उपासना एवं साधना पद्धतियों का अवलम्बन ग्रहण करता है । मध्यकालीन भक्त-कवियों ने अपने इष्ट को प्रेम का प्रतीक मानते हुए विविध नामों से स्मरण किया है । इसके दो विशेष कारण है । पहला कारण तो यह है कि वे नाम-साधना को ही भक्ति भावना का आधार मानते हैं और दूसरे भक्ति के परिवेश को अधिक से अधिक व्यापक बनाने के लिए वे अपने इष्ट के विविध नामों का भी प्रयोग करते हैं । किन्तु इस संदर्भ में यह विचारणीय है कि किसी भक्त विशेष ने अपने इष्ट के किस रूप को शोभा और लीला के आधार पर अधिक से अधिक प्रमुखता प्रदान की है । इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि किन मानसिक परिस्थितियों में इष्टदेव के किस रूप की वांछा द्वारा कवि के हृदय में विरह और मिलन के मनोभावों में इष्ट के नामों में परिवर्तन हो सकता है और उसमें विविधता आ सकती है । सख्य,दास्य अथवा माधुर्य के दृष्टि-कोणों से भी इष्ट के नामों में परिवर्तन हो सकता है। इसीप्रकार आत्मग्लानि, आत्मप्रतारणा तथा दैन्य में अपनी रक्षा हेतु नामों में परिवर्तन हो सकता है । यही

कारण है कि किसी भक्त कवि ने अपने प्रभु या इष्ट के नामों में इतनी विविधता रखी है। इसके लिए केवल एक ही आधार हो सकता है कि कोई भक्त कवि कितनी बार किस नाम के माध्यम से अपने आराध्य का स्मरण करता है। उदाहरणार्थ कबीर और तुलसी ने अपने आराध्य को अनेकानेक नामों से स्मरण किया है । किन्तु नाम के आवर्तन की दृष्टि से राम-नाम ही सर्वोपरि निर्दिष्ट किया गया है। इसी प्रकार सूर में दो नाम विशेष रूप से कवि की आस्था के प्रतीक हैं श्याम और हरि। मीरा के पदों में गिरधर-नागर या गिरधर-गोपाल ही उनकी भावनात्मक अभिव्यक्ति के आधार हैं।

इस भाँति यह देखा जा सकता है कि नाम-साधना में भक्त की अभिव्यक्तियाँ विविध नामों को लेकर उद्भूत होती हैं और इनसे वह संकेत मिलता है कि किसी विशिष्ट साधक का अपने इष्ट या आराध्य के प्रति भक्ति के किस पार्श्व का दृष्टि-कोण प्रमुख हो गया है। यदि गहराई से देखा जाय तो सम्प्रदायों के ये रूप भी नाम का आश्रय लेकर अपनी विशिष्ट रूप रेखा का निर्धारण करते हैं। इस प्रकार यह ज्ञातव्य है कि मध्यकालीन भक्तिसाधना में नाम का आश्रय अपनाअलग महत्त्व रखता है।

राम-भक्ति तथा कृष्ण-भक्ति सभी सम्प्रदायों में भगवन्नाम स्मरण अथवा नाम-साधना से तात्पर्य भगवान् के उन नामों से है जिनसे उनकी सर्वोपरिता प्रकट होती है।यद्यपि वह परमसत्ता है, सर्वात्मा है, सर्वशब्द वाच्य है, तथापि नाम-साधना में भगवान् के उन नामों का विशेष महत्त्व हैं जो उनके रूप, गुण,लीला तथा धाम आदि के परिचायक हैं। इनके अतिरिक्त कुछ नाम केवल आत्मानुभूति तथा आत्मसमर्पण के आधार पर दिये गये हैं किन्तु सभी नामों का सम्बन्ध उसी एक परमसत्ता से है। नाम की वास्तविक अर्थ व्याप्ति वहीं मानी जा सकती है जब साधक के हृदय में उसके प्रति अपार श्रद्धा, प्रेम तथा विश्वास उत्पन्न हो।

नाम-जप साधना की यह प्रक्रिया है जहाँ चित्त एकाग्रहोकर रूपमय हो जाय, लीला में तल्लीन हो जाय अथवा चित्त की गति एकाग्र होकर उसी नाम में लीन हो जाय। साधक साध्य के प्रति आसक्त हो जाय।

नाम के महत्त्व का निरूपण करते हुए अनेक संतों का दृष्टिकोण यह भी है

कि अनुराग या आसक्ति को हृदय में स्थान देने के पूर्व किसी भी प्रकार से नाम-स्मरण किया जा सकता है । चाहे भाव से हो, या कुभाव से हो , झुंझलाहट से हो या आलस्य से हो । क्योंकि उनकी धारणा है कि आरम्भ में भले ही आस्था और विश्वास न हो किन्तु नाम का बार-बार स्मरण करने से अन्तत: विश्वास और अनुराग की प्रवृत्ति जागरित हुए बिना नहीं रहेगी । उनका मन्तव्य कालान्तर में उत्पन्न होने वाले विश्वास और अनुराग से ही है और जिन भावों से नाम-करण किया जाता है वह आराध्य के प्रति आकृष्ट होने का प्रथम सोपान है । जिन नामों के स्मरण पर आग्रह है वे नाम वस्तुत: आराध्य की सर्वव्यापकता या कष्टों को दूर करने की क्षमता रखने वाले ही हैं + निर्धारित किये जाते हैं । ऐसी स्थिति में नाम का स्मरण जपयोग की भूमिका है और नामों की आवृत्ति मनोवैज्ञानिक रूप से हृदय की प्रेरणा को उद्‌बोधित करने की एक प्रक्रिया मात्र है । इस संदर्भ में संत कबीर और संत तुलसी की नाम-साधना पर विचार किया जा सकता है ।

संत कबीर ने राम को निर्गुण ब्रह्म का प्रतीक माना है जहाँ तुलसी ने राम को सगुण ब्रह्म का पर्याय समझा है । कबीर की दृष्टि में ब्रह्म को किसी भी सीमा में नहीं बाँधा जा सकता और वह प्रकृति के समस्त उपादानों और गुणों से परे हैं इसीलिये ब्रह्म किसी विशिष्ट लीला के अन्तर्गत नहीं है जिस प्रकार वायु, आकाश, अग्नि ,जल और पृथ्वी की कोई लीला नहीं है वह केवल रूप मात्र है जो सर्वत्र है और इस प्रकृति के समस्त गुणों का समुच्चय ही ब्रह्म है इसलिये कबीर के राम में केवल व रूप तत्त्व है और उसी से ब्रह्म का संकेत प्राप्त होता है अन्यथा प्रकृति से परे होने पर उनका 'राम' रूप से अपना संकेत देता हुआ भी रूप से परे है क्योंकि वह केवल अनुभव-गम्य है कबीर ने लिखा -" पार ब्रह्म के रूप का कैसा है उनमान कहिबे की सोभा नहीं देखे ही परवान ," इसलिये उनका राम पुष्प की सुगन्धि से भी सूक्ष्म है , आकाश की नीलिमा से भी परे है , जल की तरलता के अन्तर्गत है और इसलिये राम केवल अनु-भूति परक नाम है, किसी लीलाधाम से सम्बद्ध नहीं है । इस नाम की अनुभूति उस असीम क्षेत्र में भक्त को ले जाती है जिसमें उसकी व्यक्तिगत सत्ता समाप्त होकर ब्रह्म की सत्ता में लीन हो जाती है । " ज्यों जल में जल पैसि न निकसै यूं धुरि मिला जुलाहा ।"

दूसरी ओर तुलसीदास का राम सगुण रूप का अभिधान होकर भी निर्गुण

रूप की ओर उन्मुख हो जाता है। जिस प्रकार धनुष पर रखा हुआ बाण धनुष पर रहने के बाद किसी दिशा में एक विशिष्ट लक्ष्य पर पहुंचता है। ऐसा लगता है कि तुलसी का 'राम' एक श्लिष्ट शब्द है जो अपने में सगुण और निर्गुण दोनों दोनों की अभिव्यक्तियाँ समाहित किये हुए है। जहाँ कबीर को अनुराग और आस्था के लिये कोई केन्द्र प्राप्त नहीं हुआ वहाँ तुलसी को राम के रूप और लीला में एक विशिष्ट अनुपम लक्ष्य प्राप्त हो गया और उस चरित के आधार पर उन्होंने विश्वास की अक्षय निधि प्राप्त कर ली। तुलसी ने लिखा है — करुणा सुखसागर सब गुण आगर जेहि गावहिं श्रुति संता। सो मम हित लागी जन अनुरागी प्रकट भयेउ श्रीकंता।" निर्गुण और सगुण ब्रह्म इसी केन्द्रबिन्दु पर आकर एक हो जाते हैं क्योंकि "मम........ अनुरागी" में श्रद्धा और विश्वास का केन्द्र है।

कबीर का नाम उस परमसत्ता के तेज का द्योतक है जो अचिन्त्य है। "अहर्निस एक नाम जो जागै" का सिद्धान्त कबीर को स्वीकार है। कबीर का सिद्धान्त उनके पदों में स्पष्ट है। उनका विश्वास है कि राम का नाम लेने में भी एक रहस्य है और उस रहस्य में एक यही विचार होना चाहिए कि क्या जीव या सहज साधक उसी राम-नाम का उच्चारण करते हैं जो इस समस्त कौतुकमयी सृष्टि की संरचना करने वाला सर्वशक्तिमान ब्रह्म है? अथवा उस राम-नाम की साधना करते हैं जो दशरथ पुत्र है। कबीर ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि राम-नाम का उच्चारण तो सभी करते हैं किन्तु उसमें विवेक की आवश्यकता है। कबीर का राम-नाम उसी 'एक' का परिचायक है जो 'अनेक' में व्याप्त होकर फिर अपने एक रूप में लीन हो गया। कबीर-साहित्य का अध्ययन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि राम-नाम जप केवल मुख से उच्चरित होकर सार्थक नहीं होता। सुमिरन और जप में अन्तर है यह बात द्रष्टव्य है। सुमिरन में नाम और नामी के गुण, रूप, लीला आदि का स्मरण है। संतों ने तो सच्चा सुमिरन वह माना है जिसमें प्राण, श्वास, सुरति, सभी 'राम' की ओर अभिमुख हो जायें। बाह्य विषयों की ओर ले जाने वाले सभी साधन जब अन्तर्मुख हो जाते हैं, जहाँ साधक को अस्ति-नास्ति, भाव-अभाव, है-नहीं का भेद नहीं रह जाता। वहाँ मन्त्र और ध्येय अथवा नाम तथा नामी 'एकमेव' हो जाता है। मन का संयोग उसके साथ ही अपेक्षित है तभी वह आदि मध्य और अन्त में एक रस होकर साधक को उसके अभीष्ट की प्राप्ति कराता है।

संतों ने यद्यपि परमसत्ता के उद्बोधक अगणित नामों का प्रसंगानुसार स्मरण किया है तथापि "राम" नाम उन्हें विशेष प्रिय था। इसका मूल उत्स रामानन्द की भक्ति भावना में प्राप्त होता है। नामदेव एवं ज्ञानेश्वर की विट्ठल तथा पांडुरंग की आसक्ति भावना अथवा प्रवृत्ति, उत्तर में राम और कृष्ण-नाम में परिवर्तित हो गई। पिछले अध्यायों में इस विषय पर पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है। नाम-साधना का प्रत्यक्ष सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय अथवा धर्म या वर्ग विशेष से नहीं जोड़ा जा सकता। उसका कारण है कि यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो मध्यकालीन सगुण-निर्गुण दोनों प्रकार के भक्तों की रचनाओं में उपलब्ध हो जाती हैं। सगुणमार्गी साधकों में रामभक्ति तथा कृष्ण-भक्ति से सम्बन्धित दो सम्प्रदाय हो जाते हैं।

कृष्ण मार्ग के अनुयायी साधक नाम के साथ रूप का नित्य सम्बन्ध मानते हैं। सूर के कृष्ण में तो नाम से अधिक रूप और लीला का संयोजन है। कृष्ण का नाम प्राकृत न होकर चिन्मय है, तथा भक्ति के अन्तर्गत नाम में चित् व आनंद की अभिव्यक्ति नाम-साधना द्वारा मानी गई है। सूर की साधना पद्धति में प्रेम को ही साधना की परिपक्वावस्था माना गया है। भावना का उदय, रूप के साक्षात्कार से होता है। सूर, भाव द्वारा इष्टदेव का अन्वेषण मानते हैं। भाव की ही विकासावस्था प्रेम कहलाती है। यह प्रेम जब रस की संज्ञा ग्रहण करता है तभी सूर साधना को सफल मानते हैं। यही सिद्धावस्था है। यहां साधना छूट जाती है। शुद्ध भावदेह प्राप्त हो जाती है और साधक "हरिलीलाधाम" में प्रवेश करता है। उसे मुक्ति की अपेक्षा नहीं होती। लीला का उद्देश्य ही आनंद की सृष्टि है। सूर के अनुसार ज्ञानमार्गी तो अक्षर ब्रह्म तक पहुंच पाते हैं, किन्तु साधक श्रीकृष्ण की आनंदमयी लीला में प्रवेश कर उनका सान्निध्य प्राप्त करके मुक्ति से भी अधिक आनंद का अनुभव करता है। कृष्ण-भक्ति मार्गी सम्प्रदायों में ऐसा विश्वास मिलता है कि प्रथम तो श्रीकृष्ण का दर्शन होता है, तत्पश्चात् नाम स्फुरित होता है। यहां नाम और नामी की एकता ही नाम-जप की विशेषता है। श्रीकृष्ण का "वेणु-नाद" इसी "नाम" का प्रतीक है। कृष्ण लीला में प्रारम्भ से अन्ततक मुरली की लोक व्यापी रहस्यमयी ध्वनि वर्तमान रहती है। सूर की भक्ति में श्रवण-कीर्तन और स्मरण हरिलीला से सम्बद्ध होकर भगवान् श्रीकृष्ण की नाम-लीला परक

क्रियायें बन गए हैं। सूर की भक्ति में आध्यात्मिकता के साथ लौकिकता का अभूत-पूर्व सामंजस्य है। उनकी साधना में जीवन के प्रति रागात्मकता है उनमें कृष्ण नाम-रूपधारी होने के साथ ही घर-घर , आंगन-आंगन में लीला करते हैं।

पुष्टिमार्ग के अतिरिक्त अन्य कृष्णमार्गी सम्प्रदाय कर्मकाण्ड एवं पूजा, उपचार को महत्वदेकर कृष्ण को ही आराध्य मानकर विभाजित हो गए। नाम की साधना केवल दो सम्प्रदायों में विशेष मान्य रही। चैतन्य और पुष्टिमार्ग। शेष सम्प्रदायों में रूप, गुण, लीला पर विशेष ध्यान दिया गया। इन लीलाओं के साथ कृष्ण-स्वरूपोपासना में कर्मकाण्ड एवं आचार का विशेष महत्व रहा, नाम का नहीं।

साधना के विविध उपकरण के साथ मध्यकालीन गतिविधियों पर महत्व-पूर्ण विवेचन प्रस्तुत करने पर नाम की सर्वोपरिता का आभास होता है। भक्ति-साहित्य के संदर्भ में नाम-साधना का विवेचनात्मक अध्ययन करते समय कुछ महत्वपूर्ण पक्ष उद्घाटित हुए हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं :-

नाम सगुण-निर्गुण का सेतु है।

नाम द्वारा, परमसत्ता के प्रति मन में उत्पन्न जिज्ञासा को शान्तिमिलती है।

ब्रह्म की विशेषता को संज्ञा मिलती है।

नाम आत्मगत रूप का वस्तुगत सहायक है।

स्रष्टा के विविध रूप होने के कारण वह अपनी व्याख्या में स्वयं सक्षम नहीं है अतएव वह 'नाम' के प्रतीक का आश्रय ग्रहण करता है।

सगुण अथवा निर्गुण सम्पूर्ण 'सत्ता' का पर्याय नहीं माना जा सकता। अतएव यह विशेषण भी सीमित होकर रह जाता है। ऐसी स्थिति में 'नाम' की महत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

ब्रह्म का सगुण रूप नाम की तुलना में छोटा पड़ता है क्योंकि सगुण-रूप कथा में सीमित होकर चलता है किन्तु राम 'नाम' प्रतीक बनने पर व्यापक रूप हो जाता है।

'नाम' की प्रतीकात्मकता, बोध एवं प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करती है।

रूप का खण्डन होने पर संतों ने नाम की महत्ता स्वीकार की किन्तु सगुण मार्गी-साधकों ने भी नाम को रूप के समकक्ष ही स्वीकार किया।

'नाम-जप' की प्रक्रिया बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होती है।

'नाम' की स्थिति शब्दार्थमूलक है, अर्थात् सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों है।

सभी सम्प्रदाय के अनुयायियों ने नाम-साधना के संदर्भ में राम'नाम' को विशेष महत्त्व प्रदान किया।

सगुणवादियों ने 'नाम' की अर्थव्याप्ति बढ़ा दी।

जिसका साक्षात्कार सम्भव न हो उसका कोई प्रतीक, कोई प्रतिनिधि कोई मूर्ति या कोई अंग स्थिर कर लेना पड़ता है और उसी की पूजा, से उपास्य की उपासना करनी पड़ती है।

कर्म-क्षेत्र में नामों की संख्या विपुल है।

'नाम' ने उस समस्त शास्त्रीय पद्धति का प्रतिनिधित्व किया जो आचार्यों द्वारा प्रवर्तित थी।

ईश्वर के अनेक'नाम' हैं भेद नहीं। नामों की विपुलता इसलिये है कि ईश्वर की विभूतियां विपुल हैं और संसार का प्रत्येक 'नाम' उसकी अभिव्यक्ति के लिए अपर्याप्त है।

अनुभूति जिस क्षण जो 'नाम' ग्रहण करे उसके अनुसार'नाम' सार्थक है। ब्रह्म के अखिल होने के कारण उसे सीमित नहीं किया जा सकता। उसकी अनेकरूपता में अभिव्यक्ति की मानसिक प्रक्रिया विशिष्ट नामों की ओर संकेत करती है।

ब्रह्म के सगुण-निर्गुण स्वरूप को व्यंजित अथवा रूपायित करने का एक मात्र साधन 'नाम' है।

भारतीय भक्ति-परम्परा का एक सिंहावलोकन यह स्पष्ट कर देता है कि तत्त्वचिन्तन और परमतत्त्व की प्राप्ति के मार्ग में वैदिक और अवैदिक दोनों ही शाखाओं ने नाम-साधना, नाम-जप और उपासना के महत्त्व को स्वीकार किया। सम्प्रदाय भेद से उपासना की उपादेयता के प्रश्न पर मतभेद भले ही रहा हो किन्तु परमतत्त्व की प्राप्ति में उपासना को साधन के रूप में स्वीकार करने में कोई मतभेद नहीं दीख पड़ता। कर्म के सारे व्यावहारिक रूप में नाम की महत्ता और उपासना के आश्रय के सम्बन्ध में विभिन्न सम्प्रदायों की दृष्टि को हमने अपने प्रबंध में यथोचित रूप में विवेचित किया है। नाम और उपासना के महत्त्व का ठीक-ठीक निर्धारण होने पर ही सारे भारतवर्ष के मध्यकालीन साहित्य का समुचित मूल्यांकन सम्भव है। वस्तुत: मध्यकालीन भारतीय संस्कृति का स्वरूप ठीक-ठीक जानने के

लिए और समग्र संत साहित्य के भारतीय जीवन पर प्रभाव को आंकने के लिए भी नाम-साधना की परम्परा के उत्स और विकास को समुचित परिप्रेक्ष्य में समझना आवश्यक है। भारतीय तत्त्व-चिंतन, धार्मिक इतिहास और संस्कृति का अध्येता नाम-साधना के भारतीय जीवन में प्रवेश और प्रभाव को देखकर विस्मित हुए बिना नहीं रह सकता। न केवल मध्यकालीन भारतीय धर्म और तत्त्व-चिंतन अपितु, सम-सामयिक भारतीय धर्म भी अपने सारे व्यावहारिक रूप में नाम-साधना के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। मीमांसा के द्वारा प्रतिपादित धर्म का कर्मपरक स्वरूप, वेद द्वारा विहित यागादि का अनुष्ठान 'तवत' से परिवर्तित होकर किस प्रकार नाम-चिन्तन, नामस्मरण और नामकीर्तन आदि के रूप में विकसित होता है यह सब नाम-साधना के इतिहास को देखने से स्पष्ट हो जाता है। इस शोध-प्रबन्ध में इन दृष्टियों से नाम-साधना के विकास और स्वरूप का अनुशीलन किया गया है।

आज का धर्म तुलसी और चैतन्य द्वारा निर्दिष्ट धर्म है। धर्म का रूप भक्ति में सम्पृक्त हो गया है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि वह नाम और रूप में समाहित हो गया है।

निष्कर्षत: नाम-जप की प्रक्रिया वह आध्यात्मिक व्यायाम है जो हमारी इन्द्रियों को परमतत्त्व की खोज में प्रवृत्त करता है, ईश्वर के प्रति प्रेम, प्रीति तथा विश्वास की भावना को परिपुष्ट करता है तथा हमारी इच्छा शक्ति का विकास सही दिशा में करने में सहायक होता है। नाम-साधना केवल बाह्य क्रिया नहीं वरन् अन्त:करण की परिशुद्धि का साधन है।

परिशिष्ट - १

कबीर

रांम नांम सूं दिल मिली, जन हम पड़ी बिराइ ।
मोंहि भरोसा इष्ट का, बंदा नरकि न जाइ ।।११।।

उपदेश कौ अंग

कबीर हरि कै नांव सूं, प्रीति रहै इकतार ।
तौ मुख तैं मोती झड़ैं, हीरे अंत न पार ।।८।।

बैसास कौ अंग

रांम नांम करि बोहड़ा, बांही बीज अघाइ ।
अंति कालि सूका पड़ैं, तौ निरफल कदे न जाइ ।।४।।

पांहल पंजर मन भवर, अरथ अनूपम बास ।
रांम नांम सींच्या अंमी, फल लागा बैसास ।।१६।।

सबद कौ अंग

कबीर सबद सरीर मैं, बिनि गुण बाजै तंति ।
बाहरि भीतरि भरि रह्या, तांथै छूटि भरंति ।।१।।

काल कौ अंग

ऊंचा मंदर धौलहर, मांटी चित्री पौलि ।
एक रांम, के नांव बिन, जंम पाड़ैगा रौलि ।।१८।।

कस्तूरिया मृग कौ अंग

रांम नांम तिहूं लोक मैं, सकलहु रह्या भरपूरि ।
यहु चतुराई जाहु जलि, खोजत डोलैं दूरि ।।८।।

निंद्या कौ अंग

लोग बिचारा नींदई, जिन्ह न पाया ग्यांन ।
रांम नांव राता रहै, तिनहुं न भावै आंन ।।१।।

रांम नांम लिखि लिया शरीर ।।टेक।।
जबलग भरौं नली का बेह, तब लग टूटै रांम सनेह ।।
ठाढ़ी रोवै कबीर की माइ, ए लरिका क्यूं जीवैं खुदाइ ।
कहै कबीर सुनहुं री माई, पूरणहारा त्रिभुवन राई ।।२१।।

तूं राम न जपहि अभागी ।।टेक।।
बेद पुरान पढ़त अस पांडे, खर चंदन जैसें भारा ।
राम नाम तत समझत नांही, अंति पड़ै मुखि छारा ।।
बेद पढ्यां का यहु फल पांडे, सब घटि देखै रांमां ।
जन्म मरन थैं तौ तूं छूटै, सुफल हूंहि सब कांमां ।।
जीव बधत अरु धरम कहत हौ, अधरम कहां है भाई ।
आपन तौ मुनिजन ह्वै बैठे, का सनि कहौं कसाई ।।
नारद कहै ब्यास यौं भाषैं, सुखदेव पूछौ जाई ।
कहै कबीर कुमति तब छूटै, जे रहौ रांम ल्यौं लाई ।।३६।।

चितावणी कौ अंग

जिनकै नौबति बाजती, मैंगल बंधते बारि ।
एकै हरि के नांव बिन, गए जन्म सब हारि ।। २ ।।

कबीर इस संसार मैं, घणौ मनिष मतिहीण ।
राम नाम जांणौं नहीं, आये टौपा दीन ।।२४।।

हरि औसरि चेत्या नहीं, पसु ज्यूं पाली देह ।
राम नाम जाण्या नहीं, अंति पड़ी मुख षेह ।।३०।।

राम नाम जाण्यौ नहीं, लागी मोटी षौड़ि ।
काया हांडी काठ की, ना ऊं चढ़ै बहोड़ि ।।३१।।

राम नाम जाण्यां नहीं, बात बिनंठी मूलि ।
हरत इहां ही हारिया, परति पड़ी मुखि धूलि ।।३२।।

काल कौ अंग

ऊंचा मंदर धौलहर, मांटी चित्री पौलि ।
एक रांम, कै नांव बिन, जंम पाड़ैगा रौलि ।।१८।।

चितावणी कौ अंग

राम नाम जाण्यौं नहीं, पल्यौ कटक कुटुंब ।
धंधाही मैं मरि गया, बाहर हुई न बंब ।।३३ ।।

उजल कपड़ा पहरि करि, पान सुपारी खांहि ।
एकैहरि कौ नांव बिन, बांधे जमपुरि जांहि ।।५५।।

भेष कौ अंग

मूंड मुंडावत दिन गए, अजहूं न मिलिया राम ।
राम नांम कहु क्या करैं जे मन के औरैं कांम ।।१४।।

बिचार कौ अंग

रांमं नामं सब को कहै, कहिबै बहुत बिचार ।
सोई रांम सती कहै, सोई कौतिग हार ।।१।।

उपदेश कौ अंग

कबीर हरि के नांव सूं, प्रीति रहै इकतार ।
तौ मुख तैं मोती झड़ैं, हीरे अंत न पार ।।८।।

कस्तूरिया मृग कौ अंग

रांम नांम तिहूं लोक मैं, सकलहु रह्या भरपूरि ।
यहु चतुराई जाहु जलि, खोजत डोलैं दूरि ।।८।।

चलौ बिचारी रहौ संभारी, कहता हूं ज पुकारी ।
रांम नांम अंतर गति नाहीं, तौ जनम जुवा ज्यूं हारी ।।टेक।।
मूंड़ मुड़ाइ फूलि का बैठे, कांननि पहरि मंजूसा ।
बाहरि देह षेह लपटांनीं, भीतरि तौ घर मूसा ।।

गालिब नगरी गांव बसाया, हांम कांम हंकारी ।
घालि रसरिया जब जंम खैंचे, तब का पति रहै तुम्हारी ।।
छांड़ि कपूर गांठि बिष बांध्यौ, मूल हुवा ना लाहा ।
मेरे रांम की अभै पद नगरी, कहै कबीर जुलाहा ।।१३४।।

मेरी जिभ्या बिस्न नैन नारांइन, हिरदै जपौं गोबिंदा ।
जंम दुवार जब लेख मांग्या, तब का कहिसि मुकुंदा ।।टेक।।
तूं ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा, चीन्हि न मोर गियाना ।
तैं सब मांगे भूपति राजा, मोरे रांम धियाना ।।
पूरब जनम हम ब्रांम्हन होते, बोछे करम तप हीनां ।
रांमदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्हां ।।
नौमी नेम दसमीं करि संजम, एकादसी जागरणां ।
द्वादसी दांन पुनि की बेलां, सर्व पाप छयौ करणां ।।
भौ बूड़त कछू उपाइ करीजै, ज्यूं तिरि लंघै तीरा ।
रांम नांम लिखि भेरा बांधौ, कहै उपदेस कबीरा ।।२५०।।

हरि कौ नांव न लेइ गंवारा क्या सोचै बारंबारा ।।टेक।।
पंच चोर गढ मंझा, गढ लूटै दिवस र संझा ।।
जौ गढपति मुहकमहोई, तौ लूटि न सकै कोई ।।
अंधियारै दीपक चहिए, तब बस्त अगोचर लहिये ।।
जब बस्त अगोचर पाई, तब दीपक रह्या समाई ।।
जौ दरसन देख्या चहिये, तौ दरपन मंजत रहिये ।।
जब दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई ।।
का पढ़िये का गुनियें, का बेद पुराना सुनियें ।।
पढ़े गुने मति होई, मैं सहजैं पाया सोई ।।
कहै कबीर मैं जानां, मैं जांना मन पतियानां ।।
पतियानौं जौ न पतीजै, तौ अंधै कूं का कीजै ।।२६२।।

राम राइ तूं ऐसा अनभुत अनूपम, तेरी अनभै थैं निस्तरिये ।
जे तुम्ह कृपा करौ जगजीवन, तौ कतहूं न भूलि न परिये ।।टेक ।।
हरि पद दुरलभ अगम अगोचर, कथिया गुर गमि बिचारा ।
जा कारनि हम ढूंढत फिरते, आथि भरयौ संसारा ।।
प्रगटी जोति कपाट खोलि दिये, दगधे जंम दुख द्वारा ।
प्रकटे बिस्वनाथ जगजीवन, मैं पाये करत बिचारा ।।
देखत एक अनेक भाव है, लेखत जात अजाती ।
बिह कौ देव तजि ढूंढत फिरते, मंडप पूजा पाती ।।
कहै कबीर करुणामय किया, देरा गलियां बहु बिस्तारा ।
रांम कै नांव परंम पद पाया, छूटै बिघन बिकारा ।।२६७ ।।

रांम राइ हरि सेवा भल मानै, जे कोई रांम नांम तत जांनै ।। टेक ।।
रे नर कहा पखालै क्या, सो तन चीन्हि जहां थैं आया ।।
कहा बिभूति जटा पट बांधैं, का जल पैसि हुतासन सांधै ।।
र रांम मां दोइ आखिर सारा, कहै कबीर तिहुं लोक पियारा ।।२७६।।

मन रे रांम सुमिरि, रांम सुमिरि, रांम सुमिरि भाई ।
रांम नांम सुमिरन बिनैं, बूड़त है अधिकाई ।। टेक ।।

दारा सुत ग्रेह नेह, संपति अधिकाई ।
यामैं कछु नांहि तेरौ, काल अवधि आई ।।
अजामेल गज गनिका, पतित क्रम कीन्हां ।
तेऊ उतरि पारि गये, रांम नांम लीन्हा, ।।
स्वांन सूकर काग कीन्हौं, तऊ लाज न आई ।
रांम नांम अंमृत छाड़ि, काहे विष खाई ।।
तजि भरम करम विधि नखेद, रांम नांम लेही ।
जन कबीर गुर प्रसादि, रांम करि सनेही ।।३२०।।

नहीं छाडौ बाबा रांम नांम,

मोहि और पढ़न सूं कौन काम ।। टेक ।।

प्रह्लाद पधारे पढ़न साल, संग सखा लीयें बहुत बाल ।।
मोहि कहा पढ़ावै आल जाल, मेरी पाटी मैं लिखि दे श्रीगोपाल ।।
तब संनां मुरकां कह्यौ जाइ, प्रहिलाद बंधायौ बेगि आइ ।।
तूं राम कहन की छाड़ि बांनि, बेगि छुड़ाऊं मेरौ कह्यौ मांनि ।।
मोहि कहा डरावै बार बार, जिनि जल थल गिर कौ कियौ प्रहार ।।
बांधि मारि भावै देह जारि, जे हूं रांम छाड़ौं तौ मेरे गुरहि गारि ।।
तब काढ़ि खड़ग कोप्यौ रिसाइ, तोहि राखनहारौ मोहि बताइ ।।
खंभा मैं प्रगट्यौ गिलारि, हरनाकस मारयौ नख बिदारि ।।
महापुरुष देवाधिदेव, नरस्यंघ प्रकट कियौ भगति भेव ।।
कहै कबीर कोई लहै न पार, प्रहिलाद उबारयौ अनेक बार ।।३७६।।

सूरदास

सब तजि भजिये नंद कुमार ।
और भजे तें काम सरै नहिं, मिटै न भव-जंजार ।
जिहि जिहि जोरि जन्मधारयौ, बहुत जोरयौ अघ कौ भार ।
तिहिं काटन कौं समरथ हरि कौ तीछन नाम-कुठार ।
वेद, पुरान, भागवत, गीता, सब कौ यह मत सार ।
भव-समुद्र हरि-पद-नौका बिनु कोउ न उतारै पार ।
यह जिय जानि, इहीं छिन भजि, दिन बीतै जात असार ।
सूर पाई यह 'समौ' लाहु लहि, दुर्लभ फिरि संसार । (पद६८)

क्यौं तू गोविंद नाम बिसारौ ?
अजहूँ चेति, भजन करि हरि कौ, काल फिरति सिर ऊपर भारौ ।
धन सुत-दारा काम न आवै जिनहि लागि आपुनपौ हारौ ।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु, चल्यौ पछिताइ, नयन जल ढारौ ।। (पद८०)

को को न तरयौ हरि-नाम लियैं ।
सुवा पढ़ावत गनिका तारी, व्याध तरयौ सर-घात कियैं ।
अंतरदाह जु मिटयौ व्यास कौ इकचित ह्वै भागवत कियैं ।
प्रभु तजन, जन तैं प्रभु बरतत, जाकी जैसी प्रीति हियैं ।
जौ पै राम-भक्ति नहिं जानी, कह सुमेरु सम दान दियैं ?
सूरजदास बिमुख जो हरि तैं, कहा भयौ जुग कोटि जियैं ।।८६।।

अद्भुत राम नाम के अंक ।
धर्म-अंकुर के पावन द्वै दल, मुक्ति बधू ताटंक ।
मुनि-मन हंस-पच्छ-जुग, जाकै बल उड़ि ऊरध जात ।
जनम मरन काटन कौं कर्तरि तीछन बहु बिख्यात ।
अंधकार-अज्ञान हरन कौं रबि ससि जुगल प्रकास ।
बासर-निसि दोउ करैं प्रकासित महा कुमग अनयास ।

दुहूं लोक सुखकरन, हरनदुख, वेद-पुराननि साखि ।
भक्ति ज्ञान के पंथ सूर ये, प्रेमनिरंतर भाखि । (पद ९०)

अब तुम नाम गहौ मन नागर ।
जातैं काल-अगिनि तैं बांचौ, सदा रहौ सुख-सागर ।
मारि न सकै, बिघ्न नहिं ग्रासै, जम न चढ़ावै कागर ।
क्रिया-कर्म करतहु निसि-बासर भक्ति कौ पंथ उजागर ।
सोचि बिचारि सकल स्रुति सम्मति, हरि तैं और न आगर ।
सूरदास प्रभु इहिं औसर भजि उतरि चलौ भवसागर । (पद९१)

हमारे निर्धन के धन राम ।
चोर न लेत, घटत नहिं कबहूं, आवत गाढ़ैं काम ।
जल नहिं बूड़त, अगिनि न दाहत, है ऐसौ हरि-नाम ।
बैकुंठनाथ सकल सुख-दाता, सूरदास-सुख-धाम । (पद ९२)

हौं तौ पतित-सिरोमनि माधौ ।
अजामील बातनि हीं तार्यौ, हुतौ जु मो तैं आधौ ।
कै प्रभु हार मानि कै बैठौ, कै अबहीं निस्तारौ ।
सूर पतित कौं और ठौर नहिं, है हरि-नाम सहारौ । (पद१३९)

भरोसौ नाम कौ भारी ।
प्रेम सौं निज नाम लीन्हौं, भये अधिकारी ।
ग्राह जब गजराज घेर्यौ, बल गयौ हारी ।
हारि कै जब टेरि दीन्ही, पहुंचे गिरधारी ।
सुदामा-दारिद्र भंजे, कूबरी नारी ।
द्रौपदी कौ चीर बढ़यौ, दुस्सासन तारी ।
बिभीषन कौं लंकदीनी, रावनहिं मारी ।
दासध्रुव कौं अटल पद दियौ राम-दरबारी ।
सत्य भक्तहिं तारिबे कौं, लीला बिस्तारी ।
बेर मेरी क्यौं ढील कीन्ही, सूर बलिहारी । (पद १७४)

गोविंद-भजन करौ इहिं बार ।
संकर पारबती उपदेसत, तारक मंत्र लिख्यौ स्रुति द्वार ।
अस्वमेध जज्ञहु जौ कीजै, गया बनारस अरु केदार ।
राम नाम सरि तऊ न पूजै, जौ तनु गारौ जाइ हिंवार ।
सहस बार जौ बैनी परसौ, चंद्रायन कीजै सौ बार ।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु, जम कै दूत खरे हैं द्वार ।

(पद ३४६)

है हरि नाम कौ आधार ।
और इहिं कलिकाल नाहीं, रह्यौ बिधि-ब्यौहार ।
नारदादि, सुकादि मुनि मिलि, कियौ बहुत बिचार ।
सकल स्रुति दधि मथत पायौ, इतौई घृत-सार ।
दसौं दिसि तैं कर्म रोक्यौ, मीन कौं ज्यौं जार ।
सूर हरि कौ सुजस गावत, जाहि मिटि भव-भार ।

(पद ३४७)

जब तैं रसना राम कह्यौ ।
मानौ धर्म साधि सब बैठ्यौ, पढ़िबे मैं धौं कहा रह्यौ ।
प्रगट प्रताप ज्ञान-गुरु-गम तैं, दधि मथि, घृत लै, तज्यौ मह्यौ ।
सार कौ सार, सकल सुख कौ सुख, हनूमान-सिव जानि गह्यौ ।
नाम प्रतीति भई जा जन कौं, लै आनंद, दुख दूरि दह्यौ ।
सूरदास धनि-धनि वह प्रानी, जो हरि कौ व्रत लै निबह्यौ ।

(पद ३५१)

हौउ मन, राम-नाम कौ गाहक ।
चौरासी लख जीव-जौनि मैं भटकत फिरत अनाहक ।
भक्तिन हाट बैठि अस्थिर ह्वै, हरि नग निर्मल लेहि ।
काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह तू, सकल दलाली देहि ।
करि हियाव, यह सौंज लादिकै, हरि कै पुर लै जाहि ।
घाट-बाट कहुं अटक होइ नहिं सब कोउ देहि निबाहि ।

और बनिज मैं नाहीं लाहा, होति मूल मैं हानि ।
सूर स्याम कौ सौदा सांचौ, कह्यौ हमारौं मानि ।

(पद ३१०)

अब मन, मानि धौं राम दुहाई ।
मन-बच-क्रम हरि नाम हृदय धरि, ज्यौं गुरु बेद बताई ।
महा कष्ट दस मास गर्भ बसि, अधोमुख-सीस रहाई ।
इतनी कठिन सही तैं कैतिक, अजहुं न तू समुझाई ।
मिटि गए राग द्वेष सब तिनकै, जिन हरि प्रीति लगाई ।
सूरदास प्रभु नाम की महिमा पतित परम गति पाई ।

(पद ३१८)

सबै दिन गए बिषय के हेत ।
तीनौं पन ऐसैं हीं खोए, केस भए सिर सेत ।
आंखिनि अंध, स्रवन नहिं सुनियत थाके चरन समेत ।
गंग-जल तजि पियत कूप-जल, हरि तजि पूजत प्रेत ।
मन-बच-क्रम जौ भजै स्याम कौं, चारि पदारथ देत ।
ऐसौ प्रभू छांड़ि क्यौं भटकै, अजहूं चेति अचेति ।
राम नाम बिनु क्यौं छूटौगे, चंद गहै ज्यौं केत ।
सूरदास कछु खरच न लागत, राम नाम मुख लेत ।

(पद २६६)

जौ तू राम-नाम-धन धर तौ ।
अब कौ जन्म, आगिलौ तेरौ, दोऊ जन्म सुधरतौ ।
जम कौ त्रास सबै मिटि जातौ, भक्त नाम तेरौ पर तौ ।
तंदुल-घिरत समर्पि स्याम कौं, संत-परोसौ करतौ ।
हो तौ नफा साधुकी संगति, मूल गांठि नहिं टरतौ ।
सूरदास बैकुंठ-पंठ मैं, कोउ न फैंट पकर तौं ।।

(पद २६७)

रे मन, सुमिरि हरि हरि हरि ।
सत जज्ञ नाहिंन नाम सम, परतीति करि करि करि ।
हरि नाम हरिनाकुस बिसार्यौ, उठ्यौ बरि बरि बरि ।
प्रह्लाद-हित जिहिं असुर मार्यौ, ताहिहरि डरि डरि
गज-गीध-गनिका-व्याध के अघ गए गरि गरि गरि ।
रस-बरन अंबुज बुद्धि-भाजन, लेहि भरि भरि भरि ।
द्रौपदी के लाज कारन, दौरि परि परि परि ।
पांडु-सुत के बिघन जेते, गए टरि टरि टरि ।
करन, दुरजोधन, दुसासन, सकुनि, अरि अरि अरि ।
अजामिल सुत-नाम लीन्है, गए तरि तरि तरि ।
चारिफल के दानि हैं प्रभु, रहे फरि फरि फरि ।
सुर श्री गोपाल हिरदै राखि धरि धरि धरि ।

(पद ३०६)

कह्यौ सुकश्री भागवत-विचार ।
जाति-पाँति कोउ पूछत नाहीं, श्रीपति कैं दरबार ।
श्रीभागवत सुनै जो हित करि, तरै सो भव-जल पार ।
सूरसुमिरसो रटि निसि-बासर, राम-नाम निज सार ।

(पद २३१)

बड़ है राम-नाम की ओट
तरन गएँ प्रभु काढ़ि देत नहिं, करत कृपा के कोट ।
बैठत सबै सभा हरि जू की, कौन बड़ौ को छोट ?
सूरदास पारस के परसैं मिटति लोह की खोट ।

(पद २३२)

अंत काल जो नाम उचारै, सो सब अपने पापनि धारै
ज्ञान बिराग तुरत तिहि होइ । सूर बिष्णु पद पावै सोइ । ४१५(पद)

प्रभु तुव मर्म समुझि नहिं परै ।
जग सिरजत पालत संहारत, पुनि क्यौं बहुरि करै ।।
ज्यौं पानी मैं होत बुदबुदा, पुनि ता माहिं समाइ ।
त्यौं ही सब जग प्रगटत तुम तैं, पुनि तुम माहिं बिलाइ ।।
माया जलधि अगाध महाप्रभु, तरि न सकै तिहिं कोइ ।
नाम जहाज चढ़े जो कोऊ, तुव पद पहुँचै सोइ ।।
पापी नर सोचै जिमि प्रभु जू, नाहीं तासु निबाह ।
काठ उतारत पार लोह ज्यौं, नाम तुम्हारौ ताइ ।।
पारस परसि होत ज्यौं कंचन, लोहपनौ मिटि जाइ ।
त्यौं अज्ञानी ज्ञानहिं पावत, नाम तुम्हारौ गाइ ।
अमर होत ज्यौं संसय नासै, रहत सदा सुख पाइ ।
यातैं होत अधिक सुख भगतनि, चरन कमल चित लाइ ।।
थावर जंगम सब तुम सुमिरत, सनक सनंदन ताहीं ।
ब्रह्मा सिव अस्तुति न सकैं करि, मैं बपुरा केहि माहीं ।।
जोग ध्यान करि देखत जोगी, भक्त सदा मोहिं प्यारौ ।
ब्रज बनिता भजियौ मोहिं नारद, मैं तिन पार उतारौ ।।
नारद ज्यौं हरि अस्तुति कीन्हीं, सुक त्यौं कहि समुझाई ।
सूरज प्रेम भक्ति की महिमा, श्रीपति श्रीमुख गाई ।।४६२१ ।।

मीरांबाई

माई म्हां गोविन्द, गुण गास्यां ।।टेक।।
चरणाम्रित रो नेम सकारे, नित उठ दरसण जास्यां ।
हरि मन्दिर मां निरत करावां, घूंघरया धमकास्यां ।
स्याम नाम रो झांझ चलास्यां, भौसागर तर जास्यां ।
यो संसार बीड़रो कांटो, गेल प्रीतम अटकास्यां ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, गुन गावां सुख पास्यां ।।२१।।

सीसोद्यो रूठ्यो तो म्हांरो कांई करलेसी ।
म्हें तो गुण गोविन्द का गास्यां, हो माई ।।टेक।।
राणो जी रूठ्यां वांरो देस रखासी ।
हरि रूठ्यां कुम्हलास्यां, हो माई ।
लोक लाज की काण न मानूं ।
निरभै निसाण घुरास्यां, हो माई ।
स्याम नाम का झांझ चलास्यां ।
भवसागर तर जास्यां, हो माई ।
मीरां सरण कंवल गिरधर की ।
चरण कंवल लपटास्यां, हो माई ।।३५।।

यो तो रंग धत्तां लग्यो ए माय ।।टेक।।
पिया पियाला अमर रस का, चढ़ गई घूम घुमाय ।
यो तो अमल म्हांरो कबहुं न उतरे, कोट करो न उपाय ।
सांप पिटारो राणाजी भेज्यो, द्यो मेड़तणी गल डार ।
हंस हंस मीरां कंठ लगायो, यो तो म्हांरे नौसर हार ।
विष को प्यालो राणो जी मेल्यो, द्यो मेड़तणी ने पाय ।
कर चरणामृत पी गई रे, गुण गोविन्द रा गाय ।
पिया पियाला नाम को रे, और न रंग सोहाय ।
मीरां कहे प्रभु गिरधर नागर, काचो रंग उड़ जाय ।।४०।।

हरि बिन कूण गती मेरी ।।टेक।।
तुम मेरे प्रतिपाल कहिये, मैं रावरी चेरी ।
आदि अंत निज नांव तेरो, हीया में फेरी ।
बेरि बेरि पुकारि कहूं, प्रभु आरति है तेरी ।
यो संसार बिकार सागर, बीच में घेरी ।
नाव फाटी प्रभु पाल बांधो, बूडत है बेरी ।
बिरहणि पिव की बाट जोवै, राखिल्यो नेरी ।
दासि मीरां राम रटत है, मैं सरण हूं तेरी ।।६३।।

पिया थारे नाम लुभाणी जी ॥टेक॥
नाम लेतां तिरतां सुण्यां, जग पाहण पाणी जी ।
कीरत कांई णा किया, घणा करम कुमाणी जी ।
गणका कीर पढ़ावतां, बैकुण्ठ बसाणी जी ।
अरध नाम कुंजर लयां, दुख अवध-घटाणी जी ।
गरुण छांड़ि पग धाइयां पसुजूण पटाणी जी ।
अजामेल अघ ऊधरे जम त्रास णसानी जी ।
पूतनाम जस गाइयां, जग सारां जाणी जी ।
सरणागत थें बर दिया, परतीत पिछाणी जी ।
मीरां दासी रावली, अपणी कर जाणी जी ॥१५०॥

स्याम बिणा दुख पावां सजणी,
कुण म्हा धीर बंधावां ॥टेक ॥
यो संसार कुबधि रो भांडो, साध संगत णा भावां ।
साधां जणारी निंदा ठाणां, करमरा कुगत कुमांवां ।
राम नाम बिनि मकुति न पावां, फिर चौरासी जावां ।
साध संगत मां भूल णा जावां, मूरख जणम गमावां ।
मीरां रे प्रभु थारी सरणां, जीव परमपद पावां ॥१५१॥

यहि बिधि भक्ति कैसे होय ॥टेक॥
मण की मैल हियतें न छूटी, दियो तिलक सिर धोय ।
काम कूकर लोभ डोरी, बांधि मोहि चण्डाल ।
क्रोध कसाई रहत घट में, कैसे मिले गोपाल ।
बिलार बिषया लालची रे, ताहि भोजन देत ।
दीन हीन ह्वै कुधा रत से, राम नाम णा लेत ।
आपहि आप पुजाय कै रे, फूले अंग णा समात ।
अभिमान टीला किये बहु कहु, जल कहां ठहरात ।
जो तेरे हिय अन्तर की जाणो, तासों कपट णा बणो ।
हिरदै हरि को नाम णा आवै, मुख तें मनिया गणो ।

हरि हितु सै हैत कर, संसार आसा त्याग ।
दास मीराँ लाल गिरधर सहज कर वैराग्य ।।१९८।।

राम नाम रस पीजै मनुआँ, राम नाम रस पीजै ।।टेक।।
तज कुसंग सतसंग बैठ णित, हरि चरचा सुण लीजै ।
काम क्रोध मद लोभ मोह कूं, बहा चित्त सै दीजै ।
मीराँ कै प्रभु गिरधर नागर, ताहि कै रंग में भीजै ।।१९९।।

म्हारो मण साँवरो णाम रट्यारी ।।टेक।।
साँवरो णाम जपाँ जग प्राणी, कोट्याँ पाप कट्याँरी ।
जणम जणम री खताँ पुराणी, णाम स्याम मट्यारी ।
कणक कटोराँ इम्रत भर्याँ, पीवताँ कुण नट्यारी ।
मीराँ रे प्रभु हरि अबिनासी, तण मण स्याम पट्यारी ।।२००।।

तुलसीदास

रामचरितमानस

महि मंह रघुपति नाम उदारा । अति पावन पुरान श्रुति सारा ।।
मंगल भवन अमंगल हारी । उमा सहित जेहि जपत पुरारी ।।
(पृष्ठ संख्या १६२)

भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ । राम नाम बिन सोह न सोऊ ।।
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी । सोह न बसन बिना बर नारी ।।
(पृ०सं० १६५)

बन्दौं नाम राम रघुबर को । हेतु कृसानु भानु हिमकर को ।।
(पृ०सं० २६५)

बिधि हरि हर मय बेद प्रान सो । अगुन अनूपम गुन निधान सो ।।
(पृ०सं० ३०२)

महामंत्र जोइ जपत महेसू । कासी मुकुति हेतु उपदेसू ।।

(पृ०सं० ३०८)

महिमा जासु जान गन राऊ । प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ ।।

(पृ०सं० ३१०)

जान आदि कवि नाम प्रतापू । भयउ सिद्ध करि उलटा जापू ।।

(पृ०सं० ३११)

सहस नाम सम सुनि सिव बानी । जपति सदा पिय संग भवानी ।।

(पृ०सं० ३१४)

नाम प्रभाउ जान सिव नीको । कालकूट फलु दीन्ह अमी को ।।

(पृ०सं० ३१६)

बरषा रितु रघुपति भगति, तुलसी सालि सुदास ।

राम नाम बर बरन जुग, सावन भादौं मास ।।

(पृ०सं० ३१८)

एकु छत्रु एकु मुकुट मनि , सब बरननि पर जोउ ।

तुलसी रघुबर नाम के, बरन बिराजत दोउ ।।

(पृ०सं० ३३३)

नाम रूप दुइ ईस उपाधी । अकथ अनादि सुसामुझि साधी ।।

(पृ०सं० ३३४)

देखिअहिं रूप नाम आधीना । रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना ।।

रूप बिसेष नाम बिनु जानें । करतल गत न परहिं पहिचानें ।।

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें । आवत हृदयँ सनेह बिसेषें ।।

(पृ०सं० ३३७)

नाम रूप गति अकथ कहानी । समुझत सुखद न परति बखानी ।।

(पृ०सं० ३३९)

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी । उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी ।।

(पृ०सं०३४०)

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार ।
तुलसी भीतर बाहरेहुँ जौं चाहसि उजियार ।।

(पृ०सं० ३४२)

नाम जीह जपि जागहिं जोगी । बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी ।।
ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा । अकथ अनामय नाम न रूपा ।।

(पृ०सं० ३४४)

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ । नाम जीह जपि जानहि तेऊ ।।
साधक नाम जपहि लय लाएं । होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएं ।।

(पृ०सं० ३४६)

जपहिं नाम जन आरत भारी । मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ।।

(पृ०सं० ३४७)

रामभगत जग चारि प्रकारा । सुकृती चारिउ अनघ उदारा ।।
चहूं चतुर कहुं नाम अधारा । ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि पियारा ।।

(पृ०सं० ३४९)

चहु जुग चहुं श्रुति नाम प्रभाऊ । कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ ।।

(पृ०सं० ३५१)

सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन ।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुं किये मन मीन ।।२२।।

(पृ०सं० ३५२)

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा । अकथ अगाधि अनादि अनूपा ।।२३(१) ।।
मोरें मत बड़ नाम दुहू तें । किय जेहि जुग निज बस निज बूतें ।।२३(२)।

(पृ०सं० ३५६-५८)

एक दारुगत देखिअ एकू । पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू ।।२३(४) ।।
उभय अगम जुग सुगम नाम तें । कहेउं नामु बड़ ब्रह्म राम तें ।।२३(५)।।

नाम निरूपन नाम जतन तें । सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें ।।२३(८)

निरगुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार ।
कहउं नाम बड़ रामतें निज बिचार अनुसार ।।२३।।

राम भगत हित नर तनु धारी । सहि संकट किये साधु सुखारी ।। २४(१)
नामु सप्रेम जपत अनयासा । भगत होहिं मुद मंगल बासा ।। २४(२)।।
राम एक तापस तिय तारी । नाम कोटि खल कुमति सुधारी ।। २४(३)।।
रिषि हित राम सुकेतु सुता की । सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी ।।२४(४)
सहित दोस दुख दास दुरासा । दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा ।।२४(५)
भंजेउ राम आप भव चापू । भव भय भंजन नाम प्रतापू ।।२४(६)।।
दंडक बन प्रभु कीन्ह सुहावन । जन मन अमित नाम किय पावन ।।२४(७)।।
निसिचर निकर दले रघुनन्दन । नामु सकल कलि कलुष निकन्दन ।।२४(८)।।

सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ ।।२४।।

नाम गरीब अनेक नेवाजे । लोक-बेद बर बिरिद बिराजे ।।२५(२)।।

नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं । करहु बिचारु सुजन मनमाहीं ।।२५(४)।।
सेवक सुमिरत नामु सप्रीती । बिनु श्रम प्रबल मोहु दल जीती ।।२५(७)।।
फिरत सनेहं मगन सुख अपनें । नाम प्रसाद सोच नहिं सपनें ।।२५(८) ।।

ब्रह्म राम तें नामु बड़ बरदायक बरदानि ।
राम चरित सत कोटि मंह लिय महेस जियं जानि ।।२५।।

नाम प्रसाद संभु अबिनासी । साजु अमंगल मंगल रासी ।।२६(१)।।
सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी । नाम प्रसाद ब्रह्म सुख भोगी ।।२६(२)।।
नारद जानेउ नाम प्रतापू । जग प्रिय हरि हरिहर प्रिय आपू ।।२६(३)।।
नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू । भगत सिरोमनि भे प्रहलादू ।।२६।(४) ।।
ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊं । पायउ अचल अनूपम ठाऊं ।।२६(५)।।
सुमिरि पवन सुत पावन नामू । अपने बस करि राखे रामू ।।२६(६)।।
अपतु अजामिल गज गनिकाऊ । भये मुकुत हरिनाम प्रभाऊ ।।२६(७) ।।
कहौं कहां लगि नाम बड़ाई । रामु न सकहिं नामु गुन गाई ।।२६(८)।।

नामु राम को कलप तरु कलि कल्यान निवास ।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदास ।।२६।।

चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका । भये नाम जपि जीव बिसोका ।।२७(१)।।
नाम काम तरु काल कराला । सुमिरत समन सकल जग जाला ।।२७(५)।।
राम नाम कलि अभिमत दाता । हित परलोक लोक पितु माता ।।२७(६) ।।
नहिं कलिकरम न भगति बिबेकू । राम नाम अवलम्बन एकू ।।२७(७)।।
~~नहिं कलिकरम न भगति बिबेकू । राम नाम अवलम्बन एकू ।।२७(७)~~।।
कालनेमि कलि कपट निधानू । नाम सुमति समरथ हनुमानू ।।२७(८)।।

राम नाम नर केसरी कनक कसिपु कलिकाल ।
जापक जन प्रह्लाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल ।।२७।।

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ । नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ।।२८(१)।।
सुमिरि सो नाम रामगन गाथा । करउँ नाइ रघुनाथहिं माथा ।।२८(२)।।

राम नाम कर अमित प्रभावा । संत पुरान उपनिषद् गावा ।।४६(२)।।
रामनाम सिव सुमिरन लागे । जानी सती जगत पति जागे ।।६०(३) ।।
एहि कर नाम सुमिरि संसारा । त्रिय चढ़िहहिं पतिब्रत असिधारा।।६७(४)।।
जपहिं सदा रघुनायक नामा । जहँ तहँ सुनहिं राम गुन ग्रामा ।।७५(८)।।

प्रभु समरथ सर्बग्य सिव सकल कला गुन धाम ।
जोग ग्यान बैराग्य निधि प्रनत कल्पतरु नाम ।।१०७।।

राम नाम गुन चरित सुहाए । जनम करम अगनित श्रुति गाए ।।११४(३)।।
जासनाम भ्रम तिमिर पतंगा । तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा ।।११६(४)।।

कासीं मरत जंतु अवलोकी । जासु नाम बल करउँ बिसोकी ।।११९।(१)
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी । रघुबर सब उर अंतरजामी ।।११९(२)।।
बिबसहुँ जासु नाम नर कहहीं । जनम अनेक रचित अघ दहहीं ।।११९(३)।।

हरिगुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित ।
मैं निज मति अनुसार कहउँ उमा सादर सुनहु ।।१२०(१)।।

जपहु जाइ संकर सतनामा । होइहि हृदय तुरत बिश्रामा ।।१३८(४)।।

<u>बिनय-पत्रिका</u>

सेइय सहित सनेह देहभरि, कामधेनु कलि कासी ।
समनि सोक संताप पाप रुज, सकल सुमंगल-रासी ।।
मरजादा चहुँओर चरन बर, सेवत सुरपुर-बासी ।
तीरथ सब सुभ अंग रोम सिवलिंग अमित अबिनासी ।।
अन्तरअयन अयन भल, थन फल, बछ बेद-बिस्वासी ।।
गलकंबल बरुना बिभाति जनु, लूम लसति सरितासी ।।
दंडपानि भैरव बिषान, मल रुचि खलगन भयदा सी ।
लोलदिनेस त्रिलोचन लोचन, करनघंट घंटा सी ।।
मनिकर्निका बदन-ससि-सुन्दर, सुरसरि सुखइ सुखमा सी ।।
स्वारथ-परमारथ-परिपूरन , पंचकोसि महिमा सी ।।
बिस्वनाथ पालक कृपालुचित, लालति नित गिरिजा सी ।
सिद्धि, सची, सारद पूजहिं, मन जुगवत रहति रमा सी ।।
पंचाच्छरी प्रान, मुद माधव, गव्य सुपंचनदा सी ।
ब्रह्म जीव सम रामनाम जुग, आखर बिस्व-बिकासी ।।
चारितु चरति करम कुकरम करि, मरत, जीवगन घासी ।
लहत परमपद पय पावन, जेहि चहत प्रपंच उदासी ।।
कहत पुरान रची केसव निज कर-करतूति कला-सी ।
तुलसी बसि हरपुरी राम जप, जो भयो चहै सुपासी ।।२२।।

सदा राम जपु राम जपु राम जपु राम जपु, राम जपु मूढ़ मन , बार बारं ।
सकल सौभाग्य-सुख खानि जिय जानि सठ, मानि बिस्वास बद बेदसारं ।।

कौसलेन्द्र नव-नीलकंजाभतनु, मदन-रिपु-कंजहृदि-चंचरीकं ।
जानकीरवन, सुखभवन, भुवनैक प्रभु, समर-भंजन, परम कारुनीकं ।।
दनुज-बन-धूमधुंज, पीन आजानुभुजदंड-कोदंडवर-चंड-बानं ।
अरुन कर चरन मुख,नैन राजीव, गुनऐन, बहुमैन-सोभा-निधानं ।।
वासनावृन्द-कैरव-दिवाकर काम-क्रोधमद-कंज-कानन-तुषारं ।
लोभ-अति-मत्त-नागेन्द्र-पंचाननं भक्तहित हरन संसार-भारं ।।
केसवं, क्लेसहं, केस-बंदित पदद्वन्द,मंदाकिनी-मूलभूतं ।
सर्वदानंद-संदोह मोहापहं घोर-संसार-पाथोधि पोतं ।।
सोक-संदेह-पाथोदपटलानिलं पाप-पर्वत-कठिन कुलिसरूपं ।
संतजन-कामधुक-धेनु बिस्रामप्रद नाम कलि-कलुष-भंजन अनूपं ।।
धर्म कल्पद्रुमाराम हरि धाम-पथि-संबलं मूलमिदमेव एकं ।
भक्ति-वैराग्य-विग्यान-सम-दान - दम नाम आधीन साधन अनेकं ।।
तेन तप्तं हुतं, दत्तमेवाखिलं, तेन सर्वं कृतं कर्मजालं ।
येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिसमनवद्यमवलोक्य कालं ।।
सुपच खल भिल्ल जमनादि हरिलोकगत नामबल विपुल मति मलिनपरसी ।
त्यागि सब आस-संत्रास भवपास-असि-निसित हरिनाम जपु दासतुलसी ।।४६।।

राम राम रटु, राम राम रटु, राम राम जपु जीहा ।
रामनाम, नवनेह-मेहको,मन । हठि होहि पपीहा ।
सब साधन-फल कूप-सरित-सर-सागर-सलिल निरासा ।
रामनाम-रति स्वाति-सुधा सुभ-सीकर प्रेमपियासा ।
गरजि तरजि पाषान बरषि पवि,प्रीति परखि जिय जानै ।
अधिक अधिक अनुराग उमँग उर, पर परमिति पहिचानै ।
रामनाम-गति, रामनाम मति, रामनाम, अनुरागी ।
है गये, हैं, जे होहिंगे, त्रिभुवन तेइ गनियत बड़भागी ।
एक अंग मग अगम गवन कर, बिलमु न छिन छिन छाहैं ।
तुलसी हित अपनो अपनी दिसि, निरुपधि नेम निबाहैं ।।६५।।

राम जपु, राम जपु, राम जपु, बावरे ।
घोर-भव-नीर-निधि नाम निज नाव रे ।
एक ही साधन सब रिद्धि- सिद्धि साधि रे ।
ग्रसे कलि-रोग जोग संजम समाधि रे ।
भलौ जौ है, पौच जौ है, दाहिनौ जौ वाम रे ।
राम-नाम ही सौं अन्त सब ही कौ काम रे ।
जग नभ-बाटिका रही है फल फूलि रे ।
धुवाँ कैसे धौरहर देखि तू न भूलि रे ।
राम-नाम छाड़ि जौ भरोसौ करै और रे ।
तुलसी परोसौ त्यागि मागै कूर कौर रे ।। ६६

राम-नाम जपु जिय सदा सानुराग रे ।
कलि न बिराग, जोग , जाग, तप, त्याग रे ।
राम सुमिरन सब विधि ही कौ राज रे ।
राम कौ बिसारिबौ निषेध-सिरताज रे ।
राम-नाम महामनि,फनि जगजाल रे ।
मनि लिये फनि जिये ब्याकुल बिहाल रे ।
राम-नाम कामतरु देत फल चारि रे ।
कहत पुरान,बेद, पंडित, पुरारि रे ।
रामनाम प्रेम परमारथ कौ सार रे ।
रामनाम तुलसी कौ जीवन-अधार रे । ६७।।

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं ।   ७७   ।।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे पुनि न डसैहौं ।
पायौ नाम चारु चिंतामनि, उर कर ते न खसैहौं ।
श्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं ।
परबस जानि हँस्यौ इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं ।
मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति, पद-कमल बसैहौं ।।१०५।।

बिस्वास एक राम-नाम कौ ।
मानत नहिं परतीति अनत ऐसोई सुभाव मन बाम कौ ।
पढ़िबो परयो न छठी, छ मत रिगु जजुर अथर्बन साम कौ ।
ब्रत तीरथ तप सुनि सहमत पचि मरै करै तन छाम कौ ।
करम जाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम कौ ।
ग्यान बिराग जोग जप,तप,भय ,लोभ,मोह,कोह,काम कौ ।
सब दिन सब लायक भव गायक रघुनायक गुन-ग्राम कौ ।
बैठे नाम-कामतरु तर डर कौन घोर घन घाम कौ ।
को जानै को जैहै जमपुर, को सुरपुर परधाम कौ ।
तुलसिहिं बहुत भलो लागत जग जीवन राम गुलाम कौ ।।१५५।।

राम-नाम कै जपे जाइ जिय की जरनि ।
कलिकाल अपार उपाय ते अपाय भये,
जैसे तम नासिबे को चित्र के तरनि ।
करम-कलाप परिताप,पाप-साने सब,
ज्यों सुफूल फूले तरु फोकट फरनि ।
दंभ, लोभ, लालच, उपासना बिनासि नीके,
सुगति साधन भई उदर भरनि ।
जोग न समाधि निरुपाधि न बिराग ग्यान ।
बचन बिसेष बेष, कहूं न करनि ।
कपट कुपथ कोटि, कहनि रहनि खोटि ।
सकल सराहैं निज निज आचरनि ।
मरत महेस उपदेस हैं कहा करत ।
सुरसरि तीर कासी धरम-धरनि ।
राम-नाम को प्रताप, हर कहैं जपैं आपु ।
जुग जुग जानैं जग बेदहूं बरान ।
मति राम-नाम ही सों, रति राम-नाम ही सों ।
गति राम-नाम ही की बिपति हरनि ।

राम-नाम सों प्रतीति प्रीति राखै कबहुंक ।
तुलसी ढरैगे राम आपनी ढरनि ।।८४

भरोसो जाहि दूसरो सो करो ।
मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान करो ।
करम, उपासन, ग्यान, वेदमत सो सब भाँति खरो ।
मोहिं तो "सावन के अंधहि" ज्यों सूझत रंग हरो ।
चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुं न पेट भरो ।
सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परुसि धरो ।
स्वारथ औ परमारथ हू को नहिं कुंजरो नरो ।
सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि-कटक तरो ।
प्रीति-प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो ।
मेरे तो माय-बाप दोउ आखर हौं सिसु-अरनि अरो ।
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तो जरि जीह गरो ।
अपनो भलो राम-नामहिं तें तुलसिहिं समुझि परो ।।२२६

प्रिय रामनाम तें जाहि न रामो ।
ताको भलो कठिन कलिकालहुं आदि मध्य परिनामो ।
सकुचत समुझि नाम-महिमा मद लोभ मोह कोह कामो ।
राम-नाम-जप-निरत सुजन पर करत छाँह घोर घामो ।
नाम प्रभाउ सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जामो ।
जो सुनि सुमिरि भाग-भाजन भइ सुकृतसील भल-भामो ।
बाल्मीकि अजामिल के कछु हुतो न साधन सामो ।
उलटे-पलटे-नाम-महातम गुंजनि जितो ललामो ।
राम तें अधिक नाम-करतब जेहि किये नगर-गत गामो ।
भये बजाइ दाहिने जो जपि तुलसिदास से बामो ।।२२८

कवितावली

अपराध अगाध भए जनतें, अपनें उर आनत नाहिन जू ।
गनिका, गज, गीध, अजामिल कै गनि पातकपुंज सिराहिं न जू ।।
लिए बारक नामु सुधामु दियो, जेहिं धाम महामुनि जाहिं न जू ।
तुलसी ! भजु दीन दयालहि रे ! रघुनाथु अनाथहि दाहिन जू ।। पृ०१०८-७।।

सिय-राम-सरूप अगाध अनूप बिलोचन-मीननको जलु है ।
श्रुति रामकथा, मुख रामको नामु, हिएं पुनि रामहिको थलु है ।।
मति रामहि सों, गति रामहि सों, रति नाम सों रामहिं को बलु है ।
सबकी न कहै, तुलसीके मतें इतनो जग जीवनको फलु है ।। पृ०१२६-३७।।

स्वारथ को साजु न समाजु परमारथको,
मोसो दगाबाज दूसरो न जगजाल है ।
कौन आयो, करौं न करौंगो करतूति भली,
लिखी न बिरंचिहूं भलाई भूलि भाल है ।।
रावरी सपथ, रामनाम ही की गति मेरें,
इहां झूठो, झूठो सो तिलोक तिहूं काल है ।
तुलसी को भलो पै तुम्हारें ही किए कृपाल,
कीजै न बिलंबु, बलि, पानीभरी खाल है ।। (पृ० १४१-४५)

सब अंग हीन, सब साधन बिहीन, मन-
बचन मलीन, हीन कुल-करतूति हौं ।
बुधि-बल-हीन, भाव-भगति-बिहीन, हीन
गुन-ग्यानहीन, हीन भाग हूं, बिभूति हौं ।।
तुलसी गरीब की गई-बहोर रामनामु ,
जाहि जपि जीहं रामहू को बैठो धूति हौं ।
प्रीति रामनामसों प्रतीति रामनामकी,
प्रसाद रामनामकें पसारि पाय सूतिहौं ।। पृ० १४४- ६६ ।।

मेरें जान जबतें हौं जीव ह्वै जनम्यौ जग,
तबतें बेसाह्यौ दाम लोह, कोह कामको ।
मन तिन्हीकी सेवा, तिन्ही सौं भाउ नीको,
बचन बनाइ कहौं हौं गुलामु रामको ।।
नाथहूं न अपनायौं, लोक झूठी ह्वै परी, पै
प्रभुहू तें प्रबल प्रतापु प्रभुनामको ।
आपनीं भलाई भलो कीजै तौ भलाई, न तौ
तुलसीको खुलैगो खजानो खोटे दामको ।। पृ० १४५-७० ।।

जापकी न तप-खपु कियो, न तमाइ जोग,
जाग न बिराग, त्याग, तीरथ न तनको ।
भाईको भरोसो न खरो-सो बैरु बैरीहूं सों,
बलु अपनो न, हितू जननी न जनको ।।
लोकको न डरु, परलोकको न सोचु, देव-
सेवा न सहाय, गर्बु धामको न धनको ।
रामही के नामतें जो होइ सोइ नीको लागै,
ऐसोई सुभाउ कछु तुलसीके मनको ।। पृ०१५०-७७।।

रामु बिहाइ "मरा" जपतें बिगरी सुधरी कबिकोकिलहू की ।
नामहि तें गजकी, गनिकाकी, अजामिलकी चलि गै चलचूकी ।।
नामप्रताप बड़े कुसमाज बजाइ रही पति पांडुबधूकी ।
ताको भलो अजहूँ तुलसी" जेहि प्रीति प्रतीति है आखर दूकी ।। पृ०१५८ ।।

मेरें जाति पाँति न चहौं काहूकी जाति-पाँति,
मेरे कोऊ कामको न हौं काहूके कामको ।
लोकु परलोकु रघुनाथही के हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसीके एक नामको ।।
अति ही अयाने उपखानो नहिं बूझैं लोग,
"साह ही को गोतु गोतु होत है गुलामको ।"

साधु कै असाधु, कै भलौ कै पोच, सोचु कहा,
का काहूके द्वार परौं, जौ हौं सौ हौं रामको ।। पृ० १६६-

<u>बरवै रामायण</u>

काल कराल विलोकहु होउ सचेत ।
राम नाम जपु तुलसी प्रेम समेत ।।१६३।।

कलि नहि ज्ञान विराग न जोग समाधि ।
राम नाम जपु तुलसी नित निरुपाधि ।।१६५।।

राम नाम दोउ आखर हिय हित जानु ।
राम लखन सम तुलसी सिखवन मानु ।।१६६।।

माई बाप गुरु स्वामि राम को नाम ।
तुलसी जेहि न सुहाइ ताहिं विधि बाम ।।१६७।।

महिमा राम नाम कर जान महेस ।
देत परम पद कासी करि उपदेस ।।२००।।

कलस जोनि जिय जानेउ नाम प्रताप ।
कौतुक सागर सोखेउ करि सोइ जाप ।।२०१।।

जान आदि कवि तुलसी नाम प्रभाव ।
उलटा जपत सूध भा भे रिषि राव ।।२०२।।

राम नाम सम तुलसी मीत न आन ।
जो पहुंचाव परम पद तन अवसान ।।२०५।।

राम धाम कर परवी केवल नाम
तुलसी लिखेउ न भालहि तेहि विधि बाम ।।४००।।

दोहावली

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरी द्वार ।
तुलसी भीतर बाहेरहुं जौं चाहसि उजिआर ।। पृष्ठ १४।६

सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं निर्गुन मन ते दूरि ।
तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवन मूरि ।। पृष्ठ १५।८

नाम राम को अंक है सब साधन हैं सून ।
अंक गएं कछु हाथ नहिं अंक रहें दस गून ।। पृष्ठ १६।१०

नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु ।
जो सुमिरत भयो भांग तें तुलसी तुलसीदास ।। पृष्ठ १६।११

हम लखि लखहि हमार लखि हम हमार के बीच ।
तुलसी अलखहि का लखहि राम नाम जपु नीच ।। पृष्ठ १८।१९

राम नाम अवलंब बिनु परमारथ की आस ।
बरषत बारिद बूंद गहि चाहत चढ़न अकास ।। पृष्ठ १८।२०

बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास ।
राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास ।। पृष्ठ २१।२५

राम नाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल ।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल ।। पृष्ठ २१।२६

रामनाम कलि कामतरु राम भगति सुरधेनु ।
सकल सुमंगल मूल जग गुरुपद पंकज रेनु ।। पृष्ठ२१।२७

सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन ।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुं किए मन मीन ।। पृष्ठ २२।३०

ब्रह्म राम तें नामु बड़ बर दायक बर दानि ।
राम चरित सत कोटि महं लिय महेस जियं जानि ।। पृष्ठ २२।३१

तुलसी प्रीति प्रतीति सौं रामनाम जप जाग ।
किएं होइ विधि दाहिनो देइ अभागेहि भाग ।। पृष्ठ २४।३६

राम भरोसो राम बल राम नाम विस्वास ।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल मांगत तुलसीदास ।। पृष्ठ २४।३८

राम नाम रति नाम गति राम नाम विस्वास ।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल दुहुँ दिसि तुलसीदास ।। पृ० २५।३६

रसना साँपिनि बदन बिल जो न जपहिं हरिनाम ।
तुलसी प्रेम न राम सों ताहि विधाता बाम ।। पृष्ठ २५।४०

परिशिष्ट–२

परिशिष्ट- ३

संदर्भ तथा सहायक ग्रन्थों की अनुक्रमणिका

हिन्दी :-

कबीर ग्रन्थावली	डा० श्यामसुन्दरदास-नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्क० ९?
संत-कबीर	डा० रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन प्रा०लि०, इलाहाबाद, पंचम संस्क०, १९६६
कबीर ग्रन्थावली	डा० पारसनाथ तिवारी, हिन्दी परिषद प्रकाशन, प्रयाग
कबीर-बीजक	बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
पद्मावत	मलिक मुहम्मद जायसी
अनुराग बाँसुरी	नूर मुहम्मद
चित्रावली	उस्मान
सूरसागर (भाग १-२)	संपा० नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रका० नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, चतुर्थ संस्क०, संवत् २०२१
सूर सारावली	संपा० डा० मनमोहन गौतम, प्रका० रीगल बुकडिपो, नई सड़क, दिल्ली-६
नंददास	संपा० श्री उमाशंकर शुक्ल, प्रका० प्रयाग विश्वविद्या०, संस्क० प्रथम, १९४२
रासपंचाध्यायी	,, ,,
रूप मंजरी	,, ,,
भँवरगीत	,, ,,
अनेकार्थमंजरी	,, ,,
परमानन्द सागर	विद्याविभाग, कांकरोली, अष्टछाप स्मारक समिति, प्रथमसं० २०१६.
कुंभनदास	स्मारक समिति, विद्या विभाग, कांकरोली
छीतस्वामी	,, ,,
गोविन्दस्वामी	,, ,,

चतुर्भुजदास	स्मारक समिति, विद्या विभाग, कांकरौली
कृष्णदास	,, ,,
मीराबाई की पदावली	संपा० परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, पंचम संस्करण, सं० २०११
मीरा सुधा सिंधु	संपा० आनंदस्वरूप, प्रका० श्रीमीरा प्रका०समिति, भीलवाड़ा (राजस्थान)
रामचरित मानस	गीताप्रेस, गोरखपुर
विनय पत्रिका	,, ,,
दोहावली	,, ,,
कवितावली	,, ,,
गीतावली	,, ,,
श्रीकृष्ण गीतावली	,, ,,
पार्वतीमंगल	,, ,,
जानकीमंगल	,, ,,
रामलला नहछू	,, ,,
हनुमान बाहुक	,, ,,
रामाज्ञा प्रश्न	,, ,,
वैराग्य संदीपनी	,, ,,
बरवै रामायण	संपा० डा० रामकुमार वर्मा, प्रका० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
अनुशीलन	डा० रामकुमार वर्मा
अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद	डा० वासुदेव सिंह, समकालीन प्रका०, वाराणसी, सं० २०२२
अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय (भाग १-२)	डा० दीनदयालु गुप्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, संवत् २००४
उत्तरीभारत की संत परम्परा	परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, प्रयाग, सं० २००८
कबीर एक विवेचन	सरनाम सिंह शर्मा, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-६, प्रथम संस्क०, सन् १९६०

कबीर और जायसी का रहस्यवाद	डा० गोविन्द त्रिगुणायत
कबीर का रहस्यवाद	डा० रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन प्रा०लि० इलाहाबाद,१९५५
कबीर की विचारधारा	डा० गोविन्द त्रिगुणायत,साहित्य निकेतन, कानपुर,प्र०सं० २००९
कबीर	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी,हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई,प्र०सं० १९४२
कबीर दर्शन	डा० रामजीलाल सहायक,हिन्दी विभाग,लखनऊ वि०वि०,प्र०सं०,१९६२
गोस्वामी तुलसीदास	श्यामसुन्दरदास और पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दुस्तानी एकेडेमी,इलाहाबाद,१९५२
चौरासी वैष्णवन की वार्ता	वेंकटेश्वर प्रेस,बम्बई,सं० १९८५ वि०
जपसूत्रम	प्रणेता स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती,भारतीय विद्याप्रका०,वाराणसी,प्रथम सं० १९६६
जायसी का पद्मावत	डा० गोविन्द त्रिगुणायत,अशोक प्रकाशन, नई सड़क,दिल्ली ६
जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य	डा० सरला शुक्ल,लखनऊ,विश्वविद्यालय,लखनऊ संवत् २०१३
तत्त्वदीपिका निर्णय	ज्ञानसागर-प्रेस बम्बई
तत्त्वदीप निर्बंध	ज्ञानसागर प्रेस,बम्बई
तांत्रिक वांग्मय में शाक्त दृष्टि	महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज,राष्ट्रभाषा परिषद्,बिहार ।
तुलसी और उनका युग	डा० राजपति दीक्षित,हिन्दी विभाग,ज्ञान मं० लिमिटेड,बनारस,प्रथम संस्करण,२००९
तुलसी दर्शन	डा० बलदेवप्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग,सं० २००५ वि०
तुलसी दर्शन मीमांसा	डा० उदयभानु सिंह, लखनऊ विश्वविद्यालय,प्रथम संस्क०,२०१८
दर्शन-दिग्दर्शन	राहुल सांकृत्यायन,किताब महल,इलाहाबाद, १९४४ ई०

दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता	वेंकटेश्वर प्रेस,बम्बई,संस्क० संवत् १६८८
ध्यान संप्रदाय	भरत सिंह उपाध्याय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
मानक-वाणी	डा० जयराम मिश्र,मित्र प्रकाशन,प्रा०लि०, इलाहाबाद
निम्बार्क माधुरी	सं० ब्रह्मचारी बिहारी शरण, वृंदावन सं० १९९६
प्रेमभक्ति योग	देवदास महाराज,डाकोर
पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास	डा० अवधबिहारी पाण्डेय
बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन	भरत सिंह उपाध्याय, बंगाल हिन्दी मंडल, कलकत्ता, सं० २०११
भक्तमाल,टीका० भक्तिरस बोधिनी	टीका० प्रियादास,वेंकटे०प्रेस,बम्बई,सं० १६६७
भक्ति आन्दोलन का अध्ययन	डा० रतिभानु सिंह नाहर,किताब महल,इलाहाबाद प्रथम संस्करण,१६६५
भक्ति का विकास	डा० मुंशीराम शर्मा, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी,१६५८
भक्ति रहस्य	स्वामी विवेकानन्द
भागवत सम्प्रदाय	पं० बलदेव उपाध्याय, हिन्दी विश्वविद्यालय, काशी
भारतीय दर्शन	महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र
भारतीय संस्कृति और साधना	महामहोपाध्याय पंडित,गोपीनाथ कविराज, बिहार राष्ट्रभाषा परि०,पटना,सं० २०१०
भारतीय साधना और सूर साहित्य	डा० मुंशीराम शर्मा, आचार्य शुक्ल,साधना सदन, कानपुर, प्र०सं० २०१०वि०
मध्यकालीन धर्म साधना	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन लि० इलाहाबाद, प्र०सं० १६५१ ई०
मध्यकालीन प्रेम साधना	परशुराम चतुर्वेदी,साहित्य भवन लि०,इलाहाबाद

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति	गौरीशंकर हीराचन्द ओझा,हिन्दुस्तानी एकेडेमी,इलाहाबाद,१६३१
मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद	डा० कपिलदेव पाण्डेय,चौखम्भा विद्या भ०, वाराणसी,सं० २०२०
मध्ययुगीन काव्यसाधना	डा० रामचन्द्र तिवारी विश्वविद्यालय प्रका०, गोरखपुर,वाराणसी,प्र०सं० १६६२
महारामायण	
मानस माधुरी	डा० बलदेवप्रसाद मिश्र - साहित्यरत्न भंडार, आगरा,प्र०सं० १६५६ ई०
मानस की रूसी भूमिका	अनु० डा० केसरीनारायण शुक्ल
मानस पीयूष (भाग ७)	संपा० श्री अंजनीनन्दनशरण,गीताप्रेस,गोरखपुर, चतुर्थसं०,संवत् २०१८
मीराबाई	डा० प्रभात, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर प्रा०लि०,बम्बई प्रथम संस्करण,१६६५
मीरा स्मृतिग्रन्थ	प्रका० बंगीय हिन्दी परिषद, जन भारतीय, भाग २,कलकत्ता, २००६ वि०
मुक्ताफल	
मेडिवल इण्डिया	डा० ईश्वरीप्रसाद
राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त	
वीर साहित्य	डा० विश्वेन्द्र स्नातक,नेशनल पब्लि०हा०,दिल्ली, प्र०सं० २०१४
रामकथा	डा० फादर कामिलबुल्के,हिन्दी परि०प्रका०, प्रयाग विश्वविद्यालय, तृतीय सं० १६७१ ई०
रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय	डा० भगवतीप्रसाद सिंह, अवध साहित्य मंदिर, बलरामपुर
रामभक्तिशाखा	डा० रामनिरंजन पाण्डेय,नवहिन्दी पब्लि०,प्र० संस्करण १६६०
रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव	डा० बदरीप्रसाद श्रीवास्तव,हिन्दी वि०वि०,प्र०सं०१६५७

रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैतिक भक्तिदर्शन	डा० सरनामसिंह अरुण, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, १९५७
वैदिक दर्शन	डा० फतह सिंह
संत मत में साधना का स्वरूप	प्रताप सिंह चौहान, प्रत्यूष प्रका०, कानपुर १९७१
संत साहित्य	डा० सुदर्शन सिंह मजीठिया, रूप कमल प्रका०, दिल्ली, प्रथम सं० १९६२
संतबाणी संग्रह	बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद
संत वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव	डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, विनोद पु०मं०, आगरा, प्र०सं० १९६२
संस्कृति के चार अध्याय	रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल प्रकाशन, पटना।
सहज साधना	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यप्रदेश शासन, साहित्य परिषद, भोपाल, प्र०सं०
सिद्ध साहित्य	डा० धर्मवीर भारती, किताब महल, प्रयाग, १९५५
सूर और उनका साहित्य	डा० हरवंशलाल शर्मा, भारत प्रका०मंदिर, अलीगढ़, संशोधित संस्करण
सूर की काव्यकला	डा० मनमोहन गौतम, हिन्दी अनुसंधान परिषद, दिल्ली, विश्वविद्यालय, भारतीसाहित्य मंदिर, १९५८ ई०
सूरदास	डा० ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय प्रका०, प्रयाग, द्वितीय सं० १९५०
हिन्दी काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि	विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, साहित्यरत्न भंडार, आगरा, प्रथम संस्क०, सं० २०१२
हिन्दी काव्य की निर्गुणधारा में भक्ति	डा० श्यामसुन्दर शुक्ल, काशी, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय	डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
हिन्दी की निर्गुणकाव्यधारा और उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि	डा० गोविन्द त्रिगुणायत, साहित्य निकेतन, कानपुर, प्रथम संस्क०, १९६१
हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि	डा० प्रेमसागर जैन

हरिभक्तिरसामृतसिन्धु	रूप गोस्वामी, संपा० विजयेन्द्र स्नातक, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
हिन्दी साहित्य (भाग २)	संपा० डा० धीरेन्द्र वर्मा, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग ।
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डा० रामकुमार वर्मा, रामना०, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, १९४८ ई०
हिन्दी साहित्य का इतिहास	डा० जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव तथा हरेन्द्रप्रताप सिन्हा
हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास	संपा० डा० राजबली पाण्डेय (भाग१), नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
हिन्दी साहित्य की भूमिका	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर बम्बई ।
हिन्दी साहित्य कोश	संपा० डा० धीरेन्द्र वर्मा
हिन्दी सूफी कवि और काव्य	डा० सरला शुक्ला

संस्कृत

ऋग्वेद			
यजुर्वेद			
सामवेद			
बृहदारण्यकोपनिषद	सानुवाद- शांकर भाष्य सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर		
ईशावास्योपनिषद्	व्याख्याकार- हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस, गोरखपुर		
केनोपनिषद्	,,	,,	,,
कठोपनिषद्	,,	,,	,,
प्रश्नोपनिषद्	,,	,,	,,
मुण्डकोपनिषद्	,,	,,	,,
माण्डूक्योपनिषद्	,,	,,	,,

ऐतरेय उपनिषद्	व्याख्याकार-हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीता-प्रेस, गोरखपुर
तैत्तिरीयोपनिषद्	,, ,, ,,
श्वेताश्वतरोपनिषद्	,, ,, ,,
शतपथ ब्राह्मण	
कौशीतकि ब्राह्मण	
श्रीमद्भागवत	गीताप्रेस, गोरखपुर
विष्णुपुराण	,, ,,
स्कंध पुराण	,, ,,
पद्म पुराण	,, ,,
ब्रह्मवैवर्तपुराण	,, ,,
अग्निपुराण	,, ,,
नारदभक्ति सूत्र	हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर
शाण्डिल्य भक्ति सूत्र	गीताप्रेस, गोरखपुर
श्रीमद्भगवद्गीता	,, ,,
अणु भाष्य	बनारस संस्कृत सीरीज प्रकाशक- बृजवासीदास एण्ड कंपनी
तत्वदीप निबंध	शास्त्रार्थ व भागवतार्थ प्रकरण- श्रीवल्लभाचार्य, प्र० पं० श्रीधर शिवलाल जी, ज्ञानसागर प्रेस, बम्बई, सं० १९६१ संवत्
भक्तिमाल भक्ति सुधा	(नाभादास) नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, संस्क० १९२२
अष्टाध्यायी	पाणिनि वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९८५
अध्यात्म रामायण	(हिन्दी अनुवाद सहित) गीताप्रेस, गोरखपुर
वाल्मीकि रामायण	गीताप्रेस, गोरखपुर
हरिभक्ति रसामृतसिंधु	रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी की दुर्गम संगमनी टीका सहित-संपा० रामनारायण विद्यारत्न
श्रीभाष्य	श्री रामानुजाचार्य
षड्दर्शन रहस्य	ले० पं० रंगनाथ पाठक

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य भाषानुवाद
तत्व-सन्दर्भ-जीव गोस्वामी
तत्वदीपिका
महाभारत गीताप्रेस गोरखपुर।
श्रीवैष्णवमताब्ज-भास्कर
अध्यात्म बत्तीसी बनारसीदास, बनारसी विलास, जयपुर
मनुस्मृति
योगदर्शन

पत्र-पत्रिकायें :-

१. साधना अंक, गीताप्रेस, गोरखपुर
२. संतवाणी अंक, गीताप्रेस, गोरखपुर
३. उपासना अंक, गीताप्रेस, गोरखपुर
४. भगवन्नाम महिमा और प्रार्थना अंक-गीता प्रेस, गोरखपुर
५. उपनिषद् अंक
६. आकाशवाणी से प्रसारित छः वार्ताओं का संकलन।

ENGLISH

1. Encyclopaedia Britanica - Vol.V.

2. Encyclopaedia of Religion & Ethics.

3. Garland of Letters.

   : Avon :

4. Medieval Mysticism of India.

   : S.Sen :

5. Mysticism : Old & New.

   : Arthur W. Hopkinson :

6. Mysticism of Maharashtra.

   : R.D. Ranade :

7. Outline of Religious Literature.

   : Farquhar :

8. Pathway to God in Hindi Literature ; 1954.

9. Philosophy of Vaishnava Religion-Lahore, 1923.

   : G.N. Mullick.

10. Uphotavada - Preface - VII.

   : Nage'sa Bhatta :

11. The Mystic Philosophy of the Upanishadas.

   : Srish Chandra Sen :

12. The Philosophy of Words & Meaning.

   : Gauri Nath Shastri :

Contd...2/-

13. Vallabacharya : Life, Teaching & Movements.

: Manilal. C. Parekh. :

14. Vaishnavism-Shaivism and other minor religious Systems.

: R.D. Ranade :